श्री चिरंजीलाल एकाकी, बी० ए०
प्रोप्राइटर
प्रतिभा-प्रकाशन-मन्दिर
द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण—वैशाख २००३
द्वितीय संस्करण—ज्येष्ठ २००६
मूल्य ४।)

विषयानुक्रम

अपना दृष्टिकोण

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम ।
सन्तः परीक्षान्तरद्भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

भारतवर्ष आजकल की विघातक सभ्यता के वैज्ञानिक चमत्कारों के प्रदर्शन में अन्य देशों की बराबरी चाहे न कर सका हो किन्तु जहाँ तक हृदय और आत्मा की पुष्टि और तुष्टि करने वाले साहित्य और दर्शन का क्षेत्र है वहाँ वह किसी देश से पीछे नहीं कहा जा सकता। इन दोनों क्षेत्रों में उसने जो उन्नति की है उसको देख कर मस्तक गर्वोन्नत हो जाता है। हमारे देश के कवियों ने ऐसे उत्तमोत्तम काव्य और नाटकों का केवल सृजन ही नहीं किया, जिनके दिव्य आलोक के सामने पाश्चात्य साहित्यकारों की भी प्रतिभा फीकी सी दिखाई देने लगती है, वरन् हमारे आचार्यों ने साहित्यिक सिद्धान्तों का भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन और विश्लेषण कर देश की नैसर्गिक दार्शनिक प्रतिभा का परिचय दिया है। हिन्दी के आचार्यों ने यदि उस परम्परा को बहुत आगे नहीं बढ़ाया है तो उसको जीवित रखने तथा रम्यता प्रदान करने में अवश्य सहायता दी है।

वर्तमान युग में हमने पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आकर उनसे यत्किञ्चित सृजनात्मक प्रेरणा ग्रहण की है। इसके अतिरिक्त वहाँ के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना सम्बन्धी ग्रन्थों ने हमारे साहित्यिक चिन्तन में भी योग दिया है। कुछ दिनों तक हम उन ग्रन्थों की चकाचौंध में आकर अपने देश की सम्पत्ति की ओर दृष्टिपात करना भी भूल गये थे और बात-बात में उनकी ही दुहाई देते थे किन्तु पिछले बीस-पचास वर्षों से एस० के० दे, काणे, कीथ, दास-गुप्त, शंकरन, राघवम् प्रभृति कतिपय अंग्रेजी पढ़े देशी और विदेशी विद्वानों ने अपनी साहित्य-सिद्धान्त सम्बन्धी निधि की ओर बड़ी सावधानी के साथ ध्यान देना आरम्भ किया है। हिन्दी में भी यह प्रवृत्ति आचार्य शुक्लजी, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार प्रभृति मनीषियों के सत्-परिश्रम के फल-स्वरूप जाग्रत हो चुकी है। मेरी यह पुस्तक भी उसी दिशा में एक लघु प्रयत्न है। यद्यपि प्रत्येक नवीन सिद्धान्त को प्राचीनकाल की छाया-मात्र कहने के पक्ष में मैं नहीं हूँ तथापि मैं यह समझता हूँ कि भारतीय मनीषियों ने जो सैद्धान्तिक चिन्तन किया है वह किन्हीं अंशों में तो नवीन सिद्धान्तों से आगे

बढ़ा हुआ है और कम से कम उसके साथ टक्कर लेने में समर्थ है। उसके आधार पर आज-कल का सा समीक्षा-शास्त्र रचा जा सकता है, इसी ध्येय को चरितार्थ करना मेरा लक्ष्य रहा है। हमको अपने देश की साहित्यिक मनीषा पर गर्व है, साथ ही हम इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि पाश्चात्य-समीक्षा सिद्धान्तों ने अपने देश के सिद्धान्तों के समझने में हमारी बहुत-कुछ सहायता की है। पाश्चात्य सिद्धान्तों से जो आलोक मिला है, उसको मैंने बिना संकोच के अपनाया है किन्तु जहाँ पाश्चात्य सिद्धान्तों में मौलिक भेद है, जैसे काव्यानन्द के आध्यात्मिक पक्ष में, उसकी उपेक्षा नहीं की गई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास, श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' प्रभृति विद्वानों ने भारतीय परम्परा को आगे बढ़ाने का जो प्रयत्न किया है, उनकी देन का भी यथोचित मूल्यांकन किया गया है। जहाँ उनसे मतभेद रहा है (जैसे, आचार्य शुक्लजी से काव्य का कलाओं के साथ सम्बन्ध मानने में, क्रोचे की आलोचना में, व्यञ्जना के महत्त्व आदि विषयों में अथवा डा० श्यामसुन्दरदासजी के साधारणीकरण और मधुमती भूमिका के समीकरण में) उसको प्रकट करने में मैंने संकोच नहीं किया है, किन्तु उन आचार्यों से मतभेद होने का मुझे वास्तविक खेद अवश्य है। उनसे मैंने बहुत-कुछ सीखा है, और यदि विषय और उसके अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के साथ न्याय करने का प्रश्न न होता तो 'दोषा वाच्या गुरोरपि' की भी शरण न लेता।

मैंने इस पुस्तक में यही प्रयास किया है कि प्राचीन सिद्धान्तों पर थोड़ा सा नवीन आलोक डालूँ और उसके साथ कुछ नवीन सिद्धान्तों का भी समावेश कर हिन्दी के पाठकों को साहित्य-समीक्षा के मोटे-मोटे सिद्धान्तों से परिचित करा सकूँ, और वे पाश्चात्य-समीक्षा के भारतीय रूपों से भी परिचित हो जायँ। शैली का ही प्रश्न लीजिए, अँगरेजी में शैली के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया है, किन्तु भारत में भी रीति, गुण दोषों और शब्द-शक्तियों के रूप में वे ही बातें मिल जाती हैं। मैंने उन प्राचीन रूपों में नवीन रूपों की झलक दिखलाने का उद्योग किया है।

इस पुस्तक के कुछ निबन्ध तो वास्तव में निबन्ध कहे जा सकते हैं, और कुछ शास्त्रीय सिद्धान्तों की व्याख्या मात्र है। मेरे सामने यह समस्या थी कि मैं निबन्धों में अपने वैयक्तिक दृष्टिकोण को महत्ता दूँ या शास्त्रीय दृष्टिकोण को। मैंने शास्त्रीय दृष्टिकोण के सहारे ही अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करना चाहा है। अपने पूर्वजों के ज्ञान से पाठकों को वञ्चित रखना मैंने

उचित नहीं समझा है। कबीर की भाँति बहुत गहरे पानी मे न बैठ कर इस सिद्धान्तसागर के किनारे पर ही जो रत्न सौभाग्यवश मेरे हाथ लग गये हैं, मैंने उनको पाठको के सामने रख दिया है। बहुत गहरे पैठने मे दम-सा घुटने लगता है, इसीलिए मैं यथासम्भव साधारण-विचार-भूमि मे ही साँस लेता रहा हूँ।

इस पुस्तक के अस्तित्व मे आने का श्रेय मेरे दो आत्मीय व्यक्तियों को है, उनमे एक श्री नगेन्द्रजी हैं और दूसरे श्री एकाकीजी, दोनो ही सज्जन मुझसे केवल थोड़ी सी साहित्यिक प्रेरणा ग्रहण करने के कारण अपने शील और सौजन्यवश मुझे गुरु होने का गौरव देते हैं। श्री नगेन्द्रजी के इस वाक्य ने कि मैंने अपनी प्रतिभा का पूर्ण लाभ अपने पाठको को नहीं दिया है, मुझे बौद्धिक उत्तेजना दी, किन्तु श्री एकाकीजी की इस इच्छा ने कि वे सरस्वती-पूजा के सोपान-स्वरूप प्रकाशन के कार्य को अपनाना चाहते हैं और वे मेरी ही पुस्तक से श्रीगणेश करना श्रेयस्कर समझते हैं, मेरे मानसिक शैथिल्य के लिए कोई गुञ्जाइश न छोड़ी। इन के अतिरिक्त उन महानुभावो का भी जिनकी पुस्तकों से मैंने सहायता ली है मैं कृतज्ञ हूँ।

प्रथम संस्करण को जिस उदारता से पाठकों ने अपनाया है उसके लिए मैं उनका विशेष आभारी हूँ। इस संस्करण मे कोई विशेष परिवर्तन नहीं कर रहा हूँ। आवश्यक संशोधन के अतिरिक्त अध्यायों के क्रम में कुछ उलटफेर कर दिया है। रस निष्पत्ति, साधारणीकरण, अभिव्यञ्जनावाद जैसे कठिन विषयो को कुछ पीछे रख दिया है। इस क्रम-परिवर्तन से विद्यार्थियो को अधिक सुविधा होगी।

दिल्ली दरवाजा, आगरा।
जेष्ठ शुक्ला १०, सं० २००६

गुलाबराय

सिद्धान्त और अध्ययन

काव्य की आत्मा

शब्द और अर्थ को काव्य का शरीर कहा गया है, ये दोनों ही अभिन्न से हैं—अर्थ के बिना शब्द का कुछ मूल्य नहीं, वह डमरू के डिम-डिम से भी कम मूल्य रखता है (डमरू के डिम डिम से महर्षि पाणिनि द्वारा प्रतिपादित माहेश्वर सूत्रों का तो जन्म हुआ था) और शब्द के बिना अर्थ का मानव मस्तिष्क में भी कठिनाई से निर्वाह होता है। इसीलिए तो शब्द और अर्थ की एकता को पार्वती-परमेश्वर की एकता का उपमान बता कर कवि-कुल-गुरु कालिदास ने अपने अमर काव्य रघुवंश के प्रथम श्लोक* द्वारा, इस अटूट सम्बन्ध को महत्ता प्रदान की थी। शब्द के साथ अर्थ का लगाव है और अर्थ के साथ शब्द का, एक के बिना दूसरे की पूर्णता नहीं इसीलिए दोनो मिल कर ही काव्य का शरीरत्व सम्पादित करते हैं।

यद्यपि बिना शरीर के आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित करना दर्शनशास्त्रियों की बुद्धि-परीक्षा का विषय बन जाता है तथापि आत्मा के बिना शृङ्गार की आलम्बनस्वरूपा ललित लावण्यमयी अाङ्गनाओं के कोमल-कान्त-कमनीय कलेवर भी हेय, त्याज्य और वीभत्स के स्थायीभाव घृणा के विषय बन जाते है। इसीलिए हमरे यहाँ के आचार्यों ने काव्य की आत्मा को विशेष रूप से अपनी मनीषा और समीक्षा का विषय बनाया है। इस आत्मा सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर पर काव्य का स्वरूप और उसकी परिभाषा निर्भर है और काव्य की आलोचना भी इससे बहुत अंशो मे प्रभावित होती है। इस सम्बन्ध मे प्रायः पाँच संप्रदायों का उल्लेख होता है। वे इस प्रकार हैं—

---

*वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

	सम्प्रदाय	आचार्य
१	अलङ्कार सम्प्रदाय	दण्डी, भामह, उद्भट आदि
२	वक्रोक्ति सम्प्रदाय	कुन्तल वा कुन्तक
३	रीति सम्प्रदाय	वामन
४	ध्वनि सम्प्रदाय	ध्वनिकार और आनन्दवर्धन
५	रस सम्प्रदाय	भरत मुनि, विश्वनाथ

अब इन सम्प्रदायों का पृथक-पृथक वर्णन किया जायगा। यह विवेचन रस को ही काव्य की आत्मा मानकर चलेगा और इसके ही सम्बन्ध में इनका मूल्याङ्कन किया जायगा।

अलङ्कार सम्प्रदाय—अलङ्कार शोभा को अलं अर्थात् पूर्ण वा पर्याप्त करने के कारण अलङ्कार कहलाते हैं। अलङ्करण की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक है। इसके उसके आत्मभाव और गौरव की वृद्धि होती है। यद्यपि अलङ्कार बाहरी साधन होते हैं तथापि उनके पीछे अलंकृति-कार की आत्मा का उत्साह और ओज छिपा रहता है। बाहरी होने के कारण अलङ्कारों पर ही पहले दृष्टि जाती है; इसीलिए अलङ्कार-शास्त्र के इतिहास के प्रारम्भिक काल मे अलङ्कारों का कुछ अधिक महत्त्व रहा है। इस शास्त्र का अलङ्कार-शास्त्र के नाम से अभिहित होना ही अलङ्कारों की महत्ता का द्योतक है। कुछ आचार्यों ने इनको काव्य के लिए अनिवार्य माना है। दण्डी ने अलङ्कारों को शोभा का कारण बताया है।

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्करान् प्रचक्षते

चन्द्रालोककार ने तो यहाँ तक कह डाला कि यदि कोई काव्य को अलङ्कार रहित मानता है तो अपने को पण्डित मानने वाला वह व्यक्ति अग्नि को उष्णताहीन क्यों नहीं कहता ?

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥

यहाँ पर अनलंकृती मे यमक का चमत्कार है पहली पंक्ति मे अनलंकृती का अर्थ है अलङ्कार-रहित और दूसरी पंक्ति मे अनलं और कृती अलग-अलग हैं, अनलं का अथ अग्नि है और कृती का अर्थ है कार्य शील विद्वान। भामह ने कहा है।

'न कान्तममपिनिर्भूषं विभाति वनितामुखम्'

कि वनिता का सुन्दर मुख भी भूषण बिना शोभा नहीं देता है। इसी सुर में सुर मिलाते हुए हमारे केशवदासजी ने भी कहा है—

जदपि सुजाति सुलच्छणी, सुवरन सरस सुवृत्त।
भूपण बिनु नहिं राजई, कविता वनिता मित्त॥

ऐसे आचार्यों ने विशेषकर केशव ने अलङ्कार शब्द का अर्थ बहुत विस्तृत कर दिया है। केशव ने अलङ्कारों में वर्ण्य विषय भी शामिल कर लिये हैं। आचार्य वामन ने गुणों को शोभा के कारण माना है और अलङ्कारों को शोभा को अतिशयिता देने वाला या बढ़ाने वाला कहा है। यह बात नीचे के अवतरण से स्पष्ट हो जायगी—

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः।
तदतिशयहेतवसत्वलङ्काराः।

जब गाँठ की शोभा होती है तभी अलङ्कार उसे बढ़ा सकते हैं अथवा यों कहिए कि शोभावान वस्तुओं के साथ ही अलङ्कार सार्थक होते हैं। दण्डी ने इनको शोभा का कर्त्ता माना है।

जब तक अलङ्कार भीतरी उत्साह के द्योतक होते हैं तब तक तो वे शोभा के उत्पन्न करने वाले या बढ़ाने वाले कहे जा सकते हैं किन्तु जब वे रूढ़ि या परम्परामात्र रह जाते हैं तभी वे भाररूप दिखाई देने लगते है। अलङ्कारों का महत्व अवश्य है किन्तु वे मूल पदार्थ का स्थान नहीं ले सकते हैं। अग्नि पुराण में रस को काव्य का जीवन लिखा है—

वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रसएवात्रजीवितम्

किन्तु उसी ग्रन्थ में अर्थालङ्कार प्रसङ्ग में यह भी कहा है कि—

अर्थालंकाररहिता विधवेव सरस्वती

इस बात को स्वीकार करते हुए भी हमको यह कहना पड़ेगा कि निर्जीव से विधवा होकर भी जीवित रहना श्रेयस्कर है (प्राचीन आदर्शों के अनुकूल ऐसा नहीं है।) स्वाभाविक शोभा के होते हुए उसके लिए कोई वस्तु भी अलङ्कार बन जाती है—

सरसिज लगत सुहावनो यदपि लियो ढकि पंक।
कारी रेख कलंक हू लसति कलाधर अंक॥
पहरे बल्कल बसन यहं लागति नीको बाल।

कहा न भूषन होय जो रूप लिख्यो विधि भाल ॥*

इसीलिए तो बिहारी ने अलङ्कारों का तिरस्कार करते हुए उन्हें दर्पण के से मोर्चे कहा है। फिर भी अलङ्कार नितान्त बाहरी नहीं है, जो जब चाहे पहन लिये जाँय या उतार कर रख दिये जाँय। वे कवि या लेखक के हृदय के उत्साह से साथ बँधे हुए हैं। हमारी भाषा की बहुत-कुछ सम्पन्नता अलङ्कारों पर ही निर्भर है। वे महात्मा करण के कवच और कुण्डलों की भाँति सहज होकर ही शक्ति के द्योतक बनते हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि क्या अलङ्कार और अलङ्कार्य में भेद नहीं है। इटेली के अभिव्यञ्जनावादी समालोचक क्रोचे (Croce) अलङ्कार्य और अलङ्कार का भेद स्वीकार नहीं करते हैं। वे अलङ्कारों को ऊपर से आरोपित नहीं मानते। 'यह चादर सफेद है,' यह एक वाक्य है। जब हम यह कहते है कि यह चादर दुग्ध-फेन सम श्वेत है तब हम पहले वाक्य पर कोई नया आरोप नहीं करते वरन् एक नया वाक्य ही रचते है। नया वाक्य एक नये प्रकार की अभिव्यक्ति का द्योतक होता है। हमारे यहाँ आचार्यों ने अलङ्कार और अलङ्कार्य का भेद माना है किन्तु यह भेद ऐसा ही है जैसा कि अङ्गी और अङ्ग का होता है। तरंगें समुद्र की होती हैं, समुद्र तरंग का नहीं होता। कुन्तक ने स्वभावोक्ति को अलङ्कार नहीं माना है क्योंकि वह अलङ्कार्य है। अलङ्कार्य और अलङ्कार का भेद मानते हुए भी हमे उनको बिल्कुल ऊपरी न मानना चाहिए। वस्तु के भीतर की चीज भी उसका अलङ्कार हो सकती है, जैसे फूल वृक्ष के अलङ्कार कहे जा सकते हैं।+ कविता का सौन्दर्य अलङ्कार और अलङ्कार्य की पूर्णता मे है। 'पयसा कमलं कमलेन पयः पयसा कमलेन विभाति सरः' का मा अलङ्कार अलङ्कार्य

---

*ये पंक्तियाँ राजा लक्ष्मणसिंह कृत शकुन्तला नाटक के निम्नोल्लिखित श्लोक का पद्यानुवाद है :

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

+क्रोचे ने अलङ्कारों को अभिव्यक्ति का अङ्ग और पूर्ण से पृथक न किये जाने योग्य कहा तो है किन्तु वे फूल की भाँति अलग दिखाई दे सकते हैं।

और पूरे काव्य का सम्बन्ध है। इसीलिए कुन्तक ने पहले तो अलङ्कार और अलङ्कार्य का अन्तर आवश्यक माना है। यदि शरीर को ही अलङ्कार कहा जाय तो वह किसी दूसरी वस्तु का अलङ्करण कैसे करेगा? वह तो अलङ्कार्य है। क्या कोई स्वयं अपने कन्धे पर चढ़ सकता है?

शरीरं चेदलङ्कारः किमलङ्कुरुतेऽपरम्।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति॥

दोनों का भेद सुविधा के लिए व्यावहारिक रूप से मानना पड़ेगा किन्तु वास्तव मे अलङ्कार सहित पूर्ण रचना को ही काव्य कहेंगे। कुन्तक के अनुकूल काव्य के भीतर ही अलङ्कारों को पृथक किया जायगा। देखिए—

अलङ्कृतिरलङ्कार्यमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायतया तत्त्वं सालङ्कारस्य काव्यता॥

अलङ्कार कृत्रिम या आरोपित हो सकते हैं और होते भी हैं किन्तु महत्त्व कवि के हृदगत उत्साह से प्रेरित सहज अलङ्कारों का ही है। वे ही रस के उत्कर्ष के हेतु बन सकते हैं।

ध्वनिकार ने अलङ्कारों का रस से सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है कि वे ही अलङ्कार काव्य में स्थान पाने योग्य है जो रस-परिपाक मे बिना प्रयास के सहायक हों। वैसे भी रस और अलङ्कार दोनों एक दूसरे की पुष्टि करते आये है। हमारे यहाँ अलङ्कारो मे जो वर्ण्य-विषय मिले हुए है वे रस से ही किसी न किसी रूप से सम्बन्ध रखते हैं। रसवत अलङ्कार तो इस संज्ञा मे आयगा ही। कभी-कभी सूक्ष्म और पिहित आदि अलङ्कार केवल क्रिया-चातुर्य या वाक्-चातुर्य के द्योतक न होकर रस के किसी अङ्ग से ही सम्बन्धित रहते है। सूक्ष्मालङ्कार प्रायः शृङ्गार का ही विषय बनता है। उसका प्रयोग प्रायः वचन विदग्धा या क्रिया विदग्धा नायिकाओं द्वारा ही होता है। वक्रोक्ति प्रायः हास्यरस मे सहायक होती है। अभिसारिका नायिकाओ की गति-विधि मे मीलित और उन्मीलित अलङ्कारों के उदाहरण मिल जाते है। नीचे के उदाहरण मे शुक्लाभिसारिका द्वारा मीलित अलङ्कार चरितार्थ हो रहा है। देखिए—

जुवति जोन्ह में मिलि गई, नैक न होति लखाइ।
सौंधे के डोरे लगी, अली, चली संग जाइ॥

अतिशयोक्ति, विभावना, प्रतीप, उत्प्रेक्षा आदि सभी अलङ्कार कवि के हृदय में उपस्थित उपमेय को प्रधानता देने की भावना के द्योतक हैं। अनुप्रास अपनी-अपनी वृत्तियों के अनुकूल रसों मे सहायक होते है। अलङ्कार अर्थ-व्यक्ति में भी सहायक होकर रस का उत्कर्ष बढ़ाते हैं।

अलङ्कारवादी रस की नितान्त अवहेलना नहीं करते। वे रसवत और प्रेयस अलङ्कारों द्वारा रस और भाव के अस्तित्व को स्वीकार करते है। रस को रस के लिए नहीं वरन् चमत्कार बढ़ाने में सहायक होने के कारण अलङ्कार के रूप मे ग्रहण करते है। सारांश यह है कि अलङ्कार नितान्त बाहरी न होते हुए भी अङ्गी का स्थान नहीं ले सकते है। रसों को रसवत अलङ्कार के अन्तर्गत करना अपने मनोराज्य के मोदकों से भूख बुझाना मात्र है। चमत्कार मात्र स्वयं साध्य नहीं हो सकता है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय—इसके प्रधान आचार्य कुन्तक है। वक्रोक्ति शब्द दो अर्थों मे व्यवहृत होता है, एक अलङ्कार विशेष के रूप मे और दूसरा उक्ति की वक्रता वा असाधारणता के रूप मे। वक्रोक्ति अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ पर कि श्रोता श्लेष या काकु (कंठ-ध्वनि) के आधार पर वक्ता के अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ लगा कर उसका उत्तर देने का चमत्कार दिखाता है, जैसे:—

अयि गौरवशालिनि ! मानिनि आज सुधास्मिति क्यो बरसाती नहीं?
निज कामिनि को प्रिय ! गौ अवशा अलिनी कभी कहि जाती कहीं।

यहाँ पर महादेवजी ने तो सम्मान देने के लिए पार्वतीजी से गौरवशालिनि कहा था, किन्तु उन्होंने इस पद को भंग करके गौः + अवशा + अलिनि) इसका दूसरा ही अर्थ लगा लिया।*

कुन्तक ने वक्रोक्ति को व्यापक अर्थ में लिया है। उस अर्थ मे वह सब अलङ्कारों की माता बन जाती है 'कोऽलङ्कारोऽनया विना' उन्होंने उसे कविकौशल द्वारा प्रयुक्त विचित्रता कहा है 'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भङ्गी भणितिरुच्यते' विचित्रता के लिए 'विच्छित्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है। कवि कुछ असाधारण बात कहता है। वह वायु को

* लेखक के नवरस मे पाण्डुलिपि की अव्यवस्था के कारण वक्रोक्ति का अर्थ केवल अलङ्कार रूप से ही छपा है।

वायु न कह कर स्वर्ग का उच्छ्वास कहेगा। कमल को कमल कह कर उसको सन्तोष न होगा, वरन् वह ऐसी कल्पना करेगा कि जल मानो सहस्त्र नेत्र होकर आकाश की शोभा को देख रहा है। कथा प्रसङ्ग आदि को कल्पना द्वारा बदल कर मनोरम बना लेने को भी वक्रता के अन्तर्गत माना है; इसको उन्होंने प्रकरण वक्रता कहा है। महाभारत की शकुन्तला की कथा को कालिदास ने बदल दिया है। यह प्रकरण वक्रता का अच्छा उदाहरण है। अलङ्कार वाक्य वक्रता मे आते हैं। ध्वनि को भी पर्याय और उपचार वक्रता के भीतर लाया गया है। इस सम्बन्ध मे रुय्यक का कथन है 'उपचार वक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृत एवं' आचार्य शुक्लजी ने वाल्मीकीय रामायण से वक्रोक्ति का जो उदाहरण दिया है (न स संकुचितः पन्था येन बाली हतो गतः अर्थात् वह रास्ता संकुचित नहीं है जिससे बालि गया है अर्थात् सुग्रीव भी मृत्यु पथ पर जा सकता है) वह उक्ति का वैचित्र्य है। वह वक्रता अवश्य है किन्तु उसे केवल मात्र उदाहरण न समझना चाहिए। वक्रता अनेको प्रकार की होती है। कुन्तक द्वारा दी हुई काव्य की परिभाषा इस प्रकार है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितो काव्यं तद्विदाल्हादकारिणि॥

इनके मत से कविता मे शब्द और अर्थ दोनों का महत्त्व है। दोनों मे कवि का वक्रता सम्बन्धी कौशल अपेक्षित है। शब्द और अर्थ दोनो को सुगठित और सुसम्बद्ध होना आवश्यक है। कुन्तक ने काव्य मे तद्विद् अर्थात् सहृदयो को आह्लाद देने का गुण भी स्वीकार किया है। इस परिभाषा मे रस, रीति एवं गुण (बन्धेव्यस्थितो) और अलङ्कार तीनो को स्थान मिल जाता है। किन्तु कुन्तक के विवेचन में मुख्यता अलङ्कारों की है। फिर भी वक्रोक्तिवाद का अभिव्यञ्जनावाद से तादात्म्य करना ठीक नहीं है।❀

वक्रोक्तिकार ने यद्यपि अपनी परिभाषा को व्यापक बनाया है तथापि उनका झुकाव अलङ्कारो को ही मुख्यता देने की ओर दिखाई देता है। पुस्तक मे अलङ्कार अवश्य व्यापक अर्थ मे आया है। रस को भी कुन्तक ने वक्रोक्ति के साधक के रूप मे स्वीकार करते हुए

❀ इस सम्बन्ध मे लेखक का अभिव्जनावाद शीर्षक लेख पढ़िए।

दण्डी आदि की भाँति रसवत अलङ्कार के अन्तर्गत किया है। फिर भी कुन्तक ने रस की मुख्यता स्वीकार की है। जादू वही है जो सर पर चढ़ कर बोले। देखिए—

निरन्तररसोद्गारगर्भसौन्दर्यनिर्भराः।
गिरः कवीना जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ॥

कुन्तक ने काव्य मे कथा को मुख्यता न देकर रस को ही मुख्यता दी है। उसी के कारण कवियों की वाणी जीवत रहती है। चमत्कार वैचित्र्य और अलङ्कार सब में ही यह प्रश्न रहता है कि ये है किसलिए? उत्तर यही होता है—सहृदयों की प्रसन्नता के अर्थ।

रीति सम्प्रदाय—वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है

रीतिरात्मा काव्यस्य

और 'विशिष्ट पद रचना' को रीति कहा है। यह विशिष्टता गुणों में है और काव्य शोभा के उत्पन्न करने वाले धर्मों को गुण कहा गया है।

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणा.

गुण और रीति दोनो ही अन्त मे साध्य नहीं रहते वरन् शोभा के साधक बन जाते हैं। वामन ने अलङ्कारों के कारण काव्य की ग्राहकता बतलाई है।

काव्य ग्राह्यमलंकारात्'

किन्तु उन्होंने अलङ्कार को सौन्दर्य के व्यापक अर्थ मे माना है—'सौन्दर्यमलङ्कार'—रीति का सम्बन्ध गुणो से है और गुणों का सम्बन्ध काव्य की आत्मा रस से है। माधुर्य और प्रसाद गुणों का सम्बन्ध कोमल और कठोर (टवर्ग के तीसरे चौथे वर्णों के मीलित रूप, जैसे क्रुद्ध, युद्ध वग्घी) से लगाया जाता है किन्तु ये वर्ण गुणो से द्योतित मानसिक स्थितिविशेष के अनुकूल होते है। जैसे हृष्ट-पुष्ट शरीर में ही वीरता के भाव शोभा देते है (यह नहीं कि सब हृष्ट-पुष्ट वीर होते हैं) वैसे ही गुण मानसिक दशा के ही द्योतक होते हैं—माधुर्य मे चित्त को द्रुति का पिघलना या नीचे की ओर झुकना होता है, ओज मे अग्नि की भाँति ऊँचे उठने की मनोदशा होती है और प्रसाद मे चारों ओर फैलने या विस्तार की ओर झुकाव रहता है।*

---

*गुण और रीति के सम्बन्ध मे पुस्तक का शैली के शास्त्रीय आधार सम्बन्धी अध्याय भी पढ़िए।

वामन ने भी रसों को माना है किन्तु दण्डी आदि की भान्ति रसवत अलङ्कार के अन्तर्गत नहीं वरन् कान्ति गुण के सम्बन्ध मे उनका उल्लेख किया है। 'दीप्तरसत्वं कान्तिः' – रस के प्रभाव से वामन भी नहीं बचे हैं।

ध्वनि सम्प्रदाय– ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्य ध्वनिकार माने गये हैं और उनकी व्याख्या करने वाले आनन्दवर्धन को भी उतना ही महत्त्व दिया गया है, यहाँ तक कि कुछ लोग दोनो को एक ही मानते है। प्रोफेसर ए० शङ्करन ने अपनी पुस्तक Some aspects of literary criticism in Sanskrit में इसी पक्ष का समर्थन किया है। ध्वनिकार के पूर्व भी ध्वनि सम्प्रदाय के सिद्धान्त स्वीकृत थे और कहीं उनका विरोध भी हुआ है, ऐसा ध्वनिकार ने ही कहा है—

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैयः समाम्नातपूर्वस्तस्याभावं जगदुरपरे भक्तिमाहुरतमन्ये

ध्वनि क्या है? अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यञ्जना नाम की एक तीसरी शब्द-शक्ति मानी गई है। व्यञ्जना का अर्थ है— एक विशेष रूप से प्रभावशाली अञ्जन जिसके कारण एक नया अर्थ प्रकाशित होने लगता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी अञ्जन की महत्ता स्वीकार की है।

यथा सुअञ्जन आँजि दृग, साधक, सिद्ध, सुजान।
कौतुक देखहिं शैल वन, भूतल, भूरि निधान॥

व्यञ्जना के अञ्जन से भूतल का ही गुप्त खजाना नहीं वरन् हृदय-तल की निधि भी प्रकाशित हो जाती है।

लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ मे यही भेद है कि मुख्यार्थ के बाध होने पर लक्षणा का व्यापार चलता है किन्तु व्यञ्जना-व्यापार में मुख्यार्थ के बाध की आवश्यकता नहीं होती। वह अर्थ ऊपरी तह पर नहीं होता है परन्तु उसमे झलकता दिखाई देता है। जहाँ पर अभिधा का अर्थ व्यञ्जना से दब जाता है वहीं रचना ध्वनि कही जाती है।

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥—ध्वन्यालोक

इसी ध्वनि के चमत्कार के आधार पर काव्य की तीन श्रेणियाँ की गई हैं—'ध्वनिकाव्य' जिसमे अभिधार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ की

प्रधानता हो।* 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' जिसमे व्यङ्ग्यार्थ गौण हो गया हो अर्थात् वाच्यार्थ के बराबर या उससे कम महत्व रखता हो। तीसरा भेद है 'चित्रकाव्य' जिसमे बिना व्यञ्जना के भी चमत्कार होता है। यह ध्वनि सम्प्रदाय की उदारता है कि जिन काव्यों मे व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता न हो उनको भी काव्य की श्रेणी मे रक्खा है; चाहे वह निम्न श्रेणी ही क्यो न हो। ध्वनि में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता रहती है। वास्तव मे यह अर्थ का भी अर्थ है, इसमें थोड़े में बहुत का, अथवा एकता मे अनेकता का चमत्कार रहता है। क्षण-क्षण मे नवीनता धारण करने वाला सौन्दर्य वा रमणीयता का जो लक्षण है वही ध्वनि मे भी घटता है। केवल हाथ-पैर, नाक-कान से पूर्ण होना ही सौन्दर्य नहीं है। सौन्दर्य उससे ऊपर की चीज है—

ध्वनि उसी अवर्णनीय 'और कछु' मे आती है। ध्वनि को हो प्रतीयमान अर्थ भी कहते हैं। यह विभिन्न अवयवो के परे रहने वाले स्त्रियो के सौन्दर्य की भाँति महाकवियो की वाणी में रहती है।

ध्वनि मे काव्य के सौन्दर्य के एक विशेष एवं अनिर्वचनीय उपादान की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। यह साम्प्रदाय करीब-करीब रस सम्प्रदाय की बराबर ही लोक प्रिय हुआ है। मुक्तक काव्य के मूल्याङ्कन मे इसको विशेष मान मिला क्योंकि स्फुट पद्यो मे प्रायः ऐसा रस-परिपाक नहीं होता जैसा कि प्रबन्धान्तर्गत पद्यो मे अथवा नाटकों मे।

ध्वनि सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे भी यह कहा जा सकता है कि वह सौन्दर्योत्पादन और रस-सृष्टि मे प्रधानतम साधन है किन्तु रस का स्थान नहीं ले सकता। अलङ्कार, वक्रोक्ति, रीति और ध्वनि सब ही सौन्दर्य के साधन हैं। रमणीयता वा सौन्दर्य भी तो स्वयं अपने मे कोई अर्थ नहीं रखता, वह किसी सचेतन के लिए होता है और उसकी सार्थकता उसी को प्रसन्नता देने मे है। जङ्गल मे मोर नाचा किसने जाना? सौन्दर्य, सौन्दर्यास्वादक की अपेक्षा रखता है। सौन्दर्यास्वादन का अन्तिम फल है आनन्द। वही रस है। 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' आनन्द एक ऐसी संज्ञा है जिस पर रुक जाना पड़ता है। वह स्वयं ही साध्य है।

---

* इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः' काव्य-प्रकाश

समन्वय—काव्य के लिए भाव और अभिव्यक्ति दोनों ही अपेक्षित है। अलङ्कार, वक्रोक्ति, रीति और ध्वनि भी अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से अधिक सम्बन्धित है। अलङ्कार शोभा को बढ़ाते है, रीति शोभा का अङ्ग है किन्तु पूर्ण शोभा नहीं, वक्रोक्ति मे काव्य को साधारण वाणी से पृथक् करने वाली विलक्षणता पर अधिक बल दिया गया है किन्तु स्वाभाविकता और सरलता की उपेक्षा की गई है। कुन्तक ने स्वभावोक्ति को अलङ्कार नहीं माना है। 'मैया कबहि बाढ़ेगी चोटी' अथवा 'मैया दाऊ मोहि बहुत खिजावत' की स्वाभाविकता पर सौ-सौ अलङ्कार न्यौछावर किये जा सकते हैं।

ध्वनि और रस सम्प्रदाय की प्रतिद्वन्द्विता अवश्य है किन्तु उनकी प्रतिद्वन्द्विता इतनी बढ़ी हुई नहीं है कि समन्वय न हो सके। आचार्यों ने स्वयं ही उसका समन्वय कर लिया है। ध्वनि का विभाजन करते हुए तीन प्रकार की ध्वनियाँ मानी गई हैं, वस्तु ध्वनि, अलङ्कार ध्वनि और रस ध्वनि।

इन तीनो भेदो मे रसध्वनि को जो असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि के अन्तर्गत है अधिक महत्व दिया गया है। रस में ध्वनि की तात्कालिक सिद्धि है। उसमे व्यङ्ग्यार्थ ध्वनित होने की गति इतनी तीव्र होती है कि हनुमानजी की पूँछ की आग और लङ्का-दहन कीभाँति पूर्वापर का क्रम दिखाई ही नहीं देता है। रस ध्वनि को विशिष्टता देना रस सिद्धान्त की स्वीकृति है। ध्वनिकार ने कहा है कि व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव के विविध रूप हो सकते है। किन्तु उनमे जो रसमय रूप है उस एकमात्र रूप मे कवि को अवधानवान होना चाहिए; अर्थात् सावधानी के साथ प्रयत्नशील होना वाञ्छनीय है, देखिए—

व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमये एकस्मिन् कवि स्यादवधानवान्॥

ध्वनिकार ने और भी कहा है कि जैसे वसन्त मे वृक्ष नये और हरे-भरे दिखलाइ देते हैं वैसे ही रस का आश्रय ले लेने से पहले देखे हुए अर्थ भी नया रूप धारण कर लेते हैं।

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रस परिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमा.॥

मम्मटाचार्य ने भी जिन्होने कि ध्वनि के सिद्धान्त को मान कर

रस का वर्णन भी ध्वनि के अन्तर्गत किया है कवि की भारती की वन्दना करते हुए उसे 'ह्लादैकमयीं' और 'नवरस रुचिरां' कहा है। इतना ही नहीं उन्होंने तो दोष, गुण और अलङ्कारो की परिभाषा भी रस का ही आश्रय लेकर दी है। जिस प्रकार आत्मा के शौर्यादि गुण हैं उसी प्रकार काव्य के अङ्गी रस में हमेशा रहने वाले धर्म गुण कहलाते हैं। देखिए—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥—काव्य-प्रकाश

मम्मटाचार्य ने अलङ्कारों को रस का उपकारी माना है और दोषों की व्याख्या भी रस के सम्बन्ध में की है। उन्होंने कहा है कि दोष मुख्यार्थ के नाश करने वाले है और मुख्य तो रस ही है, उसी के सम्बन्ध से वाच्यार्थ भी मुख्य कहलाता है। उसीके अपकर्ष के कारण दोष कहलाते हैं अर्थात् रस के अपकर्ष के कारण ये दोष की संज्ञा मे आते हैं। देखिए—

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।

इसमे हति शब्द आया है। हतिः का अर्थ है अपकर्ष (हतिरपकर्षः)।

इन परिभाषाओं मे रस की इतनी स्पष्ट स्वीकृति है कि इनको पढ़ कर कोई भी यह नहीं कह सकता कि मम्मट रसवादी नहीं थे, यहाँ तक कि रस सिद्धान्त के पोषक और अभिभावक आचार्य विश्वनाथ ने इनका ही अनुकरण किया है। उन्होंने गुण शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—

खल्वङ्गित्वमाप्तस्यात्मन उत्कर्षहेतुत्वाच्छौर्यादयो गुणशब्द वाच्याः।

मम्मट ने यद्यपि काव्य की परिभाषा मे रस का उल्लेख नहीं किया है (उसमे ध्वनि का भी उल्लेख नहीं है) तथापि जिन तीन चीजों का अर्थात् दोष (अदोषौ) गुण (सगुणौ) और अलङ्कार (अनलङ्कृती पुन क्वापि) का उल्लेख है, उन सब को रस के आश्रित कर दिया है।

रसवादी विश्वनाथ ने यद्यपि मम्मट की काव्य परिभाषा का खण्डन किया है और रस की स्वतन्त्र व्याख्या की है फिर भी रस

को व्यङ्ग्य ही माना है और ध्वनि के भेदों में असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि को मानते हुए रस और भावों को उनके अन्तर्गत रक्खा है। किन्तु रसोंकी व्याख्या वहाँ पर नहीं की है। भेद इतना ही है कि मम्मट ने रस का वर्णन स्वतन्त्र न रख कर उसे ध्वनि के ही प्रसङ्ग में किया है। विश्वनाथ ने व्यञ्जना के प्राधान्य पर पाँचवाँ परिच्छेद ही लिख डाला है और रस की अभिव्यक्ति के लिए अन्य वृत्तियों का निराकरण कर व्यञ्जना नाम की वेदान्तियों की तुरीया अवस्था की सी तुरीया (चतुर्थ) वृत्ति को ही स्वीकार किया है। (तुरीया वृत्तिरूपास्यैवेति सिद्धम्) और यह प्रश्न उठाकर कि तुरीया वृत्ति क्या है उन्होंने कहा है 'सा चेयं व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः' विश्वनाथ ने भी ध्वनिकाव्य और गुणीभूत व्यङ्ग्य नाम के काव्य के दो भेद करते हुए उन्होंने चित्र काव्य को नहीं माना है) ध्वनि काव्य को उत्तम काव्य कहा है—

'वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्'

साहित्य शब्द (सहित का भाव) मे ही स्वयं समन्वय-बुद्धि है। इसी कारण साहित्य के आचार्यों मे वह साम्प्रदायिक कट्टरता नहीं होती जो कहीं-कहीं धार्मिक आचार्यों में देखी जाती है। रसवादी विश्वनाथ ने और सब मतों को भी उचित स्थान दिया है—'उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालङ्काररीतयः'। क्षेमेन्द्र के औचित्य वाले सिद्धान्त को महत्ता दी है—'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्'। उस सिद्धान्त की रसाभास मे स्वीकृति हो जाती है 'तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिताः' जहाँ, अनौचित्य मे प्रयोग हो वहाँ आभास कहलाता है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य की परिभाषा इस प्रकार की है—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते॥

अर्थात् जो जिसके सदृश हो अर्थात् अनुकूल वा उपयुक्त हो उसे आचार्य उचित कहते है। उचित के भाव को ही औचित्य कहते हैं। किन्तु कविता केवल औचित्य मात्र नहीं है। वस्तुएँ एक दूसरे के अनुकूल हो सकती हैं फिर भी उनमे सरसता अपेक्षित रहती है।

अलङ्कार वक्रोक्ति रीति और ध्वनि अभिव्यक्ति से ही सम्बन्ध

रखते हैं। यद्यपि रसध्वनि और वस्तुध्वनि मे विषय का ग्रहण है तथापि उनमे भी मुख्यता ध्वनन व्यापार की ही है। गुण रीति और अलङ्कारों और ध्वनि का भी सम्बन्ध कृति से ही है। कर्ता और भोक्ता कुछ गौण से रहते हैं। रस मे कर्ता (कवि) कृति (काव्य) और भोक्ता (पाठक) तीनों को ही समान महत्व मिलता है। उसमें प्रवाह है, गति है और जीवन की तरलता है। वह कवि के हिमागिरि से विशाल और रत्नाकर से विस्तृत और गम्भीर हृदय स्रोत से निसृत होकर कृति के रूप मे प्रवाहित होता हुआ पाठक के हृदय को आप्लावित करता है। इसीसे वह रस (जल के अर्थ मे) अपना नाम सार्थक करता है। आस्वाद्य होने के कारण वह रसना के रस की भी समानधर्मता सम्पादित करने मे समर्थ रहता है। म्लान और म्रियमाण हृदयों को संजीवनी शक्ति प्रदान कर आयुर्वेदिक रस के गुणों को भी वह अपनाता है। काव्य का सार होने के कारण उसमे फलों के रस की भी अभिव्यक्ति है। रस अर्थात् आनन्द तो उसका निजी रूप है; वह रमणीयता का चरम लक्ष्य है और अर्थ की अर्थ स्वरूपा ध्वनि का भी विश्राम-स्थल है। इसलिए वह परमार्थ है, स्वयं प्रकाश्य, चिन्मय, अखण्ड, ब्रह्मानन्द सहोदर है; 'रसो वै सः।'

काव्य की परिभाषा

भारतीय समीक्षा क्षेत्र मे लक्षण या परिभाषा का प्रश्न काव्य की आत्मा के सम्बन्ध मे उठाया गया है, । क्योंकि आत्मा ही सार वस्तु है । कुछ आचार्यों ने आत्मा का प्रश्न न उठा कर स्वतन्त्र-रूप से भी परिभाषा दी हैं काव्य मे दो पक्ष रहते हैं, एक भाव पक्ष और दूसरा अभिव्यक्ति या कला पक्ष । यद्यपि दोनों पक्षो का अपना-अपना महत्व है और दोनो ही एक दूसरे से सम्बन्धित है तथापि मुख्यता भाव पक्ष को ही दी जाती है । रस को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य भाव पक्ष को ही प्रधानता देते हैं । अलङ्कार और रीति को काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित करने वाले आचार्य अभि व्यक्ति को महत्व प्रदान करते है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि कुछ दार्शनिक शरीर को ही आत्मा मान लेते हैं । रीति को गुणो द्वारा आत्मा तक पहुँच हो जाती है । ध्वनि और वक्रोक्ति साम्प्रदाय वाले भीतरी पक्ष को स्वीकार तो अवश्य करते है किन्तु उनका झुकाव अभिव्यक्ति की ओर ही है । अलङ्कार, वक्रोक्ति और ध्वनि में कल्पना का भी थोड़ा कार्य पड़ना है । हमारे यहाँ भाव पक्ष पर कुछ अधिक बल दिया गया है । पाश्चात्य देशो मे कल्पना तत्व का विशेष आश्रय मिला है; इसका कारण है,वह यह है कि उनके यहाँ के समीक्षा शास्त्र के आदि आचार्य अरस्तू ने कला को अनुकरण माना है । अनुकरण मे मूर्तता को मुख्यता रहती है और मूर्तता का सम्बन्ध कल्पना से है । हमार यहा के आदि आचार्य भरत मुनि ने भी नाटकों के सम्बन्ध से काव्य की विवेचना की है (जैसे अरस्तू ने) अनुकृति का भी प्रश्न उठाया गया है किन्तु उन्होंने रस और भावो को ही मुख्यता दी है । यही भारतीय ओर पाश्चात्य मनोवृत्ति का अन्तर है । भारतीय मनो-वृत्ति कुछ भीतरी अधिक है और पाश्चात्य मे बाहरी पर अधिक बल है । इसका यह अभिप्राय नहीं कि पाश्चात्य देशो में भीतरी पक्ष की उपेक्षा है ।

काव्य के तत्व—काव्य का मूल तत्व तो रागात्मक या भाव-तत्व ही है किन्तु उसके साथ पाश्चात्य देशो मे कल्पना तत्व, बुद्धि तत्व और शैली तत्व को भी माना है । कल्पना भाव को पुष्ट करती

है और उसके लिए सामग्री उपस्थित करती है, साथ ही अभिव्यक्ति में भी सहायक होती है कल्पना का सम्बन्ध मानसिक सृष्टि से है। वह चाहें कवि की भावनाओं के अनुकूल ब्रह्मा की सृष्टि का पुनर्निर्माण हो और चाहे उसमें जोड़-तोड़ और उलट-फेर करके बिलकुल नई (किन्तु सुसंगत और सुसम्भव) रचना हो। बुद्धि-तत्त्व कल्पना को उच्छृङ्खल होने से बचाये रखता है और भावों को भी मर्यादा के भीतर रखता है। कठोपनिषद् में बुद्धि को इन्द्रिय रूपी अश्वों की लगाम कहा है, वह इन्द्रियों की ही लगाम नहीं है वरन् कल्पना के घोड़ों की भी लगाम है। हमारे यहाँ औचित्य, दोषों और क्रम, प्रमाण, सार, एकावली आदि अलंकारों में कहीं तो पूरे बुद्धि तत्त्व का और कहीं उसके भावमय आभास का (जैसे काव्यलिङ्ग आदि में) समावेश हो जाता है। बुद्धि-तत्त्व से सत्य और शिव की रक्षा होती है और कल्पना और भाव-तत्त्व से सुन्दरम् का निर्माण होता है। कल्पना से सुन्दरम् का शरीर बनता है और भावना में उसकी आत्मा रहती है। सुन्दरम् रस का विषयगत पक्ष है। शैली का सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है उसके द्वारा कवि के हृदय के साथ पाठक के हृदय का सहस्पन्दन कराया जाता है। इस तत्त्व को हमारे यहाँ अलङ्कार, रीति और शब्द-शक्तियों में भी आश्रय मिला है। काव्य की परिभाषाओं में इन्हीं तत्त्वों में से किसी एक या एक से अधिक तत्त्वों को मुख्यता दी जाती है। हमारे यहाँ काव्य की अनेकों परिभाषाएँ हैं किन्तु उनमें तीन मुख्य हैं।

मम्मटाचार्य—मम्मटाचार्य ने दोषरहित गुणवाली और कभी अनलङ्कृत भी, शब्द और अर्थमयी रचना को काव्य कहा है।❀

इस परिभाषा में गुणों के भाव और दोषों के अभाव को मुख्यता दी गई है। अलङ्कारों को नितान्त आवश्यक नहीं माना है क्योंकि जिसके बिना भी कोई चीज कभी रह सके उसे उसके लिए आवश्यक नहीं कह सकते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने इस परिभाषा की आलोचना करते हुए कहा है कि बड़ी उत्तम कविताओं में भी थोड़ा बहुत दोष निकल आता है, इसलिए ही वे कविता की श्रेणी से बाहर

❀'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'—काव्य प्रकाश।

नहीं निकाल दी जातीं। अलङ्कार जब लक्षण में आवश्यक नहीं तब उनका उल्लेख ही वृथा है। वैसे काव्य-प्रकाश में ध्वनि को प्रधानता दी गई है, रस को भी ध्वनि के अन्तर्गत माना गया है किंतु इस परिभाषा मे न ध्वनि का ही नाम है और न रस का कोई उल्लेख है। यह परिभाषा ऊपरी है। मम्मटाचार्य ने यद्यपि रस का उल्लेख नहीं किया है तथापि गुण और दोषों को जिनको कि परिभाषा में प्रधानता मिली है, रस के ही उत्कर्ष और अपकर्ष (घटाने का) का हेतु माना है। उन्होंने रस को ही अंगी* माना है। इस प्रकार मम्मट ने भी कुछ फेर-फार के साथ रस को ही प्रधानता दी है।

आचार्य विश्वनाथ—उन्होंने 'एकै साधे सब सधे' के नियम का अनुसरण करते हुए काव्य की परिभाषा इस प्रकार की है:—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' अर्थात् रसयुक्त वाक्य काव्य है। जहाँ दण्डी, मम्मटादि ने पत्तों और शाखाओं को सींचने की ओर तुलसीदासजी के शब्दों में 'बरी-बरी मे लौन' देने की कोशिश की है वहाँ विश्वनाथ ने जड़ को सींचा है। गुण अलङ्कारादि सभी रस के पोषक हैं। 'वाक्य' शब्द मे अर्थ भो शामिल हो जाता है क्योंकि सार्थक शब्द ही वाक्य बन सकता है। इसके रसात्मक शब्द मे काव्य का अनुभूति पक्ष या भाव-पक्ष आगया और वाक्य शब्द मे अभिव्यक्ति पक्ष अथवा कला पक्ष आगया। इस परिभाषा मे केवल यह दोष बतलाया जाता है कि रस की परिभाषा अपेक्षित रहती है किन्तु मोटे तौर से सब लोग जानते हैं कि रस क्या चीज है? इसीलिए रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ को प्रधानता दी है। उनका कथन है कि रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है।‡ रमणीय का अर्थ है मन को रमाने या लीन कर लेने वाला। रस मे भी मन आनन्द से व्याप्त हो जाता है। रमणीयता मे रस का भाव संलग्न है। रमणीय अर्थ मे रस के अतिरिक्त और चमत्कार भी आ जाते हैं। रस मे भी

---

* ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादया इवात्मनः,
उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥

अर्थात् जिस तरह से शौर्यादि आत्मा के गुण हैं, उसी प्रकार काव्य मे अङ्गी रुप रस के स्थायी धर्म गुण हैं और वे रस के उत्कर्ष के कारण होते हैं।

‡ रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्—रसगंगाधर

अन्य चमत्कारों का भी उसके पोषक रूप से महत्व रहता है। इसलिए हम प्राचीनों की परिभाषाओं मे विश्वनाथ की परिभाषा को ही प्रधानता देंगे। इसमें अन्य परिभाषाओ का भी समावेश हो जाता है।

शेक्सपीयर— (Shakespeare) शेक्सपीयर ने "कल्पना" को प्रधानता देते हुए लिखा है कि कवि की कल्पना अज्ञात वस्तुओं को रूप देती है, उसकी लेखनी वायवो नगण्य अस्तित्वशून्य पदार्थों को भी मूर्त बनाकर नाम और ग्राम प्रदान करती है।

As imagination bodies forth
The form of things unknown, the poet's pen
Turns them to shapes, and gives to airy nothings
A local hebitation and a name

वर्ड्सवर्थ—(Wordswoith) वर्ड्सवर्थ ने 'भाव' को प्रधानता देते हुए लिखा है कि काव्य शान्ति के समय में स्मरण किये हुए प्रवल मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह है।

Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings It takes it origin from emotion recollected in tranquilnity.

मिल्टन (Milton) ने कविता को सादा, प्रत्यक्ष मूलक और रागात्मक कहा है।

Poetry should be simple, sensuous and passionate

कॉलरिज ने (Coleridge) अभिव्यक्ति को प्रधानता देते हुए कहा है कि कविता उत्तमोत्तम शब्दो का उत्तमोत्तम क्रम-विधान है— Poetry the best words in the best order.

कारलायल ने (Carlyle) काव्य की संगीतमयता पर बल दिया है। कविता मनोवेगमय और संगीतमय भाषा मे मानव अन्तःकरण की मूर्त और कलात्मक व्यञ्जना करती है।

मेथ्यू आर्नल्ड ने (Matthew Arnold) कविता को

मूल में जीवन की आलोचना कहा है—Poetry is at bottom a criticism of life. उन्होंने जीवन और विचारात्मक पक्ष अर्थात् बुद्धि-तत्त्व पर अधिक बल दिया है। इस परिभाषा में भावात्मकता का कुछ अभाव सा दिखाई देता है।

हडसन (Hudson) इन सब दृष्टियों का समन्वय-सा करता है। उसका कथन है कि कविता कल्पना और मनोवेगों द्वारा जीवन की व्याख्या करती है।

Poetry is an interpretation of life through imagination and emotion.

इसमें फिर भी अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की कमी रह जाती है।

आचार्य जॉनसन ने (Johnson) अपनी परिभाषा में प्रायः चारो तत्वो को सम्मिलित कर लिया है। उनका कथन है कि कविता सत्य और प्रसन्नता के सम्मिश्रण की कला है जिसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है। कला शब्द में अभिव्यक्ति भी आ जाती है।

Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason.

द्विवेदीजी और शुक्लजी—आजकल के हिन्दी लेखकों ने भी कविता के सम्बन्ध मे बहुत-कुछ लिखा है। उनमे आचार्य रामचन्द्रजी शुक्ल का 'कविता क्या है' शीर्षक लेख बहुत महत्व का है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी 'काव्य और कविता शीर्षक लेख मे अपने विचार प्रकट किये है। वे मिल्टन की परिभाषा से अधिक प्रभावित हैं—कविता सरल, प्रत्यक्ष मूलक और रागात्मक होनी चाहिए। वे कविता मे असलियत पर जोर देते हुए लिखते हैं—

'सादगी असलियत और जोश, (मिलटन के बतलाये हुए तीनों गुण) यदि ये तीनो गुण कविता मे हो तो कहना ही क्या है। परन्तु बहुधा अच्छी कविता मे भी इनमें से एक आदि गुण की कमी पाई जाती है। कभी-कभी देखा जाता है कि कविता मे केवल जोश रहता है, सादगी और असलियत नहीं। परन्तु बिना असलियत के जोश का होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सब से अधिक ध्यान रखना चाहिए।'

असलियत शब्द को द्विवेदीजी ने बिलकुल संकुचित अर्थ में नहीं माना है। वे कविता को बिलकुल इतिहास नहीं बना देना चाहते हैं। वे कल्पना को भी महत्वपूर्ण स्थान देते हुए कहते हैं कि कविता का सब से बड़ा गुण नई-नई बातों का सूझना है। इसके लिए वे कल्पना (Imagination) की बड़ी आवश्यकता स्वीकार करते हैं। रागात्मक तत्व को उन्होंने जोश के रूप मे लिया है किन्तु उन्होंने उसे विशेष महत्व नहीं दिया है। आचार्य शुक्लजी सत्य को अवहेलना न करते हुए भी रागात्मक तत्व को प्रधानता देते हैं। वे लिखते हैं:—

'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की वह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं। और कर्मयोग और ज्ञानयोग के समकक्ष मानते हैं।'

हृदय की मुक्तावस्था की शुक्लजी ने इस प्रकार व्याख्या की है:—

'जब तक कोई अपनी पृथक सत्ता की भावना को ऊपर किये हुए इस क्षेत्र के नाना रूपों और व्यापारों को अपने योग-क्षेम, हानि-लाभ, सुख, दुःख आदि से सम्बद्ध कर के देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है। इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक सत्ता की धारणा से छूटकर अपने आपको बिलकुल भूलकर विशुद्ध हृदय मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त हृदय हो जाता है।

इस मुक्तावस्था में पहुँचने से व्यक्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसके सम्बन्ध मे आचार्य शुक्लजी लिखते हैं:—

'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोकसामान्य भावभूमि पर ले जाती है.... उस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता मे लीन किये रहता है........ इस अनुभूतियोग के आभास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।'

चमत्कार-वाद—शुक्लजी भाव जगत और बाह्य जगत का सामञ्जस्य चाहते हैं। इसलिए वे न तो कोरे चमत्कारवाद के पक्ष में है और न मनोरञ्जन के। वे काव्य को लोकहित स समन्वित करते है। आचार्य द्विवेदीजी ने चमत्कारवाद को कुछ अधिक आश्रय दिया है। चमत्कार के समर्थन मे वे क्षेमेन्द्र का मत देते हुए कहते है:—

'शिक्षित कवि की उक्तिया मे चमत्कार होना परमावश्यक है। यदि कविता मे चमत्कार नही, कोई विलक्षणता नहीं तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्षेमेन्द्र की राय है—'न हि चमत्कार रहितस्य कवेः कवित्त्वं, काव्यस्य वा काव्यत्त्वम्' द्विवेदीजी ने श्रीकंठचरित के कर्त्ता का उद्धरण देते हुए रस को भी परमावश्यक माना है। उद्धरण इस प्रकार है—

तैस्तैरलंकृतिशतैरवतंसितोऽपि
रूढो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि।
नूनं विना घनरसप्रसराभिषेक
काव्याधिराजपदमर्हति न प्रबन्धः॥

अर्थात् 'सैकड़ो अलङ्कारो से अलंकृत उच्चासन पर आरूढ़ होकर भी और सब प्रकार का सौष्ठव धारण कर के भी रस धारा के अभिषेक के बिना काव्याधिराज पदवी को नहीं प्राप्त होता।' आचार्य शुक्लजी ने इस सम्बन्ध मे अपना मत स्पष्ट रक्खा है। उन्होंने कोरे चमत्कारवाद को नहीं स्वीकार किया है। वे उसी चमत्कार के पक्ष मे है जो भाव प्रेरित हो। वे लिखते है:—

'उक्ति की तह मे उसके प्रवर्तक के रूप मे यदि कोई भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति छिपी है तो चाहे वैचित्र्य हो या न हो, काव्य की सरसता बराबर पाई जायगी ......ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना (जैसे प्रस्तुत वस्तु का सौन्दर्य आदि) मे लीन न होकर एकबारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास या पद-प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी, या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह "काव्य" नही "सूक्ति" है।' शुक्ल जी ने केवल चमत्कार को सूक्ति कहा है।

यदि चमत्कार शब्द को व्यापक रूप मे मान लिया जाय और

हम भाव के चमत्कार को भी चमत्कार कहे तो क्षेमेन्द्र के कथन की भी सार्थकता हो सकती है। जिन उदाहरणों में (जैसे मंडन के सवैये में चिरजीवहु नंदको बारो अरी, गहि बाँह गरीब ने ठाड़ी करी) भाव की स्वाभाविकता की अपेक्षा दूर की सूझ ही अधिक है। हम इसे चमत्कार ही कहेंगे। केशव की सी उक्ति (बेर भयानक सी अति लगें। अर्क समूह जहाँ अति जगमगें) मे हमें यह शुक्ल जी के साथ कहना पड़ेगा कि इसमें कोरी सूक्ति ही है कवित्व नहीं।

प्रसादजी का मत—प्रसादजी काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति बतलाते हैं। उनका कथन इस प्रकार है—

'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। ...आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है। इस परिभाषा में सत्य और सौन्दर्य के समन्वय मे आत्मा की सहज-वृत्ति (Intuition) पर बल दिया गया है। यह परिभाषा जॉनसन की परिभाषा के जिसमे सत्य और प्रसन्नता की बात कही गई है निकट है। इसमे यह विशेषता है कि चारुता या-सौन्दर्य को सत्य के मूल में कहा गया है। इसमें दो पृथक वस्तुओ के समन्वय की बात नहीं है वरन् दोनों को एक दूसरे का भीतरी और बाहरी रूप कहा गया है। इसमें कवि की ही प्रधानता है। पाठक और अभिव्यक्ति को गौण रक्खा गया है।

समन्वय—काव्य की पूर्णता के लिए पाठक भी उतना ही आवश्यक है जितना कि कवि। नाटक की पूर्णता उसके दर्शकों में है। 'जङ्गल में मोर नाचा किसने जाना ?' 'वह तमाशा नहीं जिसका कोई तमाशाई नहीं।' कवि रस के बीज को अपनी कल्पना के रस मे सिक्त करके अपने हृदय में अंकुरित करता है। वह अंकुर भाषा के साधनों अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, अलङ्कारादि द्वारा कृति मे पल्लवित और पुष्पित होकर सहृदय कवि के संस्कारों की उष्णता में फलवान होता है। जिस प्रकार शब्द की सार्थकता वायु के कम्पनों में नहीं है वरन् कहने और सुनने वाले के साम्य में है उसी प्रकार काव्य की सार्थकता

कवि और पाठक के भावसाम्य में है। उसी भावसम्य में अर्थ का पूर्णातिपूर्ण विकास दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार कवि में संसार में फैली हुई सूक्ष्म भावनाओं की ग्राहकता एवं विस्तारक-शक्ति रहती है, वैसे ही सहृदय पाठक में भी कवि के हृदय की सूक्ष्म तरङ्गों को मूर्तता प्रदान करने की शक्ति रहती है और यदि वह भावक या आलोचक भी हुआ तो उसमें विस्तारक शक्ति भी रहती है। कवि और पाठक तथा काव्य के विषय तीनों ही देश, काल के बन्धन से मुक्त होकर पारस्परिक साम्य के विधायक होते हैं। इन सब बातों को एक परिभाषा के संकुचित घेरे में बाँधना कठिन है फिर भी नीचे के शब्दों में यह समन्वित भावना रक्खी जा सकती।

काव्य संसार के प्रति कवि की भाव-प्रधान (किन्तु क्षुद्र वैयक्तिक सम्बन्धों से मुक्त) मानसिक प्रतिक्रियाओं की, कल्पना के ढाँचे में ढली हुई, श्रेय की प्रेय-रूपा प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है। प्रभावोत्पादक शब्द द्वारा भाषा की शक्तियाँ और अलङ्कारादि के साथ पाठक का भी संकेत हो जाता है। इस परिभाषा में प्रायः सभी बातें आ गई हैं किन्तु उसमें वह लाघव नहीं जो 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' में है। वास्तव में यह उसी का वृहत् संस्करण है।

काव्य और साहित्य—साहित्य शब्द अपने व्यापक अर्थ में सारे वाङ्मय का द्योतक है। वाणी का जितना प्रसार है वह सब साहित्य के अन्तर्गत है। इस अर्थ में औषधियों के विज्ञापन और बीमा कम्पनियों के सूचना-पत्र भी साहित्य में आ जाते हैं। वैज्ञानिक साहित्य, गणित शास्त्र अथवा अर्थ-शास्त्र सम्बन्धी साहित्य ऐसे प्रयोग तो हमारी भाषा में प्रचलित हैं हीं। साहित्य का शब्दार्थ भी समूह के ही निकट है। अपने संकुचित अर्थ में साहित्य काव्य का पर्याय हो जाता है। जहाँ हम साहित्य का प्रश्न-पत्र कहते हैं वहाँ साहित्य से काव्य ही अभिप्रेत होता है। यही हाल इँग्रेजी शब्द Literature का है। व्यापक अर्थ में जितना अक्षरों (Letters) का आयोजन है वह सब लिट्रेचर है। लिट्रेचर शब्द लेटर्स से ही बना है। संकुचित अर्थ में लिट्रेचर काव्य का पर्याय है। काव्य में गद्य और पद्य दोनों ही आते हैं। कविता शब्द यद्यपि पद्यात्मक काव्य में रूढ़ हो गया है तथापि कभी-कभी उसका व्यापक अर्थ में भी प्रयोग होने लगता है, जैसे जब कोई मनुष्य अधिक भावुकता पूर्ण वार्तालाप करने लगता है तब हम उससे कहते हैं 'भाई

तुम तो कविता करने लगे'। कविता से पद्यात्मक साहित्य का बोध होता है किन्तु काव्य शब्द पूरे भावप्रधान साहित्य का बोधक होता है। साहित्य के व्यापक अर्थ में काव्य और शास्त्र दोनो ही आ जाते हैं। रस प्रधान साहित्य-काव्य कहलाता है और ज्ञान प्रधान साहित्य में जिस मे बुद्धि और नियम का शासन अधिक रहता है वह शास्त्र (Science) कहलाता है। जीवन की पूर्णता दोनो के अनुशीलन मे है—'काव्य-शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीयताम्'

काव्य और कला

दृष्टिकोण भेद—पाश्चात्य देशों में प्रायः काव्य की गणना कलाओं में की जाती है। वहाँ की विचार-धारा से प्रभावित हिन्दी के कुछ आचार्यों ने भी काव्य को कलाओं में स्थान दिया है। आचार्य शुक्लजी ने पण्डित समाज का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि भारतीय परम्परा मे काव्य का क्षेत्र कलाओं से बाहर माना गया है। हमारे यहाँ कलाओं को उपविद्याओं में स्थान मिला है। काव्य को कला से स्वतंत्र मानने की पुष्टि में महाराज भर्तृहरि का सुप्रसिद्ध वाक्यांश—'साहित्य संगीतकला विहीन.' उपस्थित किया जाता है। यह कहा जाता है कि कला यदि साहित्य से भिन्न न होती तो उसका अलग उल्लेख न होता। इसके विपक्ष मे यह कहा जा सकता है कि संगीत भी कलाओं में है किन्तु फिर भी कला का पृथक उल्लेख हुआ है। यदि यह कहा जाय कि कला शब्द सङ्गीत के साथ लगता है तो वह साहित्य के साथ भी लग जाता है।

किन्तु जो लोग काव्य को कला से स्वतंत्र मानते हैं उनके तरकस में और भी तीर हैं। भामह ने काव्य के फला में 'वैचक्षण्यंकलासु च' बतलाया है। इस से भी यही प्रकट होता है कि काव्य कलाओं से स्वतंत्र है। काव्य से कलाओं में वैचक्षण्य प्राप्त होता है, काव्य स्वयं कला नहीं है। आचार्य दण्डी ने देश-काल विरोध की भाँति कला-विरोध भी एक दोष माना है। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने कला को 'कामार्थसंश्रयाः' कहा है और नृत्य, गीत, वाद्य आदि कलाओं को उसके अन्तर्गत माना है।

हमारे यहाँ चौसठ कलाएँ मानी गई हैं। वे एक प्रकार से विदग्ध पुरुषों वा स्त्रियों की शिक्षा के अङ्ग हैं। उनमे नाचना, गाना, तैरना, चित्र बनाना, फूलों की माला बनाना आदि बातें परिगणित हैं। उनमें पद्य-रचना या समस्यापूर्ति भी है। काव्य जिसमे गद्य और पद्य दोनों ही आते हैं, नहीं है। दशरूपक-कार धनञ्जय ने धीर-ललित नायक को कलात्मक माना है—'निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः'

टीका मे उसे गीतादिकलाविशिष्टो कहा है। दुष्यन्त ऐसा ही नायक था। उसने शकुन्तला का ऐसा चित्र बनाया था कि उसमें 'भित्तौ समयामपि,' त्रिवली का उठाव-गिराव और नाभि की गहराई का छायालोक द्वारा स्पष्ट भान होता था—

अस्यस्तुङ्गमिव स्तनद्वयमिदं निम्नेवनाभिस्थितिः।
दृश्यन्त विषमोन्नताश्च वलया भित्ता समायामपि॥

अब यह प्रश्न होता है कि क्या वास्तव के काव्य और कलाओ मे ऐसा पार्थक्य है कि वे एक दूसरे से स्वतंत्र मानी जॉय? वैसे तो उनमे थोड़ा-बहुत भेद है ही। कलाओ मे क्रिया के कौशल का भाव अधिक है, उसको एक परिभाषा मे कर्तृत्व का व्यञ्जक माना गया है। 'व्यञ्जयति कर्तृशक्ति कलेति तेनेह कथिता सा' (प्रसादजी द्वारा भोजराज के तत्व प्रकाश से उद्धृत) किन्तु इन दोनो के बहुत से सम्बन्ध सूत्र हैं जो काव्य को यद्यपि कलाओ के अन्तर्गत नहीं करते तो भी उसके सगोत्री अवश्य बना देते हैं। काव्यों में नाटक का एक विशिष्ट स्थान है। उसमें गीत-वाद्य चित्रकारी इत्यादि सभी कलाएं आ जाती है। भरत मुनि ने नाटक के सम्बन्ध मे कहा है।

लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति
न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन यन्न दृश्यते॥

काव्य के सम्बन्ध मे भी एक ऐसी ही उक्ति है। वैसे भी तो सङ्गीत का विशेष-विशेष स्वरो द्वारा रसो से सीधा सम्बन्ध माना गया है। सातवीं शताब्दि के लिखे हुए विष्णुधर्मोत्तर में स्वरो और रसों का सम्बन्ध इस प्रकार दिया गया है:—

पूर्वोक्ताश्च नवरसा. तत्र हास्यश्रृङ्गारयोर्मध्यमं-पञ्चमो
वीररौद्राद्भुतेषु षड्जपञ्चमो।
करुणेनिषादगान्धारो वीभत्सभयानकयोर्धैवतम्॥

इस ग्रन्थ मे काव्य और कलाओं का एक ही दृष्टिकोण से वर्णन हुआ है। यह बात मै श्री ब्रजरत्नदास की गवाही पर लिख रहा हूँ। मैंने स्वयं इस ग्रन्थ को नहीं देखा है। इसके बारे मे अन्यत्र भी सुना है। डाक्टर स्टेला क्रेमरिश द्वारा किया हुआ इसका इंगलिश

अनुवाद भी निकाला गया है। कला के दोषों के उदाहरणों मे रस के ही दोषों बतला कर दण्डी ने भी कला और काव्य के सम्बन्ध की एक अव्यक्त स्वीकृति दी है (यद्यपि इसमे कला और काव्य का पार्थक्य भी व्यञ्जित है कि काव्य ता कलाओ के वर्णन मे उसके नियम के विरुद्ध न जाना चाहिए)। देखिए:—

मार्गः कलाविरोधस्य मनागुद्दिश्यते यथा ॥
वीरशृङ्गारयोर्भावा स्थायिना क्रोधविस्मयौ ।
पूर्ण सप्तस्वरः सोऽयं भिन्नमार्गः प्रवर्तते ॥ (३—१७०)

अर्थात् कला विरोध का उदाहरण दिखाते हैं जैसे वीर और शृङ्गार के स्थायीभाव क्रोध और विस्मय हैं (वास्तव मे वीर का स्थायोभाव उत्साह और शृङ्गार का रति है) और पूर्ण सातों स्वर मिल कर गायन होता है। (यह बात भी कला-सिद्धान्त विरुद्ध है इसमें से बेमेल स्वरों को निकाल देना चाहिए था।)

हमारे यहाँ कला मे संगीत (जिसमे नृत्य वाद्यादि सभी माने गये हैं) और शिल्प (स्थापत्य, मूर्त्ति-तक्षण कला और चित्र कला) दोनो ही माने गये है 'कला शिल्पे संगीत भेदे च' - अमरकाष। संगीत का तो सम्बन्ध काव्य स कुछ-कुछ साधा है ही किन्तु शिल्प का सम्बन्ध भी थोड़ी कठिनाइ से रसों द्वारा लगाया जाता है। चित्र और मूर्तियों मे भी रस की अभिव्यक्ति होती है। वास्तव मे हमारे यहाँ काव्य कलाओ के अन्तर्गत नहीं है वरन् कला और काव्य के कलेवर भिन्न हाते हुए उनकी आत्मा एक है। काव्य की आत्मा स्वरूप रस ही कलाओं को अनुप्राणित करता है। चौसठ कलाओं मे समस्या पूर्ति के अतिरिक्त काव्य से सम्बद्ध और भी कलाएं, जैसे प्रतिमाला (अंताक्षरी) नाटकों का अभिनय करना, नाटकों का देखना-दिखाना और कहानियों का कहना-सुनना अभिधान कोष, छन्द का ज्ञान, प्रहेलिका आदि सब साहित्यिक विद्याएं कलाओं मे परिगणित हैं। काव्य का जितना मनोरञ्जक पक्ष है वह सब कलाओं मे आ जाता है। हमारे यहाँ यह पक्ष उपविद्या रूप से स्वीकृत हुआ है। जैसे विज्ञान का व्यावहारिक पक्ष तत्सम्बन्धी कलाओं मे पाया जाता है उसी प्रकार काव्य का व्यावहारिक एवं मनोरञ्जक पक्ष कलाओं मे आ जाता है

पाश्चात्य देशों में काव्य का सम्पूर्ण पक्ष कला के अन्तर्गत है। भारतीय परम्परा मे उसका व्यावहारिक अर्थात् शिल्प सम्बन्धी पक्ष कलाओं में आता है। उसमें जो काव्य के रूप आये हैं वे दिल-बहलाऊ और समय काटने के साधन से हैं। काव्य की नीची श्रेणियाँ कला में अवश्य आ जाती है किन्तु ऊँची और नीची श्रेणियों का नितान्त पार्थक्य भी नहीं हो सकता।

कला और प्रकृति—काव्य की परिभाषा पर विचार करने से पूर्व प्रकृति के साथ उसके सम्बन्ध को समझ लेना आवश्यक है। मनुष्य संसार में जन्म लेता है। वह प्रकृति को अपनी सहचरी के रूप में पाता है किन्तु वह सहचरी सदा उसके मनोनुकूल नहीं होती। उसमें चाञ्चल्य और स्वेच्छा रहती है। वैज्ञानिक और कलाकार दोनों ही प्रकृति सहचरी की उपासना करते हैं, वैज्ञानिक उसे उपास्य से परिचारिका बनाता है, कलाकार उसे सहचरी ही बनाये रखता है किन्तु साज-सम्हाल कर अधिक मनोकूल बना लेता है। प्रकृति अपने विकास मे कुछ मन्द गति से चलती है। कलाकार और वैज्ञानिक उसकी गति की दिशा को पहचान कर उसे अपने सामने ले आते हैं। प्रकृति गुण-दोषमय है और कभी-कभी हमको अपने वशीभूत भी कर लेती है। कलाकार प्रकृति पर अपना छाप डाल उसे अपना भावानुवर्तिनी बना लेता है। प्रकृति परमेश्वर की कला है तो कला मानव की कला है। कला में मनुष्य के कर्तृत्व का भाव रहता है। किन्तु उसके लिए कृत्रिमता आवश्यक नहीं। कला इतनी स्वाभाविक हो सकती है कि वह प्रकृति के बिलकुल निकट आ जाय और प्रकृति में इतना सौन्दर्य दिखाई पड़ सकता है कि वह कला की कोटि मे गिनी जाय। तभी फूल-पत्तियों में लोग परमात्मा की कारीगरी की प्रशंसा किया करते हैं। किन्तु प्रकृति और कला दोनों की सीमाएँ अलग हैं; कला प्रकृति पर मनुष्य की विजय है, प्रकृति में मनुष्य की शक्ति की सीमा है। यहाँ पर प्रकृति का अर्थ अपराजित प्रकृति है। सच्ची कला प्रकृति और मानव के सामञ्जस्य में है।

कला की परिभाषा—हमारे यहाँ की अपेक्षा कला का सैद्धान्तिक विवेचन पाश्चात्य देशों में कुछ अधिक हुआ है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि हमारे यहाँ कला के सैद्धान्तिक विवेचन का अभाव

है। हमारे यहाँ कला के व्यावहारिक विवेचन की ओर अधिक प्रवृत्ति रही, यह देश-देश की परम्परा का भेद है।

पाश्चात्य देशों मे कला की परिभाषाएँ आरम्भ में तो वाह्य से अन्तर की ओर गई है, अर्थात् उनमे प्राकृतिक अनुकरण के साथ मानसिक पत्त की ओर संकेत मात्र रहता है (जैसे अरस्तू की परिभाषा मे जिसमे कि कला अनुकृति मानी गई है) फिर क्रमशः इनमें भीतर से बहार की ओर प्रत्तेपण की प्रवृत्ति आई। क्रोचे ने अभिव्यक्ति (सो भी मानसिक ही) को ही कला माना है। प्रकृति की न्यूनता और अपूर्णता को, अरस्तू ने भी स्वीकार किया है। कला उसी न्यूनता को पूरा करती है।

गुप्तजी ने इस भाव की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति की है:—

हो रहा जो जहाँ, सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा।
किन्तु होना चाहिए कब क्या, कहाँ,
व्यक्त करती है कला वहाँ,

इसलिए एक आचार्य ने कला का वास्तविक को उसके मानसिक पत्त में प्रस्थापन कहा है—'Tha presentation to the real in its mental aspect.' इस प्रकार कला वास्तविकता का आदर्शीकरण बन जाती है। यह आदर्श मन मे रहते हैं और इस प्रकार वह आदर्शों के प्रत्तेपण (Projection) का रूप धारण कर लेती है। हेगिल का कथन है कि सौन्दर्य विचार या आदर्श की प्रकृति मे झलक है Beauty is the shining of the idea through matter' प्राकृतिक सौन्दर्य ईश्वरीय सौन्दर्य का आभास है, कला उसी आभास की पुनरावृत्ति है। किन्तु उसके मत से इस पुनरावृत्ति मे विचार और आदर्श की चमक ज्यादह रहती है। इस प्रकार की परिभाषाएँ तात्त्विक (Metaphysical) कही जाती हैं।

इस दृष्टिकोण के अतिरिक्त और भी दृष्टिकोणों से कला की परिभाषाएँ की गई हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर आदि ने कला की अतिरिक्त शक्ति के अथवा फालतू उमंग के प्रसार और खेल की प्रवृत्ति का फल बतलाया है। यह परिभाषा प्राणि-शास्त्र सम्बन्धी है और यह

वास्तव में कला की मूल प्रवृत्ति या प्रजनन की व्याख्या करती है।

इस दृष्टिकोण के अतिरिक्त और भी दृष्टिकोणों से कला की परिभाषाएँ की गई हैं। हर्बर्ट स्पेन्सर आदि ने कला को अतिरिक्त शक्ति के अथवा फालतू उमंग के प्रसार और खेल की प्रवृत्ति का फल बतलाया है। यह परिभाषा प्राणि-शास्त्र सम्बन्धी है और यह वास्तव में कला की मूल प्रवृत्ति या प्रजनन की व्याख्या करती है। कुछ परिभाषाएँ कला किस की अभिव्यक्ति है ? इसका उत्तर देती हैं कला रेखाओं, रंगों, गतियों, ध्वनियों और शब्दों से मनुष्य के मनोगत भावों की वाह्याभिव्यक्ति है। कतिपय परिभाषाएं, कला हमको क्या देती है ? इस प्रश्न का उत्तर देती हैं। कुछ लोग तो कला को शुद्ध अर्थात् उपयोगिता से असम्बद्ध प्रसन्नता या आनन्द का जनक मानते हैं। यह लोग सौन्दर्यवादी या कलावादी (Aestheetes) कहलाते हैं। कोई-कोई आचार्य इसका सम्बन्ध मानवहित से बतलाते हैं। फ्राइड के अनुयायी कला को दमित वासनाओं का उन्नयन या पर्युत्थान मानते हैं। यह लोग भी कला की प्रेरणा की ही व्याख्या करते हैं। क्रोचे ने इसे अभिव्यक्ति माना है। कुशल अभिव्यक्ति भी नहीं। उसके मत से अभिव्यक्ति यदि होती है तो कुशल और सुन्दर सब कुछ होता है। शायद क्रोचे से ही प्रभावित होकर गुप्तजी ने भी कला को कुशल अभिव्यक्ति कहा है।

प्रसादजी ने अपने काव्य और कला शीर्षक निबन्ध में कला की क्षेमराजकृत परिभाषा जो शिवसूत्र विमर्शिनी से दी है वह हेगिल की परिभाषा की कोटि में आयगी। हम यह भी देख सकते हैं कि हेगेल की सी विचार-धारा हमारे यहाँ पहले से वर्तमान थी—'कलयति, स्वरूपं आवेशयति, वस्तुनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला' इसका अनुवाद प्रसादजी ने इस प्रकार किया है—'नवनव स्वरूप प्रथोल्लेख शालिनी संवित वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को, आत्मा को परमित रूप में प्रगट करती है इसी रूप का नाम कला है।'

काव्य की भाँति कला के विचार में नीचे की बातों का योग रहता है।

१—कलाकार का आत्म-भाव या आपा (Personality) कला विज्ञान की भाँति कलाकार से निरपेक्ष नहीं है इस आत्म-भाव से कलाकार के आनन्द का भी सम्बन्ध है।

२—प्रकृति के सम्पर्क मे आये हुए कलाकार के भाव और विचार जिन मे सौन्दर्य और हित, प्रेय और श्रेय का समन्वय रहता है।

३—उन विचारों या भावों की अभिव्यक्ति और उसका माध्यम (पत्थर, स्याही, कागज आदि)

४—कला के द्रष्टा या श्रोता। टाल्सटाय ने कला की संक्रामकता पर अधिक बल दिया है। उसका कथन है कि कलाकार कुछ संकेतों द्वारा अपने भावों को दूसरों तक पहुँचाता है और वे दूसरे उन भावों से प्रभावित हो उनका अनुभव करते है। कला के लिए दर्शक, पाठक और श्रोता आवश्यक हो जाते हैं।

संक्षेप में कह सकते है कि कला कलाकार के आनन्द की श्रेय और प्रेय तथा आदर्श और यथार्थ को समन्विब करने वाली प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है।

उपयोगी और ललित कलाएँ—कलाओं का वर्गीकरण कई आधारो पर किया जाता है। सब से पहला आधार तो उपयोगिता, और सौन्दर्य का है। उपयोगिता भौतिक सुख से सम्बन्धित है सौन्दर्य मानसिक से। जिन कलाओ मे उपयोगिता का प्राधान्य हो वे उपयोगी और जिनमे सौन्दर्य का प्राधान्य हो वे ललित कलाएँ कही जायँगी। कला की उपयुक्त परिभाषा वास्तव मे ललित कलाओ पर ही लागू हो सकती है क्योकि बढ़ई लुहार की कलाओ को हम आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं कह सकते। उनमें भी आनन्द की अभिव्यक्ति तब हो सकती है जब कलाकार अपना काम रुचि के साथ करता है। जो वस्तुएं सीधे तौर से हमारे सुख का सम्पादन करती हैं वे ललित कलाएं कही जायँगी और जो साधन रूप से सुख का सम्पादन करें वे उपयोगी कलाओं मे शामिल होंगी, वास्तव मे यह विभाजन पाश्चात्य परम्परा के अनुसार है और अधिक वैज्ञानिक भी नहीं है। ललित्त्त और उपयोगिता का नितान्त पार्थक्य नहीं है। चाकू के बेटे पर

यदि नक्कासी हो (और फल उसका दिखावा मात्र न हो) तो उसमें कला और उपयोगिता का सम्मिश्रण हो जायगा। जहाँ तक होता है मनुष्य सुन्दरता को चाहता है। स्टीम एञ्जिन पर थोड़ी बहुत सजावट कर ही दी जाती है। रेलवे स्टेशनों की तो बात ही दूसरी है लोग जेलखानों और पुलिस स्टेशनों को भी गमलों और फूलों से सजाते हैं। सौन्दर्य स्वयं अपनी उपयोगिता रखता है। सुन्दर वस्तु के देखने से चित्त प्रसन्न होता है। काम करने मे स्फूर्ति मिलती है। सङ्गीत से तो मानसिक रोग भी अच्छे किये जाते हैं। स्थापत्य या वास्तु कला (Architecture) मे सौन्दर्य के साथ उपयोगिता का सम्मिश्रण रहता है। जिसको उपयोगी कला कहते हैं उसका ठीक नाम शिल्प अथवा Craft है। हमारे यहाँ स्थापत्य और मूर्तितक्षण कला को शिल्प कहा गया है।

आजकल लोग (विशेषकर क्रोचे से प्रभावित) कलाओ के वर्गीकरण के पक्ष मे नहीं है। कला आत्मा की ही अभिव्यक्ति है और आत्मा एक है। क्रोचे के मत से कला का जन्म कलाकार के अन्त.करण मे होता है। वहाँ पर विभाजन का कोई प्रश्न नहीं उठता। विभाजन कला का नहीं वरन् कला वृतियो का जो आन्तरिक कला के बाह्य रूप है, होता है। सामग्री और अभिव्यक्ति के माध्यम के भेद से कलाओ मे भेद माना गया है? क्रोचे के मत से मानसिक अभिव्यक्ति की अवस्था मे (उसके मत से वही असली कला है) कोई श्रेणियाँ नहीं रहतीं।

भारतवर्ष मे इसी कारण कलाओ का नाम परिगणन तो कराया है किन्तु वर्गीकरण नहीं हुआ है। कामसूत्रों मे ६४ कलाओ का उल्लेख है। उनमें कुछ उपयोगी कलाएँ भी हैं, जैसे सोना पीतल ढालना आदि किन्तु अधिकाँश कलाओं का सम्बन्ध बिलास-वैभव की सामग्री से है। कला की भारतीय परम्परा मे वे ही वस्तुएँ आती हैं जिनका जानना उस समय के विदग्ध पुरुष अथवा स्त्री के लिए आवश्यक था। रत्नों की परीक्षा, सोना-चाँदी ढालना, चारपाई बुनना आदि की कलाओं का भी सम्बन्ध विलास-वैभव से ही है। पाश्चात्य देशों मे जो मुख्य ललित कलाएँ मानी गई हैं वे सब चौसठ कलाओं मे आजाती है। मुख्य ललित कलाएँ पाँच हैं। (१) वास्तु कला

(भवन निर्माण कला) (२) मूर्ति-तक्षण कला। (३) आलेख्य (चित्रकला) (४) संगीत (५) काव्य। इनमे काव्य को छोड़कर सभी कलाएँ ६४ कलाओं में शामिल हैं। काव्य से सम्बन्धित काव्य के अङ्ग-स्वरूप अन्य कलाएँ भी जिनका काव्य के मनोरञ्जन पक्ष से अधिक सम्बन्ध है, इनमे आगई है।

इन कलाओं में पहली तीन का सम्बन्ध देश (Space) से है और पिछली दो का सम्बन्ध काल से है। संगीत की ताल, लय, काल से ही सम्बन्ध रखती हैं। कविता की मात्राएँ भी काल पर आश्रित है। इसीलिए पहली तीन कलाओं को पार्श्व-स्थापन (Juxtaposition) की कला कहते हैं और पिछली दो को पूर्वापर क्रम (Succession) की कला कहते है। पहली तीन का सम्बन्ध नेत्र से है और शेष दोनो का सम्बन्ध प्रधानतया करण से है। यदि इस विभाजन को इन्द्रियों पर आश्रित करते है और काव्य का सम्बन्ध केवल कानो से करते हैं तो दृश्यकाव्य का काव्य के क्षेत्र से बहिष्कार कर देना पड़ेगा। वैसे लिखे या छपे अक्षरों द्वारा काव्य का सम्बन्ध भी दोना इन्द्रियों से हो जाता है।

संगीत—इसको कामसूत्रों मे सब से पहला स्थान दिया गया है। इसमें देश का स्थान काल ले लेता है। यह कला गतिशील है। गीत, ताल, लय, ये सब गति के ही रूप है और कालाश्रित है। इससे नृत्य, वाद्य भी सम्बन्धित है। संगीत मे सामग्री उपादान नहीं बनती जैसी कि मूर्तिकला और चित्रकला मे किन्तु काव्य की भाँति वह माध्यम मात्र रहती है। संगीत का यदि कोइ उपादान है तो वायु के कम्पन। संगीत में विषय की इतनी महत्ता नहीं होती जितनी आकार और विधि की। उसकी भाषा सार्वजनिक होती है। वह भावो को उत्तेजित करता है। विषय की सम्पन्नता जैसी काव्य मे आती है संगीत में नहीं रहती है।

काव्य—इस कला की सामग्री भाषा है। भाषा और भाव का जलवीचि का सा ही सहज सम्बन्ध है। उसमे भाव और सामग्री को टकराहट नहीं होती है और यदि होती है तो विजय प्राप्ति के पश्चात सामग्री और भाव का पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। सङ्गीत इसका

सखा या सेवक बनकर इसका उपकार करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कलाओं की परम्परा में सामग्री क्रमशः कम होती गई है और उसी के साथ भाव का आधिक्य होता गया है।

तुलना और सम्बन्ध—ये कलाएँ एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। इन सब मे भाव की अभिव्यक्ति रहती है। वास्तुकला को किसी अंग्रेजी लेखक ने जमा हुआ सङ्गीत (Frozen music) कहा है। सङ्गीत की भाँति वास्तुकला की भी भाषा सार्वजनिक है। यदि उसमें गहराई मे कमी है तो व्यापकता का आधिक्य है। ताज के सौन्दर्य से सभी लोग प्रभावित होते है। वास्तुकला मे मानव की आकृति न रहते हुए भी वह मानवी भावो की द्योतक होती है। मूर्ति और चित्र में भावों के साथ आकृति भी रहती है। चित्र में मानव-आकृति के साथ प्रकृति की भी प्रतिलिपि, पृष्ठभूमि अथवा स्वतन्त्र रूप से आजाती है। रङ्गों के कारण उसमे यह विशेषता आ जाती है। मूर्तियाँ प्रस्तर चित्र है। काव्य मे भी चित्र उपस्थित किये जाते हैं। काव्य के चित्र शब्दों के माध्यम से कल्पना मे जाग्रत किये जाते हैं। चित्र और मूर्तियाँ अशिक्षित को भी प्रभावित कर सकती है। काव्य की पूरी बात तो नहीं किन्तु जहाँ तक मूर्त जगत का सम्बन्ध है वह चित्र मे अच्छी तरह आ जाता है किन्तु चित्र से भी अच्छे रूप मे काव्य का मूर्त और अमूर्त पर समान अधिकार है। चित्र में अमूर्त-की व्यञ्जना ही रहती है। काव्य में उसका साक्षात वर्णन होता है। वास्तुकला तो नितान्त एकदेशीय है। मूर्तियाँ और चित्र स्थानान्तरित हो सकते हैं किन्तु वे काव्य की भाँति सर्वजन-सुलभ नहीं हो सकते। सङ्गीत आकार-प्रधान काव्य है। काव्य सार्थक संगीत है। मानवीय भावो का उतार-चढ़ाव और उसकी सूक्ष्मताएँ जितनी काव्य मे अवतरित हो सकती हैं उतनी और किसी कला मे नहीं। नाटक काव्य और इतर कलाओं के संयोग का फल है। उसमे अभिनेताओं के सजीव माध्यम के प्रयोग के कारण अधिक सजीवता आ जाती है। तभी तो कहा है 'काव्येषु नाटकं रम्यम्'।

काव्य का संगीत से तो विशेष सम्बन्ध है ही किन्तु उसमें अन्य कलाओं का भी प्रतिनिधित्व होजाता है। काव्य में वास्तुकला के

एकता, पूर्णता, सन्तुलन, अनुपात आदि के गुण वर्तमान रहते हैं। मूर्ति कला और चित्रकला के से उसमें चित्र रहते ही हैं, अन्तर केवल इतना है कि उसमें चित्र शब्दमय होते है। काव्य का वर्णनांश चित्रकला से ही सम्बन्धित है। वर्णन का सम्बन्ध देश से है और विवरण या प्रकथन (Narration) का सम्बन्ध काल से है। काव्य में संगीत की तरलता, लय और गति भी है। इस प्रकार काव्य में सभी कलाओं के मूलतत्व आ जाते हैं। जो बात नाटक के सम्बन्ध मे कही गई है वह काव्य के सम्बन्ध मे भी सार्थक होती है। अन्तर इतना ही है कि नाटक मे अन्य कलाओं का प्रतिनिधित्व स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही रूप मे होता है और काव्य मे केवल सूक्ष्म रूप से ही होता है। फिर भी नाटक की भाँति काव्य के सम्बन्ध में कही हुई नीचे की उक्ति पूर्णतया सार्थक है।

न स शब्दो न तद्वाच्यं न सन्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवे.॥ —भामह

काव्य और अन्य कलाओं का पारस्परिक आदन-प्रदान भी होता रहता है। पाश्चात्य देशों मे तो काव्य के बहुत से वाद जैसे प्रभाववाद (Impressionism) वस्तुगत ब्युरे का वर्णन न करके मानसिक प्रभाव का वर्णन करना, चित्रकला आदि कलाओं से आये है। कविता के भावों को चित्रों में (विशेष कर नायक-नायिका आदि सम्बन्धी) अवतरित किया जाता है। चित्रकला मे भी रस निष्पत्ति के लिए वास्तविकता का आदर्शीकरण और किसी अंश मे साधारणीकरण भी रहता है। नायिकाओं के चित्रों मे व्यक्ति की अपेक्षा सामान्य Type की ओर अधिक प्रवृति रहती है। काव्य की भाँति ही चित्रकला में भी सामान्य और व्यक्ति के समन्वय की समस्या आती है। विहारी, विद्यापति आदि के काव्यमय वर्णनो के चित्र बनाये गये है। हमारे यहाँ के आचार्यों ने रसो के रङ्ग माने हैं। जैसे शृङ्गार का श्याम, रौद्र का लाल। इस प्रकार वर्णों द्वारा रसो और चित्रो का विशेष सम्बन्ध हो जाता है। काव्य की ही भाँति चित्र-कला में भी (जिसमे मूर्ति भी शामिल है) प्रत्यक्ष और प्रतीकात्मक (Symbolic) परोक्ष भाव भी रहता है। सूर्योदय चित्रकला मे भी एक भौतिक घटना मात्र नहीं रहता वरन् आशा का प्रतीक बन जाता है।

काव्य के वर्णनो के ही चित्र नहीं बने हैं वरन् संगीत की राग-रागिनियों के भी चित्र बनाये गये हैं। उनमें संगीत के अनुकूल वातावरण तो उपस्थित कर ही दिया जाता है किन्तु जो राग जिस रस से सम्बन्धित है उसकी भी अभिव्यक्ति हो जाती है। इस प्रकार कालगत वस्तु देशगत बना दी जाती है।

नृत्त मे तो ताल के अनुकूल पद-सञ्चालन होने के कारण काल की ही प्रधानता रहती है किन्तु नृत्य मे मूक अभिनय के रहने से जीवन के चित्र भी उपस्थित किये जाते है। नृत्य मे भावों की अनुकृति रहने के हेतु वह दृश्य काव्य के निकट आ जाता है। वाद्य की भाँति नृत्य का सम्बन्ध केवल श्रवणेन्द्रिय से नहीं वरन् नेत्रों से भी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चाहे पाश्चात्य देशों की भाँति काव्य को कलाओं के अन्तर्गत न करें किन्तु काव्य का अध्ययन कलाओं से वियुक्त करके नहीं कर सकते है किसी काल विशेष की काव्य सम्बन्धी तथा चित्रकला सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ का अध्ययन करें तो उनमें कुछ समानता मिलेगी। रवि वर्मा की चित्रकला तथा मैथिलीशरणजी की प्रारम्भिक कविताओं में द्विवेदीयुग की इतिवृत्तात्मकता तथा उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इसी प्रकार प्राचीन भारतीय चित्रकला मे भौतिक मान और अनुपात की अपेक्षा भाव को प्राधान्य मिलता है। उसमे वस्तुवाद की अपेक्षा, आदर्शवाद अधिक है। यही बात काव्य मे भी मिलती है। बङ्गाल के चित्र में भी छायावादी कविता की भाँति स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म की प्रवृत्ति अधिक है। आलोचक किसी समय या देश के काव्य के अध्ययन करते समय उस समय वा देश की अन्य कलाओं की स्थिति पर विचार किये बिना नहीं रह सकता है। यदि पाश्चात्य देशों मे काव्य का कलाओं के साथ अध्ययन किया जाता है तो उससे विशेष विचलित होने की बात नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि पाश्चात्य देशों मे काव्य को भी कलाओं की अनुकृति-प्रधान दृष्टि से देखा गया है किन्तु इसके विपरीत हमारे यहाँ कलाओं का विवेचन भी काव्य में मान्य रस और भाव की दृष्टि की मुख्यता देकर किया गया है।

इस दृष्टि से डाक्टर श्याम सुन्दरदासजी के हिन्दी भाषा और साहित्य में भारतीय चित्रकला का जो वर्णन है वह नितान्त भर्ती की

चीज नहीं है। सभी पाश्चात्य विचार हेय नहीं होते हैं और बहुत से विषयों में भारतीय और पाश्चात्य आचार्य एक मत हो सकते हैं। काव्य का कलाओं के साथ अध्ययन करना भारतीय संश्लिष्ट दृष्टि के अनुकूल है। कलाओं के सम्बन्ध मे विष्णुधर्मोत्तर, शुक्रनीतिसार, शिल्परत्न, मानसार आदि में बड़ा संश्लिष्ट विवेचन है।

विशेष—डाक्टर श्यामसुन्दरदासजी ने साहित्यालोचन में कलाओं को जो श्रेणीबद्ध किया वह हेगिल (Hegel) के विवेचन के आधार पर है। जिस कला में वाह्य सामग्री का प्रयोग जितना कम हो और आत्मा के भावों की अभिव्यक्ति जितनी अधिक हो उस अंश मे वही श्रेष्ठ कला है। इस दृष्टि से सबसे नीचे वास्तुकला है। (उसमे सामग्री का आधिक्य रहता है भावों की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत कम होती है) इस प्रकार उत्तरोत्तर मूर्त्ति कला, चित्रकला संगीत और काव्य में सामग्री कम होता जाती है और भावाभिव्यक्ति का आधिक्य होता है। काव्य में सामग्री (भाषा) और भाव की एकता हो जाती है। चित्रकला मे ब्धुरा (Detail) और भावाभिव्यक्ति तो अधिक होती है किन्तु उसमें स्थिरता रहती है। संगीत की सी तरलता नहीं रहती, संगीत मे तरलता है किन्तु वह आकारमात्र है। उसमे भावों और विचारों की सम्पन्नता नहीं। काव्य मूर्त सामग्री से भी स्वतन्त्र है। तभी कवि की वाणी को 'अनन्यपरतन्त्राम्' कहा है और उसमें संगीत की सी तरलता के साथ भावों और विचारो की सम्पन्नता भी है।

साहित्य की मूल प्रेरणाएँ

साहित्य की गौरव-गरिमा का गायन करते हुए प्रायः लोग कहा करते हैं कि वह पृथ्वी और स्वर्ग के बीच की वस्तु है। किन्तु वास्तव में साहित्यिक की गति त्रिशङ्कु की सी नहीं है। विश्वामित्र की भाँति साहित्यकार अपने यजमान को सदेह स्वर्ग पहुँचाने का दावा नहीं करता वरन् वह अपने योग-बल से इसी पृथ्वी पर ही स्वर्ग की प्रतिष्ठा कर देता है। पृथ्वी से ऊपर का स्वर्ग तो बिना मरे नहीं प्राप्त होता है। किसी वस्तु को स्वर्ग की है कहकर प्रतिष्ठा देना इस लोक का अपमान करना है। साहित्य इसी लोक की, किन्तु असाधारण वस्तु है और उसके मूल तन्तु जीवन से ही रस ग्रहण करते है।

साहित्य जीवन से भिन्न नहीं है वरन् वह उसका ही मुखरित रूप है। वह जीवन के महासागर से उठी हुई उच्चतम तरङ्ग है। मानव जाति के भावो, विचारों और सङ्कल्पो की आत्म-कथा साहित्य के रूप में प्रसारित होती है। साहित्य जीवन-विटप का मधुमय सुमन है। वह जीवन का चरम विकास है किन्तु जीवन से बाहर उसका अस्तित्व नहीं। उसमे पाचन (Assimilation) वृद्धि (Growth) गति (Movement) और पुनरुत्पादन (Reproduction) आदि जीवन की सभी क्रियाएँ मिलती हैं। अङ्ग अङ्गी से भिन्न गुण वाला नहीं होता। इसलिए जीवन की मूल प्रेरणाएँ ही साहित्य की मूल प्रेरक शक्तियाँ हैं। जो वृत्तियाँ जीवन की और सब क्रियाओं की मूल स्रोत हैं वे ही साहित्य को भी जन्म देती हैं।

जीवन की प्रेरणाएँ—जीवन की मूल प्रेरणाओं के सम्बन्ध में आचार्यों का मतभेद है। इनका विचार उपनिषद्-काल से चला आ रहा है। बृहदारण्यक उपनिषद मे पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा अर्थात् पुत्र की चाह, धन की चाह और लोक अर्थात् यश की चाह मानी है। ये साधारण मनुष्य की चाहें हैं। ब्राह्मण इनसे ऊँचा उठ कर त्याग का जीवन व्यतीत करता है, आत्मा को जान कर इनकी चाह नहीं रहती है:—

एवं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायश्च वित्तैषणायश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायभिक्षाचर्यं चरन्ति ।

योरुप के मनोविश्लेषण शास्त्र (Psycho analysis) का भी उदय इन्हीं प्रेरणाओं के अध्ययन के लिए हुआ । इस शास्त्र के तीन मुख्य सम्प्रदाय हैं । उनके आचार्यों के नाम हैं– फ्रॉइड (Freud) एडलर (Adler) और युंग (Jung) ।

फ्रॉइड ने प्रायः सभी क्रियाओं का मूल काम-वासना में माना है । ये वासनाएँ अपने विकसित रूप मे ही नहीं वरन् बाल्यकाल के अविकसित रूप मे भी जीवन की क्रियाओं की मूल प्रेरक शक्ति रहती हैं । ये सामाजिक शिष्टाचार और रोक-थाम के कारण जिस को फ्रॉइड ने अङ्गरेजी मे सेन्सर (Censor) कहा है, और हिन्दी मे हम औचित्य-दर्शक कह सकते हैं) उपचेतना मे दब जाती है । वहाँ से वे हमारे जीवन को प्रभावित करती है और अपने निकास का मार्ग खोजती रहती हैं किन्तु बदले हुए रूप मे, जिससे कि वे सेन्सर की निगाह और रोक-थाम से बची रहें ।

इन निकास के मार्गों मे मुख्य है—स्वप्न, दैनिक भूलें और हँसी-मजाक । कला और काव्य भी इन्हीं निकास के मार्गो मे से है किन्तु ये अधिक परिष्कृत और परिमार्जित है । साहित्य और कविता में वासना का उन्नयन या पर्युत्थान (Sublimation) हो जाता है । जैसे निराश प्रेम का देश-प्रेम में पर्युत्थान हो जाता है वैसे ही ईश्वर प्रेम या प्रकृति प्रेम के रूप मे वह साहित्य में आ जाता है । फ्रॉइड से प्रभावित लोग ऐसा ही मानते है ।

एडलर महोदय किसी अभाव या क्षति की पूर्ति को जीवन की मूल प्रेरक शक्ति मानते हैं । बच्चा छुटपन से ही किसी शारीरिक या परिस्थिति-सम्बन्धी कमी का अनुभव करता है । उसके मन में हीनता-भाव की एक गुत्थी जिसको अङ्गरेजी में Inferiority Complex कहते हैं बन जाती है । उसी से प्रेरित हो वह अपनी कमी को पूर्ण) करने के लिए भले या बुरे उपाय काम में लाया करता है । यही क्षति-पूर्ति का भाव उसके सारे जीवन को प्रभावित करता है । इस हिसाब से साहित्य-निर्माण हमारी किसी क्षति के पूर्ति के रूप मे ही होता है ।

इसके कुछ उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। अन्धे लोगों की कल्पना अधिक बढ़ जाती है क्योंकि वे उसी के द्वारा अपनी क्षति-पूर्ति करते हैं। अक्षिहीन सूर और मिल्टन इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। थ्रियोवियन भी अन्धा था। कबीर को अपने जुलाहेपन का हीनता-भाव था और इसीलिए वे कह उठते थे 'तू काशी का बाम्हन, औ मैं काशी का जुलाहा' इसी के कारण उनमें कुछ अहंभाव भी बढ़ा हुआ था। वे हिन्दू मुसलमान दोनों को फटकारते और अपने को देवताओं और मुनियों से श्रेष्ठ मानते थे। उन्होंने अपनी झीनी-झीनी चदरिया में दाग नहीं लगने दिया था।

जायसी को भी अपनी कुरूपता का गर्व था :—

> चाँद जैसे जग विधि औतारा।
> 'दीन कलंक कीन्ह उजियारा ॥'

तुलसी भी शायद अपनी स्त्री की डाट-फटकार से उत्पन्न हीनता भाव को दूर करने के प्रयत्न में इतने बड़े कवि बन गये। भूषण को अपनी भाभी के उलाहने को पूरा करने के लिए शिवाजी का आश्रय लेना पड़ा। एडलर ने बतलाया है कि कुटुम्ब का दूसरा लड़का अपने को जीवन की घुड़-दौड़ में पिछड़ा हुआ पाता है और वह अपनी बुद्धि और प्रतिभा के बल से आगे निकलना चाहता है। भूषण के संबंध में यह बात किसी अंश मे चरितार्थ होती है।

एडलर के सिद्धांत के मूल में प्रभुत्व कामना है, दूसरो पर हावी होने की प्रवृत्ति। उसके सिद्धान्तों के अनुकूल हमारे साहित्य के विभिन्न रूप इसी प्रभुत्व-कामना के फल हैं। विज्ञान, इतिहास, काव्य सभी में प्रभुत्व-कामना की प्रवृत्त परिलक्षित होती है।

युँग ने काम-वासना और प्रभुत्व कामना दोनों को जीवन-धारा के भिन्न-भिन्न पहलू माने है। उन्होंने जीवन-धारा को ही मुख्यता देते हुए कहा है कि कुछ लोगों मे काम-वासना का प्राधान्य रहता है और कुछ में प्रभुत्व-कामना का। इसी आधार पर उन्होंने मनुष्य को अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी नाम के दो टाइपों या प्रकारों मे बाँटा है। अन्तर्मुखी लोग अपना ही ख्याल करते हैं, उनमे प्रभुत्व-कामना का प्राधान्य रहता है, बहिर्मुखी लोग दूसरो का अधिक ख्याल रखते हैं। वे अपने

को दूसरों से शासित होना पसन्द करते हैं। उनमें प्राय: काम वासना की मुख्यत रहती है, इसका अभिप्राय: यह नहीं कि सभी बहिर्मुखी लोग काम-वासना से प्रेरित होते है। यह मोटा विभाजन है। प्रत्येक मनुष्य मे थोड़े बहुत अंश मे दोनों ही प्रवृत्तियाँ होती हैं। मै ख्याल करता हूँ कि अन्तर्मुखी लोग यदि कविता करते है तो वे व्यक्तित्व प्रधान प्रगीत काव्य की ओर अधिक झुकते है और बहिर्मुखी जग-बीती का वर्णन करते है।

भारतीय दृष्टिकोण—युंग मेरी समझ से भारतीय दृष्टिकोण के अधिक निकट आता हैं। उपनिषदों मे यद्यपि पुत्रेषणा (काम) वित्तैषणा (अर्थ) और लोकैषणा (यश) को प्रेरक शक्तियो के रूप मे माना है तथापि इनको नीचा स्थान दिया है और आत्म-प्रेम को सब क्रियाओ का मूल कारण माना है। 'सहोवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।' पति की कामना से पति प्रिय नहीं होता है वरन् आतमा की कामना से पति प्रिय होता हैं। इसी प्रकार उन्होने पुत्र और वित्त के सम्बन्ध मे भी कहा है। 'न वा अरे वितस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाम वित्तं प्रिय भवति'। इस प्रकार आत्म-प्रेम को श्रेष्ठता दिखा कर ऋषि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आत्मा पर विचार करने का उपदेश दिया था। काम-वासना और प्रभुत्व-कामना दोनो ही आत्म-प्रेम के नीचे रूप हैं। दोनों में ही आत्म-रक्षा की भावना ओत-प्रोत है। दोनों ही एक दूसरे के आत्म-प्रकाशोन्मुख बदले हुए रूप है। हमको न आत्माओ पर प्रभुत्व की आवश्यकता है और न उनको जड़ वस्तुओ की भाँति कामना का विषय बनाना है। हम चाहते हैं सहृदयता और सहानुभूति द्वारा भेद-भाव को तिरोहित कर आत्मा के अखण्ड चिन्मय आनन्दमय रूप की स्वानुभूति (self realisation), यही है अपने और पराये से परे 'न ममेति न परस्येति' वाली साधारणीकरण द्वारा प्राप्त काव्य की रसमय अवस्था, जिसको ब्रह्मानन्दसहोदर का अलौकिक रूप दिया गया है। यही आत्मानुभूति 'आत्म-रक्षा का क्रियात्मक रूप धारण करती है। जसे-जैसे हम भौतिक-सत्ता को रक्षा से उठकर आदर्शों की रक्षा की ओर जाते है वैसे ही हमारी आत्मानुभूति बढ़ती है! हमारी सारी क्रियाएँ इसी की भिन्न-भिन्न धाराएँ है। जीवन-लालसा तो है ही,

सरण-लालसा भी इसी का ही रूप है। मनुष्य किसी बृहत् स्वार्थ के लिए आत्म-बलिदान करता है और आत्म-हत्या में भी तभी प्रवृत्त होता है जब वह देख लेता है कि जीवन में उसके यश की रक्षा नहीं हो सकती है। होते सभी कार्य आत्म-रक्षा के निमित्त ही,किन्तु आत्म-रक्षा का संकुचित अर्थ लेने से वे निंद्य हो जाते हैं आत्म-रक्षा जितना उदार और विस्तृत हो उतनी ही वह श्रेयस की ओर ले जाने वाली कही जायगी। रक्षा के ही नाते भगवान विष्णु का पद देवताओं में उच्चतम है।

साहित्य भी हमारी रक्षा के भाव से प्रेरित होकर आत्मानुभूति का एक साधन बनता है। क्या विज्ञान, क्या इतिहास और काव्य सब तथाकथित अनात्म में आत्मा के दर्शन कर उसकी स्थिति-रक्षा, विस्तार और उन्नति के प्रयास है। विज्ञान और दर्शन द्वारा हम विश्व की व्याख्या अपने आत्मा के ही एकाकारिता सम्बन्धी नियमों के आलोक में करते हैं। हमको उन नियमों में आत्मा और अनात्मा की एकध्येयता के दर्शन मिलते हैं। अपने गोत्र को बढ़ते हुए देखकर किसको प्रसन्नता नहीं होती ? जब हम सारे ब्रह्माण्ड और एक रजकण में, कीरी और कुञ्जर में, पुष्प और पत्थर में एक ही गुरुत्वाकर्षण का नियम काम करते हुए देखते हैं तब हमको कितना आनन्द होता है ? तर्कशास्त्र द्वारा प्रतिपादित प्रकृति की एकाकारिता (Uniformity of nature) का नियम भी आत्मा की एकता और अखण्डता का प्रतिरूप है। काव्य का आनन्द भी आत्मा के विस्तार के कारण होता है। पूर्णता में ही सुख है। 'भूमा वै सुखम्' शेष सृष्टि के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध हमको आत्मा की पूर्णता की ओर ले जाता है। काव्य में आत्माभिव्यक्ति को प्रधानता दी जाती है। आत्माभिव्यक्ति अपनी आत्मा को मूर्तिमान कर अपने को विस्तार, देने के कारण आनन्द की उत्पादक होती है। साहित्य द्वारा 'एकोऽहं बहुस्यामि' के प्रतिरूप हम बहु की एकत्व में पुनरावृत्ति का दृश्य देखते हैं।

साहित्य शब्द भी हम को आत्म-रक्षा के भाव की ओर अग्रसर करता है। सहित होने के भाव को साहित्य कहते हैं। 'सहितस्य भावः साहित्यं' सहित के दो अर्थ हैं एक—हितेन सह सहितं और दूसरा अर्थ है—एक साथ। हित का अर्थ है बनाने वाला—दधातीति हितं।

हित में वही 'धा' धातु है जो विधाता में है और शायद इसी कारण विधाता की जाया वीणा-पुस्तक-धारिणी माता शारदा कला और विद्या की अधिष्ठात्री देवी है। वीणा कला का प्रतीकत्व करती है और पुस्तक विद्याओं का। यदि सहित का अर्थ साथ रहना इकट्ठा करने वाला लें तब भी वही भाव आता है। जो हमारे भावों और विचारों को इकट्ठा रख कर या मानव-जाति में एकसूत्रता उत्पन्न कर, अथवा जो काव्य के शरीर स्वरुप शब्द और अर्थ को परस्परानुकूलता द्वारा सप्राण बनाकर मानव जाति का हित सम्पादन करे वही साहित्य है।

साहित्य के भिन्न-भिन्न रूप आत्मरक्षा के ही स्वरूप हैं। धर्म हमारी आत्मा की वर्तमान और भावी रक्षा से सम्बन्ध रखता है। उसके द्वारा आत्मा का विस्तार भी होता है। इतिहास भूतकाल को हमारे सामने लाकर हमारे पूर्वजो के क्रिया-कलाप को अतीत के गर्त में विलीन होने से बचाता है। विज्ञान अनात्म जड़ पदार्थों को हमारे मन के नियमो से बँधा हुआ दिखाकर और उनके द्वारा हमारे भौतिक सुखो का साधन कर मानव आत्मा का विजय-गान उद्‌घोषित करता है। काव्य द्वारा सहानुभूति की वृद्धि के कारण आत्म-रक्षा विस्तृत रूप मे आती है।

काव्य के प्रयोजन—साहित्य के आचार्यों ने काव्य के भिन्न-भिन्न प्रयोजन माने है, उनमे कुछ प्रेरणा रूप आन्तरिक हैं और कुछ प्रयोजन रूप वाह्य हैं। पीछे की ओर देखने से प्रयोजन प्रेरणाओं का रूप धारण कर लेते है। भविष्य मे स्थित प्रेरणाएँ प्रयोजन बनती है। कुछ का सम्बन्ध साहित्य सृष्टा से है और कुछ का आस्वादक से है, किन्तु बहुत अंश में भोक्ता और सृष्टा के दृष्टिकोण मिल जाते है।

कुछ विद्वानो ने तो आनन्द को ही मूल प्रयोजन माना है क्योंकि यह रसास्वाद का फल या पर्याय है और इसमे और सब प्रकार का ज्ञान विलीन हो जाता है। 'सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्‌भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्' साहित्य दर्पणकार ने काव्य को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति का साधन बतलाकर अपने कथन की पुष्टि में भामह का निम्नोल्लिखित श्लोक उद्धृत किया है।

धर्मार्थ काममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिञ्च साधुकाव्य निषेवणम्॥

कहीं-कहीं निबन्धनम् भी पाठ है, किन्तु 'निषेवणम्' स्रष्टा और पाठक दोनों पर लागू हो सकता है। कीर्ति का लाभ तो अधिकतर कवि को ही होता है 'प्रीति' में पाठक और कवि दोनों का भाग है। इस श्लोक मे यह भी देखने की बात है कि काव्य को कला से भिन्न माना है। काव्य द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और कलाओं में कुशलता तथा कीर्ति और प्रीति (प्रसन्नता) की प्राप्ति होती है। ये सब प्राय: वाह्य प्रेरक हैं।

काव्य-प्रकाश—मे जो प्रयोजन कह गये है, वे कुछ विस्तृत है। देखिए:—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्य: परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

काव्य यश के अर्थ, धन के अर्थ, व्यवहार जानने के लिए अनिष्ट निवारण के निमित्त, शान्तिजन्य आनन्द और स्त्री के से मृदुल उपदेश के लिए होता है। इनमे से तीन यशसे, अर्थकृते और शिवेतरक्षतये कवि के लिए है आर शेष सहृदय पाठक के लिए। वृत्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि मम्मट ने दोनो का ध्यान रक्खा है ('यथायोगं कवे: सहृदयस्य च')।

यशसे—यश एक प्रधान प्रेरक शक्ति है। भगवान कृष्ण ने भी निष्काम कर्म की उक्ति को 'यशो लभस्व' से पुष्ट किया था। रघुवंशी लोग भी यश के परे न थे 'यशसे बिजिगीषूणाम्' इङ्गरेजी मे भी कहा है Fame is the last infirmity of noble minds अर्थात् ख्याति बड़े आदमियो की अन्तिम कमजोरी है। इस पर किसी ने कहा है कि छोटे आदमियो की यह पहली कमजोरी है। कालिदास आर भवभूति आदि ने काव्य, यश के लिए ही किया था। महाकवि भवभूति ने तो समानधर्मी के प्राप्त करने की प्रसन्नता के लिए लिखा था। वे काव्य की प्रेषणीयता (Communicability) और सामाजिकता मे विश्वास रखते थे।

अर्थकृते—काव्य के भौतिक प्रलोभनो मे सब से अधिक अर्थ

या धन है। कहा जाता है कि प्राचीन काल में धावक कवि को श्रीहर्ष से प्रचुर धन मिला था। रीति काल के कविगण प्रायः धन के लिए ही राज्याश्रय खोजा करते थे। बिहारी को एक मुहर फी दोहा दी जाने की बात लोक-प्रसिद्ध है। शाहनामा के लेखक फिरदोसी को भी एक-एक शेर पर एक अशर्फी का वायदा किया गया था किन्तु वह उसके मरने के बाद उस समय आई थीं जब कि उसका शव जा रहा था। उसकी लड़की ने वे अशर्फियाँ बादशाह को ही लौटा दी थीं। इङ्गलिस्तान के प्रसिद्ध उपन्यासकार स्कॉट Scott ने अपना कर्ज चुकाने के लिए वेवर्ली नोविल्स लिखे थे। किन्तु सब कवि धन के लोभ से प्रेरित नहीं होते। गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'स्वान्तःसुखाय' ही कविता लिखी 'स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति' और उन्होंने प्राकृत जनों के गुण-गान के सम्बन्ध में कहा है—'कीन्हे प्राकृतजन गुण गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछताना' कुम्भनदासजी ने 'सन्तन कौं कहा सीकरी काम' कह बादशाह के निमन्त्रण को ठुकरा दिया था। किन्तु आजकल जीवन की आवश्यकताओं के बढ़ जाने के कारण बिचारे साहित्यिक को सरस्वती और लक्ष्मी के परस्पर वैमनस्य का दुखद अनुभव प्राप्त करना पड़ता है। टैगोर या टैनीसन की भाँति विरले ही कवि अपनी सम्पन्नता के कारण आर्थिक चिन्ता से परे होते हैं, नहीं तो अधिकाँश साहित्यिकों के यहाँ चील के घोंसले में माँस की भाँति धन का अभाव ही रहता है।

व्यवहारविदे—काव्य से लोक-व्यवहार का ज्ञान पाठक को तो होता ही है किन्तु सृष्टा को भी होता है क्योंकि लिखने से पूर्व वह अपने ज्ञान को निश्चित कर लेता है। सूर और तुलसी के काव्य में उस समय के रीति-व्यवहार का ज्ञान होता है। यह तो इसके मोटे अर्थ हैं। काव्य के अध्ययन से व्यवहार की क्षमता भी प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि काव्य के अनुशीलन द्वारा मानव-हृदय के रहस्यों का पता चलता है और इसके कारण मनुष्य को वह अनुभव प्राप्त हो जाता है जो वर्षों के पर्यटन से न मिलेगा।

शिवेतरक्षतये—अर्थात् अनिष्ट-निवारण के अर्थ जो कविता लिखी जाती थी उसमें धार्मिक बुद्धि की प्रधानता रहती थी। काव्य प्रकाश में मयूर कवि का उदाहरण दिया है जिन्होंने कि सूर्य की शत-

श्लोकात्मक स्तुति कर अपने कुष्ट रोग का निवारण किया था। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी हनूमान बाहुक इसी उद्देश्य से (बाहुपीड़ा-निवारणार्थ) लिखा था।

आजकल लोगों को दैवी शक्तियों में तो विश्वास नहीं है किन्तु वे मानवी शक्तियों को ही सम्बोधित कर अनिष्ट-निवारण करने का उद्योग करते हैं। इस युग में केवल वैयक्तिक ही अनिष्ट-निवारण नहीं किया जाता वरन् समाज और देश के कष्ट-निवारण के लिए भी काव्य रचे जाते हैं। प्रगतिवाद का कुछ-कुछ ऐसा ही उद्देश्य है। किन्तु उच्च पदाधिकारियों की खुशामद में आर्थिक कष्ट-निवारणार्थ कविता लिखने वालों की इस युग में भी कमी नहीं है।

सद्यःपरनिर्वृतये—काव्य का मूल उद्देश्य यही है। काव्य के आस्वादन से जो रसरूप आनन्द मिलता है उसी की ओर इसमें लक्ष्य है। 'सहृदयस्यतु श्रवणानन्तरमेव सकलप्रयोजनेषूत्तमं स्थायिभावास्वादनसमुद्रभूतं वेद्यान्तरसम्पूर्कशून्यं रसास्वादरूपमानन्दम्' यद्यपि यह पाठक का लक्ष्य है तथापि इसमें वह अन्तःकरण का सुख भी शामिल है जिससे प्रेरित हो कवि काव्य का निर्माण करता है। कवि भी अपनी सृष्टि का उपभोग करता है। देवी सरस्वती ब्रह्मा की पुत्री और स्त्री भी मानी गई है। यह बात इसी सत्य को प्रकट करने के लिए कही गई है। कविता को 'ह्लादैकमयी' कहा गया है। उसकी उत्पत्ति में आह्लाद है, उत्पन्न होकर सृष्टा को आह्लाद प्रदान करती है और फिर वही आह्लाद सहृदय पाठक मे संक्रमित हो जाता है और पाठक तथा श्रोता दोनों ही व्यक्तित्व के बन्धनों से मुक्त हो एक ऐसी भाव-भूमि में पहुंच जाते हैं जहाँ उस विषय की तन्मयता में, और किसी वस्तु का भान नहीं रहता और आत्मा के नैसर्गिक आनन्द की झलक मिल जाती है। उस अनुभव में जीवन की सारी कटुताएँ कर्कशताएँ, विषमताएँ वेदनाएँ एक अलौकिक साम्य को प्राप्त हो जाती हैं। वहाँ अनेकता में एकता भेद में अभेद, व्यक्ति में सामान्य के दर्शन होने लगते हैं। तभी तो लोग कहते हैं कि यदि विश्वशान्ति का कोई साधन है तो साहित्य,

कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे—काव्य में उपदेशात्मकता रहने या न रहने के सम्बन्ध में आजकल बहुत वाद-विवाद उठा करते हैं। कोई लोग काव्य को नीति से बिलकुल अछूता मानते हैं फिर उपदेश

देने की बात कहाँ रही। मुन्शी प्रेमचन्दजी के ऊपर भी यह आक्षेप किया गया है कि वे उपन्यासकार का रूप छोड़कर उपदेशक का रूप धारण कर लेते हैं। इस सम्बन्ध मे यह भी कहा जाता है कि उपदेशक के लिए हम काव्य को क्या पढ़ें, धर्म ग्रन्थ क्यो न पढ़ें ? काव्यकार और धर्मोपदेष्टा के दृष्टिकोण मे अन्तर है। उसी अन्तर को दिखाने के लिए 'कान्तासंम्मिततयोपदेशयुजे' कहा है। शास्त्र मे शब्द तीन प्रकार के बतलाये गये हैं—प्रभुसम्मितः, सुहृत्सम्मितः, कान्तासम्मितः। प्रभु सम्मितः शब्द मे आज्ञा रहती है, वेद के विधि वाक्य इसी प्रकार के हैं, सुहृत्सम्मितः मे आज्ञा नहीं रहती है, ऊँच-नीच और इष्टानिष्ट होने की बात समझाई जाती है। इतिहास पुराणादि का उपदेश इसी प्रकार का होता है। कान्तासम्मितः में स्त्री के प्रेम से मिश्रित उपदेश होता है। उसमें रस रहता है। काव्य का उपदेश व्यञ्जना-प्रधान होने के कारण सरस होता है। काव्य का रस कटु औषधि को मिष्ट बना देता है। 'गुड़जिह्वकया शिशूनिवौषधम्' बच्चों को गुड़ मिली हुई औषधियाँ आजकल की शर्करावेष्टित कुनेन की गोलियों (Sugar-coated pills) की तरह काव्य कटु उपदेश को भी ग्राह्य बना देता है।

कविवर बिहारीलाल का 'नहि पराग नहिं मधुर मधु, नहि विकास यह काल। अली कली ही सौं बँध्यौ, आगे कौन हवाल', वाले दोहे ने राजा जयशाह पर जादू का-सा असर किया। यदि वे लट्ठमार कोरा उपदेश देते तो शायद वे किसी षड्यंत्र के चक्कर में पड़ कर जान से भी हाथ धो बैठते।

स्वान्तःसुखाय—तुलसी ने अपने काव्य को स्वान्तःसुखाय कहा है। 'स्वान्तःसुखाय तुलसीरघुनाथगाथाभाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति' स्वान्तःसुखाय से केवल उनका यही अभिप्राय है कि उनको रामगुण गाने से अलौकिक सन्तोष मिलता था। वे धन और यश के प्रलोभनों से परे थे।

वास्तव मे सत्काव्य स्वान्तःसुखाय ही लिखा जाता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह श्रोताओं के लिए नहीं होता। काव्य को कहने और सुनने मे सुख मिलता है लेकिन आत्माभिव्यक्ति का सुख अभिव्यक्त कर देने मात्र से समाप्त नहीं हो जाता। कवि अरण्यरोदन करना नहीं चाहता, वह अपने समानधर्मियो तक अपनी बात पहुँचाना

चाहता है। भवभूति तो अनन्त काल तक ठहरने को तैयार थे। 'कालोह्ययंनिरवधिर्विपुलाच पृथ्वी' गोस्वामी तुलसीदासजी यद्यपि स्वान्तःसुखाय लिखते हैं फिर भी उनको बुधजनों के आदर की फिक्र रहती है।

जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं, सो स्रम बादि बाल कवि करहीं -

कवि अपने को, पाठक और श्रोताओं के साथ भाव के एक सूत्र में बाँधने का सुख प्राप्त करता है। साधारणीकरण में भी कला की सामाजिकता का भाव निहित रहता है। काव्य के प्रयोजनों में यदि सामाजिकता को भी स्थान दिया जाय तो कुछ अनुचित न होगा।

कला के प्रयोजन—पाश्चात्य देशों में प्रायः काव्य को कलाओं के अन्तर्गत माना है। इस कारण वहाँ काव्य के प्रयोजनों का विवेचन व्यापक रूप से कला के प्रयोजनों के साथ चलता है। कला के प्रयोजन बहुत से माने गये हैं किन्तु उनमें नौ अधिक प्रख्यात हैं। वे इस प्रकार हैं—

१— Art for Art's sake, कला कला के अर्थ।

२—Art for life's sake, कला जीवन के अर्थ।

३—Art as an escape from life, कला जीवन से पलायन के अर्थ।

४—Art as an escape into life, कला जीवन में प्रवेश के लिए।

५—Art for service's sake. कला सेवा के अर्थ।

६—Art for self-realization कला आत्मानुभूति के अर्थ।

७—Art for joy, कला आनन्द के अर्थ।

८—Art for recreation, कला विनोद के अर्थ।

९—Art as creative necessity, कला सृजन की अदम्य आवश्यकता-पूर्ति के अर्थ।

ये सब प्रयोजन एक दूसरे से नितान्त भिन्न नहीं हैं, फिर भी इनमें दृष्टिकोण की भिन्नता है। इन पर हम अलग-अलग संक्षिप्त रूप से विचार करेंगे।

१–कला-कला के अर्थ–इस वाद ने अपने दुरुपयोग में अधिक

ख्याति पाई है। कला का प्रयोजन उसकी उपयोगिता में नहीं है और उसका मूल्य आर्थिक या नैतिक मान से निश्चित करना उसके साथ अन्याय करना है। कला से परे और किसी बाह्य वस्तु को उसका प्रयोजन रूप से नियामक मानना उसके स्वायत्त शासन मे अविश्वास है और उसको स्वाधीनता के स्वर्ग से घसीट करके अन्धकारमय गर्त मे ढकेलना है। जब दुर्गंधपूर्ण शव-परीक्षा करते हुए आन्तरिक अवयवों की वीभत्सता के प्रसार के लिए यमराज नहीं वरन् गृद्धराज सहोदर डाक्टरो को और जब कोयले के रूपमे प्रस्तरीभूत कालिमा को भक्षण कर धुएँ के पहाड़ो को वमन करने वाली मिलों के करण कुहर भेदी कर्कश नाद के लिए अर्थशास्त्र के पण्डितो को कलाविदो की चटसाल मे संवेदनशीलता की शिक्षा के लिए नहीं भेजा जाता तो बेचारे कलाकार पर नीति और अर्थशास्त्र का अङ्कुश क्यो?—निरङ्कुशाः कवयः। कला की मनोमुग्धकारिणी सुन्दरता ही उसकी परम उपयोगिता है। (यह कलावादियों का पक्ष है, मेरा नहीं है)

यह वाद कला-सृजन की अदम्य आवश्यकता (Art as a creative necessity) वाले वाद से मिलता है, अन्तर इतना ही है कि कलावाद मे बाह्य प्रयोजन के अभाव के ऊपर जोर दिया जाता है, इसमे आन्तरिक प्रेरणा की अदम्यता को महत्व प्रदान किया जाता है। प्रसादजी के स्कन्दगुप्त मे देवसेना और विजया के संवाद में इन दोनो का सम्मिलित स्वर मिलता है। देवसेना सङ्गीत-कला की उपासिका है। वह समय-कुसमय गाती रहना चाहती है। इस सम्बन्ध मे अर्थ और प्रयोजन की प्रतीक श्रेष्ठि-कन्या विजया आपत्ति उठाती है। उसका समाधान करते हुए देवसेना पूछती है:—

'तुमने एकान्त टीले पर सबसे अलग, शरद के सुन्दर प्रभात मे फूला हुआ फलों से लदा पारिजात वृक्ष देखा है?'

विजया—'नहीं तो।'

देवसेना—'उसका स्वर अन्य वृक्षों के स्वर से नहीं मिलता। वह अकेले अपने सौरभ की तान से दक्षिण पवन मे कम्प उत्पन्न करता है। कलियों चटका कर, ताली बजा कर झूम-झूम कर नाचता है। अपना नृत्य, अपना संगीत वह स्वयं देखता है। उसके अन्तर में जीवन-शक्ति वीणा बजाती है। यही गोस्वामीजी का स्वान्तःसुखाय

भी है। वास्तव में कला कला के अर्थ का शुद्ध स्वरूप भारतीय स्वान्तःसुखाय ही मे मिलता है जो काव्य को अर्थ और यश के बाह्य प्रलोभनों के परे बतलाता है किन्तु विकृत रूप मे यह कला का नीति से विच्छेद कर देता है। वास्तव मे कला का नीति से विच्छेद करना उसको संकुचित बनाना है। स्वतंत्रता का अर्थ दूसरो की अवहेलना नहीं। नीति भी सौन्दर्य का ही आन्तरिक रूप है। व्यापक बनने के लिए आत्म-संकोच आवश्यक हो जाता है। रवि बाबू ने कला का उपयोगिता से परे माना है किन्तु वे उसका मङ्गल के साथ समन्वय करते है। आत्म-मङ्गल पर-मङ्गल के साथ अनस्यूत है और पर-मङ्गल बिना आत्म-सङ्कोच के सम्भव नहीं।

२—कला जीवन के अर्थ—कला का उदय जीवन से है, उसका उद्देश्य जीवन की व्याख्या ही नहीं वरन् उसे दिशा भी देना है। वह जीवन मे जीवन डालती है। वह स्वयं साधन न बनकर एक बृहत्तर उद्देश्य की साधिका होकर अपने का सार्थक बनाती है। वह जीवन को जीवन योग्य बनाकर उसे ऊँचा उठाती है। वह जीवन में नये आदर्शों की स्थापना कर उनका प्रचार करती है और हमारे जीवन की समस्याओं पर नया प्रकाश डालती है। यही कान्ता के सदृश उपदेश देना है।

कला के इस आदर्श के अनुकूल कला द्वारा हमारी शक्तियों का विकास तथा आत्मगत भावों की तुष्टि और पुष्टि होती है। हमारे-आलम्बनों का क्षेत्र विस्तृत होजाने से हमारी सहानुभूति बढ़ती है और हमारे जीवन को पूर्णता मिलती है। इस प्रकार कला जीवन की सहचरी बन जाती है। टॉलस्टाय ने कला का कुछ ऐसा ही आदर्श माना है—

"The destiny of art in our time is to transmit from the realm of reason to the realm of feeling the truth that well-being for men consists in their being united together and to set up in place of existing reign of force, that kingdom of God which is love, which we all recognise to be the aim of human life."

टॉलस्टाय के मत से कला का उद्देश्य बुद्धि के क्षेत्र से भाव के क्षेत्र में उस सत्य को ले जाना है जो कि यह बतलाता है कि मनुष्यों का कल्याण उनके एक होकर रहने में तथा ईश्वर की उस बादशाहत के स्थापित करने मे है जो कि प्रेम पर आश्रित है और जिसको हम जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं। साहित्य शब्द मे भी सहित अर्थात हित के साथ होने का भाव है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी उसी कृति को सार्थक कहा है जो सब का हित साधन करे।

कीरति भणित भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

मुन्शी प्रेमचन्द के उपन्यास प्रायः जीवन के ही लिए लिखे गये है। प्रगतिवाद का प्रयोजन भी प्रायः ऐसा ही है। किन्तु उसमें वर्ग-संघर्ष की भावना कुछ अधिक है।

३—कला जीवन से पलायन के अर्थ—इस मत के मानने वाले लोग प्रायः ऐसे ही होते हैं जो संसार की विषमताओं और कर्कशताओं का सामना करने की शक्ति नहीं रखते अथवा जीवन के सङ्घर्ष मे पराजित हो जाते है। वे काव्य और कला को एक सौरभमय आश्रय-भूमि के रूप मे मानते है। ये लोग सोचते हैं कि दुनियाँ का सुधार हमारे वश का नहीं, उसके सङ्घर्ष में पड़कर हम क्यो अपनी शान्ति भङ्ग करें, कला की विश्राम-दायिनी गोद में बैठकर क्यों न अपने दुख तथा संसार को भूल जायँ? हम शहर के अँदेशे से वृथा क्यो लटें? हम संसार के ककश करुणा-क्रन्दन से अपनी नींद क्यो हराम करें और दुर्गन्धयुक्त वातावरण से अपनी नाक को क्यो सड़ावें? हम क्यो न नदी के उस पार लहलहाती फुलवाड़ी के सामने बैठ कर शोर-गुल से छुटकारा पायें?

ऐसे लोग वास्तविकता की कठिन भूमि छोड़ कर कल्पना के स्वप्न लोक में विचरना चाहते हैं। ऐसे स्वप्न-लोक का एक चित्र देखिए—

चाहता है यह पागल प्यार, अनोखा एक नया संसार।
कलिया के उच्छ्वास शून्य में ताने एक वितान।
तुहिन कणों पर मृदु कम्पन से सेज बिछादे गान।

जहाँ सपने हों पहरेदार,
अनोखा एक नया संसार,

प्रसादजी की अनेक बार उद्धृत की हुई नीचे की पंक्तियाँ इसी पलायनवाद (Escapism) का परिचय देती हैं।

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक ! धीरे धीरे।
जिस निर्जन मे सागर-लहरी,
अम्बर के कानो मे गहरी।
निश्छल प्रेम कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।

यह पलायनवाद जीवन की फिलासफी के रूप में न ग्रहण किया जाय तो इतना बुरा नहीं है। यदि कोई शक्ति ग्रहण करने के निमित्त निश्चित काल तक विश्राम लेता है या मन-बहलाव के लिए कुसुम के प्यालो मे मधुबालाओं के साथ मधु पान की बात करता है तो पलायनवाद क्षम्य हो सकता है किन्तु यदि कोई सौरभमय वाटिका के प्रकोष्ट के द्वार बन्द करके संसार से सम्बन्ध विच्छेद कर ले तो हम इसे कायरता ही कहेंगे। क्षणिक विश्राम की आवश्यकता तो दुष्यन्त के प्रतिहारी ने भी स्वीकार की है।

पालि प्रजा सन्तान सम, थकित चित्त जब होइ।
ढूँढ़त ठाँउ इकन्त नृप, जहाँ न आवे कोइ॥
सब हाथिन गजराज ज्यो, लेके बन के माँह।
घाम लग्यो खोजत फिरत, दिन मे शीतल छाँह॥

श्री बच्चनजी ने अपने 'आकुल अन्तर' नाम के काव्य-संग्रह में इसी प्रकार के स्वस्थ पलायन-वाद का समर्थन किया है—'कभी करूँगा नहीं पलायन जीवन से, लेकर भी प्रण मन मेरा खोजा करता है, क्षण को वह ठौर छिपालूँ अपना शीश जहाँ, अरे है वह वक्षस्थल कहाँ ?'

४—कला-जीवन में प्रवेश के अर्थ—कला का उद्देश्य जीवन से पीठ दिखा कर भागना नहीं है वरन् उसके द्वारा जीवन के गहनबन में प्रवेश कर उसमे सौन्दर्य के दर्शन करना है। जो संसार के रुदन

और काली रात से भागता है वह उस के हास की चन्द्रिका से वञ्चित रहता है। सच तो यह है कि काली रात में भी एक विशेष सौन्दर्य है।

इस धरती के रोम रोम में,
भरी सहज सुन्दरता।
इसके रज को छू प्रकाश बन,
मधुर विनम्र निखरता।

प्रसादजी केवल पलायनवादी नहीं हैं। उन्होंने भी जीवन को जगाया है—'अब जागो जीवन के प्रभात, रजनी की लाज समेटो तो, कलरव से मेटो तो,' कामायनी मे भी श्रद्धा मनु को प्रवृत्ति की ओर ले जाती है। पंतजी ने भी कहा है, 'तेरी मधुर मुक्ति है बन्धन'।

कलाकार हमारे जीवन के सौन्दर्य पक्ष का उद्घाटन कर हमको उसमे अनुरक्ति प्रदान कर उसके प्रति प्रयत्नशील बनाता है।

५—कला सेवा के अर्थ—सेवा जीवन का एक मधुर पक्ष है। सेवा द्वारा मनुष्य ऊँचा उठता है। अस्पतालों में मरीजो को कविता सुनाना, संगीत सुनाना यह कला का सेवा-पक्ष ही है।

६ और ७—आत्मानुभूति और आनन्द के अर्थ— यह भारतीय आदर्श के निकट है। कला द्वारा आत्मानुभूति मे सहायता मिलती है। कला मे हम अपने भावों को मूर्त्तिमान देखकर एक प्रकार से अपनी आत्मा के दर्शन ही करते हैं। उसमें हमको आत्मानुभव का आनन्द आता है। वह 'सद्य. परनिर्वृ तये' के निकट आ जाता है। यह आनन्द मन को व्याप्त कर लेता है और स्रष्टा के सम्बन्ध मे यह रसके बहुत निकट है। वह (६) सृजन की अदम्य आवश्यकता (Creative necessity) को जन्म देता है।

८—मनोविनोद के अर्थ—यह आनन्द से नीचे की श्रेणी है। यह दिल बहलाव, दुख के भूलने के लिए, जैसा कि दुष्यन्त ने शकुन्तला का चित्र बना कर किया था अथवा मन की ऊब मिटाने के लिए, जैसे लोग कभी-कभी कुछ गुनगुना उठते हैं, होता है। अच्छे आदमियों मे मनोविनोद भावी कार्य-परायणता की तैयारी के रूपमें रहता है।

६—सृजन की अदम्भ आवश्यकता के अर्थ—काव्य की मूल प्रेरणाएँ आन्तरिक ही हैं। कवि में हृदय का ओज या उत्साह ही जो रस का ही रूप है उसको सृजन कार्य में प्रवृत्त करता है। इसके बिना आत्माभिव्यक्ति की इच्छा जो बड़ी प्रबल होती है व्यर्थ हो जाती है। सच्चा साहित्य तभी रचा जाता है जब भाव हृदय सङ्कुचित सीमाओं मे सीमित रह कर बाहर आने को छट-पटा उठते हैं। सूर, तुलसी, मीरा आदि कवियों की रचनाएँ हृदय का बाँध फाड़ कर निकली हुई प्रतीत होती हैं।

विशेष—भारतीय दृष्टि मे आत्मा का अर्थ संकुचित व्यक्तित्व नहीं है। विस्तार मे ही आत्मा की पूर्णता है। लोक-हित भी एकात्मवाद की दृढ़ आधार-शिला पर खड़ा हो सकता है। यश, अर्थ, यौन सम्बन्ध (Sex) लोक-हित सभी आत्महित के नीचे या ऊँचे रूप हैं। ये सभी हृदय के ओज को उद्दीप्त कर काव्य के प्रेरक बन जाते हैं। हृदय का ओज अर्थकृते काव्य को भी (जैसे बिहारी के सम्बन्ध में) सप्राण बना देता है। पाठक के सम्बन्ध मे रस (सद्यः परनिर्वृत्तये) ही मूल प्रेरणा है। रस लेखक और पाठक दोनों का प्रेरक है। सभी उद्देश्य इससे अनुप्राणित होते हैं। यह सबका जीवन रस है। स्वयं रस भी इनसे निरपेक्ष नहीं (ब्रह्मानन्द वस्तुनिरपेक्ष होता है, यही दोनों सहोदरों का अन्तर है। इन सब प्रयोजनों मे वही उत्तम है जो आत्मा की व्यापक से व्यापक और अधिक से अधिक सम्पन्न अनभूति में सहायक हो। इसी से लोक-हित का मान है।

———

कविता और स्वप्न—(कल्पना)

आत्म-प्रसङ्ग—यद्यपि मैं कविता करने के सौभाग्य से वंचित रहा हूँ तथापि मैं क्षम्य गर्व के साथ कह सकता हूँ कि स्वप्नों के सम्बन्ध मे मेरी मस्तिष्क-भूमि बड़ी उर्वरा है। किन्तु मेरे स्वप्न किसी कवि, सुधारक आविष्कारक या राष्ट्र-निर्माता के-से नहीं होते वरन् वे ऐसे होते हैं जो चिन्ताग्रस्त, भग्नमनोरथ तथा भावाक्रान्त लोगो के संतप्त और उद्वेजित मस्तिष्क को रात में भी क्रिया-शील बनाये रखते है और जिनकी थकावट हार्लिक्स माल्टेड मिल्क के विज्ञापनो को भी मिथ्या प्रमाणित करने का श्रेय प्राप्त कर सकती है। जहाँ तक मेरे निजी अनुभव का सम्बन्ध है, मै तो अब ज्ञानियो की भाँति जागरण को एक ईश्वरीय वरदान समझता हूँ किन्तु मैं जानता हूँ कि कुछ लोग ऐसे सुख-स्वप्न अवश्य देखते हैं कि जिनसे जागना एक अभिशाप होता है। और लोग तो सोकर खोते है, ऐसे लोग जागकर खोते हैं। देखिए—'मीरन और तो सोय के खोवत मै सखि प्रीतम जागि गँवाये कविता यदि स्वप्न है तो ऐसा ही सुख-स्वप्न है।

स्वप्न और कविता का तादात्म्य तो नहीं हो सकता क्योंकि स्वप्न के मानसिक प्रत्यक्ष, वास्तविक प्रत्यक्ष से कम सजीवता नहीं रखते है। (उसमे तात्कालिक सत्य तो अवश्य ही होता है) हमे कभी-कभी अपने स्वप्नो की सत्यता मे सन्देह होने लगता है किन्तु वह शका भी शीघ्र ही स्वप्न-जाल मे विलीन होजाती है। स्वप्न मे बाह्य-संसार से हमारा अपेक्षा-कृत सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। कविता मे ऐसा अधिक नहीं होता।

स्वप्न के तत्व—कविता स्वप्न तो नहीं किन्तु वह उसकी कुटुम्बिनी अवश्य है और दिवा-स्वप्नो के बहुत निकट आ जाती है। यदि हम स्वप्न का विश्लेषण करके देखें तो उसकी बहुत-सी सामग्री हमको कविता मे मिल जायगी। स्वप्न के उदय होने मे कुछ बाह्य कारण होते है और कुछ भीतरी। साधारण प्रत्यक्ष (Perception) मे बाहरी सामग्री संवेदना (Sensations) के रूप में आती है

किन्तु हमारी पूर्वस्मृतियाँ आदि मिलकर उस वस्तु की प्रत्यभिज्ञा (Cognition) और उसे निश्चित आकार-प्रकार देने में सहायक होती हैं। जहाँ यह मानसिक क्रिया आवश्यकता से अधिक होती है वहीं भ्रम हो जाता है और स्थाणु पुरुष का रूप धारण कर लेता है। स्वप्न में यह बाहरी सामग्री बहुत कम होती है। इन संवेदनों (Sensations) के लिए बाहरी आघात अवश्यक नहीं। जहाँ थोड़ा उत्तेजना होती है वहाँ उस पर मानसिक क्रिया चल पड़ती है और उसको केन्द्र बना स्वप्न का जाल बुन लिया जाता है। बाहर कहीं घण्टा बजा तो स्वप्न-द्रष्टा अपने मन की स्थिति के अनुकूल गिरजा या मन्दिर रच लेता है, या स्कूल या कालेज समय पर न पहुँचने की चिन्ता से व्यथित हो भागने लगता है अथवा रेलगाड़ी ट्राम या मोटर की रचना कर लेता है। भागने-दौड़ने तथा उड़ने के स्वप्न बहुत कुछ सोते समय हाथ-पैरों की स्थिति पर निर्भर रहते हैं। कभी-कभी मच्छर की भन-भनाहट गान में परिणत हो जाती है, कभी-कभी पैर सो जाने आदि की आन्तरिक संवेदना भी होती है। उस समय स्वप्न-द्रष्टा प्रायः ऐसे स्वप्न देखने लगता है कि कोई अजगर उसके पैर को लपेटे हुए है। यह ग्राह्य सामग्री कभी-कभी स्वतःचालित स्नायविक उत्तेजना (automatic nervous excitement) से मिल जाती है।

स्वप्न के उपादान तो कल्पना के चित्र होते हैं और उनका तारतम्य अनियन्त्रित सम्बन्ध-ज्ञान (free association) के बल चलता रहता है। इनमें हमारी अभिलाषाएं भी बहुत-कुछ योग देती हैं। हमारी चिन्ताएं, उपचेतना में दबी हुई अभिलाषाएं, अतृप्त वासनाएं और कभी-कभी ऐसी बातें जिनकी हमारे मन पर गहरी छाप पड़ी हो कल्पना के चित्रों के चुनाव में कारण बनती हैं। फ्रॉयड ने स्वप्न के सम्बन्ध में बहुत-कुछ अनुसन्धान किया है किन्तु उन्होंने उपचेतना में दबी हुई अतृप्त वासनाओं और विशेषकर कामवासनाओं पर अधिक जोर दिया। उनके मत से स्वप्नों में प्रतीकत्व (symbolism) भी होता है जो कि वासनापूर्ति के नग्न स्वरूप पर आवरण डाल देता है, जैसे कोई अपने जान-पहचान के किसी मनुष्य को जिससे कभी छुटपन में लड़ाई हो गई हो फाँसी के तख्ते पर न लटका हुआ देखकर केवल तख्ते उतारते या चीरते देखे। अधिकांश स्वप्न अभिलाषा-पूर्ति के या किसी चिन्ता का हल ढूँढ़ने के होते हैं।

वह भी एक प्रकार की अभिलाषा-पूर्ति है। इस प्रकार स्वप्न में इतने तत्त्व आ जाते हैं—(१) कुछ बाहरी संवेदना (२) कल्पना (३) सम्बन्ध ज्ञान (४) इच्छा, अभिलाषा, वासना जिसकी पूर्ति या अपूर्ति जो उसमें कुछ रागात्मकता ले आती है। (५) वेद्यान्तर सम्पर्कशून्यता अर्थात अपने विषय के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु का भान न होना।

दिवा-स्वप्नों में भी क़रीब-क़रीब यही बातें होती हैं किन्तु उनका प्रत्यक्षीकरण इतना सजीव नहीं होता जितना कि रात्रि-स्वप्नों का। इसका कारण यह है कि दिन में कल्पना के बहाव में बह जाने पर भी बुद्धि का कठोर शासन बना रहता है और वास्तविक संसार से हमारा पूर्ण विच्छेद भी नहीं होता।

कल्पना—यहाँ पर कल्पना के सम्बन्ध में दो एक शब्द कह देना अनुपयुक्त न होगा। कल्पना वह शक्ति है, जिसके द्वारा हम अप्रत्यक्ष के मानसिक-चित्र उपस्थित करते हैं। कल्पना का अंग्रेज़ी पर्याय Imagination है। यह शब्द Image या मानसिक चित्र से बना है। संस्कृत में कल्पना शब्द क्लृप धातु से बना है, जिसका अर्थ है सृष्टि करना। स्वर्ग के कल्प-वृक्ष की भाँति कल्पना भी मनचाही परिस्थिति उपस्थित कर देती है। कल्पना-द्वारा उपस्थित किये हुए चित्र भूत-भविष्य और वर्तमान तीनों काल के हो सकते हैं। मैं कालेज में बैठा हुआ घर पर जो हो रहा होगा उसकी कल्पना कर सकता हूँ। यह वर्त्तमान किन्तु अप्रत्यक्ष के सम्बन्ध में कल्पना है। शिवाजी या शाहजहाँ औरङ्गज़ेब द्वारा कैद किये जाने पर क्या सोचते होंगे यह भूत की कल्पना है और भावी युद्ध कैसे होंगे यह भविष्य सम्बन्धी कल्पना है। कल्पना असङ्कलित (Passive) और संकल्पित (Active) दोनों प्रकार की होती है। असङ्कलिपत कल्पना ही दिवास्वप्नों और स्वच्छन्द कल्पना (Fancy) में परिणत हो जाती है। स्वप्न में भी इसी प्रकार की कल्पना काम करती है। जब हमारे मानसिक चित्रों का तारतम्य बिना किसी प्रयास के चलता रहता है तब वह निष्क्रिय कहलाती है और जब वह प्रयास से चलता है तब वह सक्रिय होती है। इसके अतिरिक्त कल्पना का एक और विभाग किया गया है; जब पिछले दृश्य जैसे-के-तैसे कल्पना में दुहराये जाते हैं

तब उसे पुनरावृत्त्यात्मक (Reproductive) कहते हैं और जब पहले के चित्रों में उलट-फेर होता है या उनके नये योग किये जाते हैं तब वह सृजनात्मक (Productive) कहलाती है। हमने स्वर्ण भी देखा है और मृग भी। इस प्रकार हम स्वर्ण-मृग की कल्पना कर सकते हैं। किन्तु इस प्रकार की कल्पना की सीमाएँ होती हैं। हम दो विरोधी बातों को एक साथ नहीं जोड़ सकते हैं, हम ऐसी वस्तु की कल्पना नहीं कर सकते हैं जो एक साथ नारंगी सी गोल और पैसे सी चपटी भी हो, जो एक ही साथ सफेद हो और काली भी।

कल्पना का हमको हर समय काम पड़ता है। साधारण प्रत्यक्ष में आधा वास्तविक प्रत्यक्ष होता है और आधा काल्पनिक। हम वृक्ष का एक पहलू देखते है, और दूसरे की सत्ता कल्पना मे सही मान लेते है। हम वस्तु को देखकर उसके चिकनापन और खुरदुरापन का अनुमान कर लेते हैं। इनको न्याय-शास्त्र मे सामान्य लक्षण से उत्पन्न अलौकिक प्रत्यक्ष कहा है। बच्चो के खेल मे भी कल्पना का बहुत काम पड़ता है। लकड़ी का घोड़ा बनाकर 'चल रे घोड़े, चल रे घोड़े सरपट चाल' कहना कल्पना ही का काम है। चित्रो के टुकड़े अलग-अलग जुटाकर उनका साबित चित्र बनाना कल्पना ही का खेल है। कवि भी कल्पना से काम लेता है। उसी के आधार पर वह प्रजापति कहलाता है। कल्पना का कार्य अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनो ही मे है। अलङ्कार, लक्षणा, व्यञ्जना सब कल्पना के रूप हैं। हमारे स्वप्न भी जैसा ऊपर कहा जा चुका है कल्पना के उपादानो से ही बनते है। आविष्कारक का भी कल्पना का आश्रय लिये बिना काम नहीं बनता। पागल की कल्पना अनियन्त्रित रूप धारण कर कभी-कभी उसको ऐसा भान करा देती है कि वह ईसा मसीह है या काँच का बना हुआ है अथवा वह मनुष्य नहीं है, बकरा है।

भिन्न-भिन्न मनुष्यो मे भिन्न-भिन्न प्रकार के कल्पना के चित्रों का प्राधान्य होता है और कभी-कभी ये काल्पनिक चित्र क्रिया का भी सञ्चालन करा देते हैं। किन्हीं-किन्हीं पुरुषों में चाक्षुष चित्रों का प्राधान्य होता है, किन्हीं में शब्द-चित्रों का और किन्हीं मे गन्ध-चित्रो का तथा किन्हीं में स्पर्श-चित्रो वा क्रिया-चित्रों का। किसी शब्द का वर्ण-विन्यास याद करते हुए बहुत से लोग कल्पना मे हाथ चलाना

प्रारम्भ कर देते हैं। बहुत से लोग मानसिक गणित करने में अँगुलियों का सञ्चालन करने लगते हैं।

प्रतिभा—कवि की प्रतिभा (Genius) भी तो एक असाधारण प्रकार की कल्पना है। वह सङ्कल्पित और असङ्कल्पित कल्पना के बीच की चीज है। उसमें थोड़े परिश्रम से अधिक फल की प्राप्ति होती है। उसमे अपने आप नई-नई स्फूर्ति होती रहती है। अपने यहाँ प्रतिभा को दो प्रकार का माना है, कारयित्री जो कि कवि और रचयिता मे होती है और भावयित्री जो कि भावक, आलोचक वा सहृदय पाठक मे होती है। स्वप्न में बुद्धि का नियन्त्रण नहीं रहता, प्रतिभा में नियन्त्रण रहता है। स्वप्न मे भी नवीनता का अभाव नहीं किन्तु प्रतिभा में नवीनता की भावना कुछ अधिक रहती है।

तुलना—यह विषयान्तर भूमिका रूप से आवश्यक था, पाठकगण इसे क्षमा करेंगे। अब हम कविता पर आते हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा ने साहित्य-सम्मेलन से प्रकाशित अपनी कविताओं के संग्रह मे कहा है कि—'कवि को वास्तविक द्रष्टा के साथ स्वप्न-द्रष्टा भी होना चाहिए।' अब जरा विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि कवि किस अर्थ मे स्वप्न-द्रष्टा विश्वामित्र की भाँति अपना संसार रचता है। उसमे प्राय: वर्तमान के प्रति असन्तोष की भावना रहती है। वह अपनी इच्छा मे अनुकूल संसार को बदल लेता है।

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

स्वप्न मे भी परिवर्तन होता है। स्वप्न सम्बन्धी परिवर्तनों को फ्राइड ने Condensation अर्थात घनीकरण जैसे व्यक्तियो का मिला देना और displacement अर्थात् स्थानान्तर करना कहा है। स्वप्न के परिवर्तन प्राय: अस्पष्टता लाते है और कुछ विकृति भी उत्पन्न करते हैं किन्तु कविता के परिवर्तन स्पष्टता और सुष्ठता सम्पादन करते हैं। कवि के स्वप्नों का आधार वास्तविक संसार अवश्य होता है किन्तु साधारण लोगों की अपेक्षा उसमें भावनाओं, स्मृतियों, तथा अभिलाषाओं का अधिक मेल रहता है। कवि यदि जगबीती बात भी कहता है तो उसमे अपनी अभिलाषाओं और अपने आदर्शों का रंग दे देता है।

स्वप्न की तरह कविता करने में चाक्षुष प्रत्यक्ष की अपेक्षा मानसिक क्रियाओं का प्राधान्य होता है। कवि की रुद्ध और दबी हुई अभिलाषाएँ और वासनाएँ निर्झर के स्रोत की भाँति फूट पड़ती हैं और वह अपने अभिलषित संसार का स्वप्न-द्रष्टा की भाँति मानसिक प्रत्यक्ष कर लेता है। उसमें उसकी अहंभावना की तृप्ति हो जाती है। जो बातें वह अपनी प्रेयसी से कहना चाहता है, कविता में उनके शब्द-चित्र उपस्थित कर उनको मुखरित कर देता है मानस के भरत आदि पात्रों में तुलसी की भक्ति-भावना बोलती हुई सुनाई पड़ती है। कविता की पंक्तियाँ कवि के दुख-सुख की वाहिनी बन जाती हैं। कवि अपने भावों को व्यक्त करके कुछ हलकेपन और शान्ति का भी अनुभव करता है, शायद उनका मिलन का सुख भी प्राप्त करने लगता है और किसी-न-किसी अंश में मनमोदकों से उसकी भूख भी बुझ जाती है।

फ्रॉयड के स्वप्न-द्रष्टा की भाँति कवि किन्हीं अंशों में प्रतीकों (Symbols) से भी काम लेता है। कभी कामवासना पर भक्ति का आवरण डाल दिया जाता है और कभी-कभी कविगण ज्ञान और भक्ति पर वासना का शर्करावेष्टन चढ़ाकर उसको अधिक ग्राह्य बना देते हैं, कभी आध्यात्मिक आनन्द का भौतिक आनन्द की शब्दावली में चित्रण कर उसको लोक-सामान्य के अनुभव की पहुँच में लाया जाता है। कवि के रूपक भी स्वप्न के से प्रतीक ही होते हैं। यदि वे किसी भाव के प्रतीक नहीं होते तो वे कवि के हृदय की उत्कंठा के तो चिह्न होते ही हैं। कवि जिस उत्कृष्ट रूप में अपने वर्ण्य विषय को देखना चाहता है उसी के वह रूपक उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कार बना लेता है। उत्प्रेक्षा का अर्थ ही है उत्कट प्रेक्षण इच्छा। रूपक का भी अर्थ है रूप का आरोप। रूपकों और उत्प्रेक्षाओं द्वारा कवि एक हलके प्रकार से अपनी अभिलाषा पूर्ति कर लेता है। स्वप्नों में भी प्रायः रूपकों का-सा आरोप रहता है। हम लोगों को प्रायः बदला हुआ-सा देखते हैं।

कवि की कल्पना कभी-कभी दिवा-स्वप्नों की भाँति असङ्कल्पित और अनियंत्रित रूप से चलती है। 'बादल से बँधे आते हैं मजमूँ मेरे आगे' और कभी उसमें प्रयास से भी नये चित्र लाने पड़ते हैं। कवि को सम्बन्ध-ज्ञान से भी बहुत काम लेना होता है। और उसके समता-

मूलक और विरोध-मूलक अलङ्कार एक प्रकार के सम्बन्ध-ज्ञान से ही सम्बन्ध रखते हैं। जब कवि की कल्पना अधिक प्रबल हो जाती है और उसका प्रवाह कुछ-कुछ अनियंत्रित रूप से चलता है तब उसको अँग्रेजी में फेंसी (fancy) कहते है। ऐसी अवस्था में कवि चाहे दिवा-स्वप्न न देखे किन्तु एक के बाद एक सम्बन्ध की शृङ्खला तैयार होती चली जाती है। जहाँ उपमाओं की झड़ी लग जाती है, जैसी पन्तजी की 'छाया' या 'नक्षत्र' नाम की कविताओं मे वहाँ सम्बन्ध ज्ञान ही काम करता है और कभी-कभी वह बहुत अनियन्त्रित प्रकार का होता है। स्वप्न मे भी सम्बन्ध-ज्ञान बड़े अनियन्त्रित रूप से काम करता है जिसको हम अनियन्त्रण कहते हैं वह शायद लुप्त-सुप्त वासनाओं का नियन्त्रण होता है। अच्छी कविता मे भी प्राय: भाव-नाओं का ही मनोराज्य रहता है। लेकिन उनमे स्वप्न की अपेक्षा बुद्धि का नियन्त्रण कुछ अधिक होता है। कभी-कभी स्वप्न चित्रावली शब्द चित्रों का रूप धारण कर कविता बन जाती है। इङ्गरेजी साहित्य में कालरिज की Kublakhan नाम की कविता इसका उदाहरण है।

स्वप्न और कविता मे एक अन्तर यह भी है कि यद्यपि रस की अवस्था वेद्यान्तरशून्य मानी गई है। तथापि कविता में प्रत्यक्ष संसार और उसकी कठोर वास्तविकता कम भुलाई जाती है।

कविता का उदय चाहे अवचेतना में हो किन्तु वह पल्लवित सजग चेतना में ही होती है। स्वप्न मे व्यक्ति का अंश प्रधान रहता है और जाति की भावनाएँ कुछ अल्प मात्रा में मिलती है। कविता के व्यक्ति मे जाति की झलक रहती है। कविता की-सी सामाजिकता भी स्वप्न मे नहीं है।

प्राय: सभी कविताएँ किसी न किसी प्रकार से कवि का स्वप्न होती हैं, अर्थात् वह वास्तविकता को जिस रूप मे देखता है या देखना चाहता है इस बात की वे परिचायक होती है। कविता की अपेक्षा नाटक मे स्वप्न का सा आत्म-भाव का द्वैधाकरण (Splitting of personality) कुछ अधिक रहता है। कवि और विशेषकर नाटक-कार अपने को विभिन्न पात्रों की स्थिति में रख लेता है। स्वप्न मे यह कार्य अचेतन रूप से किन्तु पूर्णता के साथ होता है।

कुछ कवियों के स्वप्न—स्वप्नों की भाँति कविताओं में भी भविष्य की स्थिति का संकेत रहता है और कभी-कभी उससे क्रियात्मक लाभ भी उठाया जा सकता है। कुछ कविताओं में पूर्वानुभूत सुखों का वर्णन या प्राचीन गौरव का चित्र रहता है। ऐसी कविताओं को हम अतीत का स्वप्न कहेंगे। पन्तजी की 'ग्रन्थि' को हम ऐसे ही स्वप्नों में रक्खेंगे। उत्तररामचरित में भी ऐसे स्वप्न मिलते हैं। श्री मैथिलीशरणजी गुप्त की 'भारत-भारती' में हमारे देश के अतीत के स्वप्न अच्छे हैं। नरेन्द्रजी की 'भावी पत्नी' नाम की कविता को हम दिवा-स्वप्न कह सकते हैं। इसमें भविष्य की ओर संकेत है—

सन्मुख बैठ सुमुखि, कल्पों तक
एक दूसरे को देखेंगे ।
लोचन होंगे कभी सिंधु-से
कभी सिंधु में मीन बनेंगे

इस प्रकार कवि अपने मन के उल्लास को व्यक्त करता है। एक अभिलाषा-मूलक ध्वनि और गति का चित्र हिन्दी के होनहार कवि श्री चिरंजीलाल 'एकाकी' के 'रजनी' नामक एकांकी नाटक से दिया जाता है:—

कल्पना सी सुन्दर, साकार
स्वर्ण नूपुर की भर झङ्कार
गुलाबी चरणों से चल मौन
खोल दे मेरे उर का द्वार।

भक्तों ने अपने-अपने विश्वासों के अनुकूल मनोरथों के सुख-स्वप्न देखे हैं। रसखान का प्रसिद्ध सवैया जो नीचे दिया जाता है कवि की अभिलाषा का सुन्दर चित्र है। ऐसी अवस्थाओं में अभिलाषाओं का कथन-मात्र स्वप्न की सी आंशिक-पूर्ति अवश्य कर देता है। देखिए रसखानजी कैसे आनन्द-विभोर हो कहते हैं:—

मानुस हौं तो वही रसखान, बसौं ब्रज गोकुल गाव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मझारन ॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो करो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दीकूल कदम्ब की डारन ॥

यह स्वप्न कवि की भावुकता और कथा-वार्ताओं में सुनी हुई बातों के सम्बन्ध-ज्ञान से बना है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी एक कर्तव्य-सम्बन्धी स्वप्न देखा है। वह अत्यन्त सुन्दर है। 'कबहुँक हौं यह रहनि रहौंगो। रामकृपाल कृपा तें सन्त-स्वभाव गहौंगो—परहित-निरत निरन्तर मन बच करम नेम निबहौंगो ' इसमे चाक्षुष चित्र तो कम है किन्तु उनके जीवन का आदर्श प्रतिबिम्बित है।

महात्मा भर्तृहरि ने अपने वैराग्यशतक मे गङ्गा-तीर पर किसी शिला के ऊपर पद्मासन बाँधकर बैठने का स्वप्न देखा है और अभिलाषा की है कि कब ऐसे बैठे हुए उनके शरीर से हिरण निर्भय होकर अपने सींगों की खुजली मिटायेंगे—'निर्विशङ्का संप्राप्स्यन्ते जरठ हरिणाः शृंगकण्डूविनोदम्'। भक्तों के मनोराज्य बड़े ही सुन्दर होते हैं। महात्मा सूरदास का स्वप्न सुनिए:—

ऐसे ही बसिए ब्रज की बीथिन।
साधुन के पनवारे चुनि-चुनि उदर जो भरिये सीतिन॥
पैंडे मैं के बसन बीनि तन छाया परम पुनीतिन।
कुञ्ज-कुञ्ज तर लोटि-लोटि रचि रञ्ज लागे रंगीतिन॥
निसदिन निरख यशोदानन्दन अरु जमुना जल पीतिन।
दरसन सूर होत पावन, दरसन मिलत अतीतिन॥

कवि लोग हमेशा अपने ही स्वप्नों का वर्णन नहीं करते हैं। वरन् वे योगी की भाँति दूसरे के शरीर में प्रवेश कर उसके स्वप्न देख कर मग्न होते हैं। वे अक्सर स्वयं छिपे रहकर दूसरे के मुख से अपनी बात कहलाते हैं। पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी की 'फूल की चाह' शीर्षक कविता में कवि की राष्ट्रीय आत्मा के दर्शन मिलते हैं:—

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों मे गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ॥
चाह नहीं सम्राटो के शव पर हे हरि डाला जाऊँ।
चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ॥
मुझे तोड़ लेना वनमाली उस पथ पर तुम देना फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक॥

दूसरे के भावों को अपना बना लेने को कुछ अंग्रेजी मनोवैज्ञानिकों ने Empathy कहा है। Sympathy में सहानुभूति होती है। Em-

pathy में भावतादात्म्य कर कवि स्वयं अपने को नायक की स्थिति मे रख लेता है। बहुत सी जगबीती कविता मे भी Empathy से ही काम लिया जाता है। इसी से कवि हरएक वर्ग का प्रतिनिधि होकर उसका स्वप्न देखने लगता है, जिस प्रकार स्वप्न-द्रष्टा अपनी जाग्रत अवस्था की सृष्टि का अपनी कल्पना में कुछ हेर फेर के साथ पुनर्निर्माण करता है उसी प्रकार कवि भी वास्तविकता को अपने भावो का रंग देकर चित्रित करता है। कवि की चित्रावली नितान्त उच्छृङ्खल नहीं होती। उसमे बुद्धि-तत्त्व के लिए स्थान रहता है। कोई कवि जीवन मे से सुन्दर चित्र लेते हैं, और कोई करुण। स्वप्न और कविता दोनों में ही रुचि और भावनाओं के अनुकूल चुनाव रहता है। करुणा भी कोमल भावों को जाग्रत करती है। शायद वह सौंदर्य-भावना की तृप्ति न कर सके। अञ्चलजी की 'किरण वेला' मे एक दुपहर का स्वप्न देखिए:—

गन्दी कोठरी मे अनजान।
सो रहा अन्धा कुत्ता
वहीं पर मैली शैय्या
धानी चुनरी बिछाये नारी

घायल चील-सी
अधनंगी अज्ञात
किसी श्रीमजीवी की अभिशाप,
चूसता फिर निचोरता सूखे स्तन
भूखा शिशु

इस स्वप्न में वास्तविकता है, करुणा है, किन्तु इसके सौन्दर्य को योगी ही देख सकते हैं, साधारण मनुष्य नहीं। ऐसे चित्रो मे भी सौन्दर्य को अवतरित करना सच्चे कलाकार का काम है। सच्ची सहानुभूति जाग्रत होने पर वीभत्स मे भी करुणा की सरसता आजाती है। इस जाग्रति मे कलाकार और आलोचक दोनो को ही साधारण भाव-भूमि से ऊँचे उठने की आवश्यकता है।

सब स्वप्न झूठे नहीं होते। सब मे सत्य का कुछ-न-कुछ आधार अवश्य रहता है, किसी मे कम, किसी मे ज्यादह। छायावादी कवि जो प्रकृति को मानवी रङ्ग में रङ्गा हुआ देखता है, रहस्यवादी जो परमात्मा से मिलन या विरह के गीत गाता है और प्रगतिवादी जो वर्तमान वर्गवाद को मिटाकर एक वर्ग-रहित समाज देखना चाहता है, सभी अपनी-अपनी रुचि, शिक्षा-दीक्षा, आशा-अभिलाष,ओं के अनुकूल स्वप्न-द्रष्टा हैं।

— —

काव्य के हेतु

प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास

प्रयोजन और हेतु—प्रयोजन उद्देश्य को कहते हैं, अर्थात् किन-किन बातो को लक्ष्य मे रखकर कवि अपने कार्य में युक्त होता है। प्रेरणा प्रयोजन का आन्तरिक रूप है। प्रयोजन आकर्षण के रूप में होता है और प्रेरणा मे आगे बढ़ाने की शक्ति रहती है। हेतु का अभिप्राय उन साधनों से है जो कि कवि को काव्यरचना में सहायक होते हैं।

काव्य-प्रकाश का मत—काव्य-प्रकाश में कविता के हेतु इस प्रकार बतलाये गये हैं।

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

अर्थात् (१) शक्ति (कवित्त्व का बीजरूप संस्कार) जिसके बिना काव्य रचना हो नहीं सकती और यदि होती है तो वह हास्यास्पद हो जाती हैं (२) लोक, शास्त्र, काव्य आदि के निरीक्षण और ज्ञान से उत्पन्न योग्यता और (३) काव्य जानने वाले की शिक्षा द्वारा प्राप्त अभ्यास। ये काव्य के उद्भव के हेतु माने जाते है। काव्य प्रकाश के अनुकूल इन तीनों कारणों मे शक्ति या प्रतिभा नैसर्गिकी अर्थातू जन्मसिद्ध है और शेष दो अर्जित है। दण्डी ने भी प्रतिभा को नैसर्गिकी कहा है। 'नैसर्गिकी च प्रतिभा'

शक्ति को बहुत ही दुर्लभ माना गया है। 'कवित्त्वं दुर्लभं तंत्र, शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा' कुछ आचार्यों के (जैसे रुद्रट) अनुकूल प्रतिभा भी अर्जित हो सकती है। उन्होंने उसे उत्पाद्या कहा है। 'सहजोत्पाद्या सा द्विधा भवति'। दण्डी ने भी परिश्रम का महत्व स्वीकारकिया है।

कृशे कवित्वेपिजनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषुविहर्तुमीशते।

प्रतिभा का महत्व—प्रायः लोग प्रतिभा को सहज ही मानते हैं। Poets are born and uot made किन्तु कुछ लोग प्रतिभा को दस में नौ हिस्से स्वेद जनक परिश्रम कहते हैं Inspiration is nine tenths perspiration. मम्मट ने यद्यपि शक्ति को बीज माना है

तथापि तीनों अर्थात् शक्ति, निपुणता और अभ्यास को समान सा ही महत्त्व दिया है, इसीलिए उन्होने तीनो को मिला कर एक वचन हेतुः (कारण) कहा है 'हेतुर्नतुहेतवः' अन्य आचार्य (जैसे वाग्भट्ट) प्रतिभा को कारण मानते हैं और व्युत्पत्ति (निपुणता) को उसका भूषण बतलाते हैं।

प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्याद्यकविसङ्कथा ॥

अर्थात् प्रतिभा उसका कारण है और व्युत्पत्ति (लोक और शास्त्र का ज्ञान) उसका भूषण है और बार-बार का अभ्यास-शीघ्र काव्यरचनाशक्ति का उत्पादक होता है, ऐसा प्राचीन कवि कहते हैं।

रस-गङ्गाधर-कार पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिभा को ही कारण माना है, व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा का पोषक और सहायक कहा है।

इस प्रकार ये दोनों चीजें प्रतिभा का पोषण करती हैं। हेमचन्द्र का भी ऐसा ही मत है; उन्होंने व्युत्पत्ति और अभ्यास को प्रतिभा के संस्कारक, अर्थात् चमका देने वाला माना है। किन्तु वामन ने तीनों को कारण बताया है, अर्थात् काव्य-प्रकाशकार, की भाँति तीनो मिलकर ही नहीं वरन् अलग-अलग भी कारण हो सकते हैं। प्रतिभा न भी हो तो व्युत्पत्ति और अभ्यस दोनों ही या अकेले-अकेले काव्य के हेतु हो सकते हैं।

प्रतिभा क्या है—प्रतिभा के सम्बन्ध में दो प्रकार के विवेचन आते हैं, एक में तो सूझ और नवीनता पर बल दिया गया है और दूसरे मे अभिव्यक्ति को अधिक महत्त्व मिला है। काव्यकौस्तुभ की परिभाषा 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' पहले प्रकार की है। पण्डितराज जगन्नाथ की परिभाषा दूसरे प्रकार की है। उनका कहना है कि जिस शक्ति के द्वारा काव्य के अनुकूल शब्द और अर्थ कवि के मन मे जल्दी-जल्दी आते हैं (काव्यघटानुकूल-शब्दार्थोपस्थिति) उसे प्रतिभा कहते हैं। वाग्भट्ट ने दोनों बातो का समन्वय कर दिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्होने नवी-नता और उसकी ललित पदों (प्रसन्न पद) मे अभिव्यक्ति दोनों पर

जोर दिया है। उसको सर्वतोमुखी कहा है। उसका प्रसार विचार, भाव और अभिव्यक्ति सब मे है। प्रसन्न पद संस्कृत का और अँग्रेजी का Happy expression दोनों वाक्यांश एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं। प्रसन्न में प्रसाद गुण का भाव भी लगा हुआ है।

प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्त्युद्बोधविधायिनी ।
स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी ॥

अर्थात् सत्कवि की प्रसन्न पदों (ललित प्रसाद गुण युक्त पद) मे अभिव्यक्त की हुई नव्यार्थ से अर्थात् जिनकी पूर्व मे उद्भावना न की गई हो (इसी को इंग्रेजी में Originality और हिन्दी में मौलिकता कहते है,) पूर्ण युक्तियों का उद्बोधन करने वाली, सब ओर फैलने वाली चमत्कार युक्त बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं। प्रतिभा के विषय में मौलिकता और साहित्यिक चोरी का प्रश्न तथा दोनों प्रकार की प्रतिभाओं के (कारयित्री जो कवि में होती है और भावयित्री जो भावक मे होती है) पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या विचारणीय है। उनका विचार पीछे से किया जायगा।

व्युत्पत्ति और अभ्यास—व्युत्पति को काव्य-प्रकाशकार ने निपुणता कहा है। यह दो प्रकार से प्राप्त होती है—लोक के, जिसमें सारा चराचर का ज्ञान आजाता है, निरीक्षण से और काव्य और शास्त्रों के अध्ययन से। निरीक्षण मे जिस बात की कमी रह जाती है उसकी कमी काव्यादि से पूरी हो जाती है। इसीलिए लोक को पहले कहा है 'लोक-शास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात्' शास्त्र से सैद्धान्तिक ज्ञान बढ़ जाता है और उस ज्ञान से कवि अनौचित्य मे पड़ने से बच जाता है तथा कोष व्याकरण आदि से भाषा सम्बन्धी भूलों से बचने तथा उपयुक्त शब्दावली की खोज मे सहायता मिलती है। अभ्यास मे गुरु का शिक्षा और संशोधनादि जिसको उर्दू मे 'इस्लाह' कहते हैं आजाती है।

काव्य के रूप पर प्रकाश—काव्य के हेतुओं के विवेचन से काव्य के रूप पर भी प्रकाश पड़ जाता है। काव्य के लिए केवल कवि की प्रतिभा ही अपेक्षित नहीं है वरन् संसार और शास्त्र का ज्ञान भी वाञ्छनीय है। कवि स्वर्णलूता (मकड़ी) की भाँति अपने भीतर से

ही तन्तु निकाल कर ताना-बाना नहीं बुना करता। (मकड़ी भी अपनी खाद्य सामग्री के आधार पर ही तो सूत निकालती है) निरीक्षण और शास्त्रज्ञान के आधार ही कवि की अभिव्यक्ति हो और फिर नये-नये विचार उपयुक्त शब्दोंद्वारा प्रकाशित किये जायँ। कवि अपने लिए ही नहीं लिखता है वरन् अपने अनुभव को दूसरे तक पहुंचाता है। इस में लोग यह कह सकते हैं कि कोरी नवीनता पर ही जोर दिया गया है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। काव्य के प्रयोजनों में 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' (अर्थात् कान्ता का सा मधुर उपदेश) और 'व्यवहारविदे' भी हैं।

मौलिकता का प्रश्न—काव्य में मौलिकता का विशेष महत्व है। मौलिकता और नवीनता में रमणीयता का मूल है 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः', क्षण-क्षण में नवीनता धारण करे वही रमणीयता का रूप है। यह रमणीयता तो व्यञ्जना आदि से भी आती है किन्तु आकर्षण के लिए नवीनता आवश्यक है। पुरानी चीज से जी ऊब जाता है। पाठक को विचार और मनन के लिए नई सामग्री चाहिए। लेकिन प्रश्न यह है कि मौलिकता हो सकती है या नहीं ? एक पुराने आचार्य ने तो वैश्यों के साथ सब कवियों को चोर ठहराया है। (यदि वे आचार्य जीवित होते तो वैश्य लोग उन पर मान-हानि का दावा अवश्य करते और मैं भी दावे में शामिल हो जाता) देखिए:—

'नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः'

कहा जाता है एक बार महाकवि गोल्डस्मिथ ने बिलकुल मौलिक लिखने का संकल्प किया था किन्तु इस संकल्प के कारण उन्हें तीन महीने तक ठाली बैठना पड़ा था। यह बात तो नहीं है कि विचारों की मौलिकता असम्भव है किन्तु बहुत-कुछ मौलिकता अभिव्यक्ति की नवीनता में है। अभिव्यक्ति की नवीनता से विचार में भी नवीनता आ जाती है। इसके अतिरिक्त विचार भी कोई स्थिर वस्तु नहीं और न वह सीमाबद्ध है। कोई कवि किसी विचार को साङ्गोपाङ्ग नहीं उतार लेता है। विचार के भी कई पहलू होते हैं। जो पहलू जिसको अपील करता है वह उसको अपने विवेचन का विषय बनाता है और उसमें नवीनता पैदा कर देता है। नवीनता को भी औचित्य की सीमा के भीतर रहना होता है। नवीनता और मौलिकता का अर्थ उच्छृङ्-

खलता नहीं। यदि ऐसा हो तो पागल सबसे अधिक मौलिक कहा जायगा।

साहित्यिक चोरी—को अंग्रेजी में Plagiarism कहते हैं। हमारे यहाँ इसकी कई श्रेणियाँ मानी गई हैं। नीचे के श्लोक में वे बतलाई जाती हैं—

> कविरनुरतिच्छायामर्थं कुकविः पदादिकं चौरः।
> सर्वप्रबन्धहर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तस्मै॥

अर्थात् दूसरों की छाया मात्र को लेने वाला कवि कहलाता है, भाव का अपहरण करने वाला कुकवि कहलाता है, जो भाव के साथ शब्दावली का भी अपहरण करता है वह चोर कहलाता है और जो पद वाक्य और अर्थ समेत सारे काव्य का अपहरण करता है उस साहस करने वाले को दूर से ही नमस्कार है।

अच्छा कवि तो यदि छाया भी ग्रहण करता है तो उस में एक नवीन जीवन भर देता है। वह अपने पूर्ववर्ती कवि की कृतियों मे नया चमत्कार उत्पन्न कर देता है। इस बात को बिहारी के सम्बन्ध मे पं० पद्म सिंह शर्मा ने अच्छी तरह दिखाया है। मिलटन ने कहा है कि- बिना सौन्दर्य प्रदान किये भावापहरण करना ही वास्तविक चोरी है।

चोरी के सम्बन्ध में अन्य अंग्रेजी लेखकों ने भी ऐसे ही भाव प्रकट किये हैं।

ड्राइडन ने जोन्सन के सम्बन्ध में कहा है कि वह दूसरे लेखकों पर बादशाहों की भाँति आक्रमण करता है, जो वस्तु दूसरो के लिए चोरी कहलाती है उसके लिए विजय थी। बच्चे की भाँति विचार उसी का है जो उसको अपना कर उसका पोषण करता है तथा उस पर लाड़-प्यार करता है। पीतल का अधिक मूल्य नहीं होता है, उस पर की गई कारीगरी का मूल्य है। लेखक वा कवि दूसरे के विचारों को सामग्री के रूप में ही ले सकता है। अगर वह उसको कच्चे सीधे की भाँति लेकर पक्वान्न मे परिणत करता है तो वह दोषी नहीं कहा जा सकता।

प्रतिभा और रुचि—जिस प्रकार सृजन के लिए प्रतिभा अपेक्षित है उसी प्रकार आस्वादन, भावना या आलोचना के लिए रुचि (Taste) वाञ्छनीय है । इसी को हमारे यहाँ भावयित्री प्रतिभा कहा है। अब प्रश्न यह है कि दोनों प्रकार की प्रतिभाएँ एक है, अथवा भिन्न। यदि एक नहीं हैं तो उनमें क्या सम्बन्ध है ? हमारे यहाँ इनको अधिकाँश में भिन्न ही माना है। कवि की प्रतिभा को अभिनवगुप्त ने आख्या और भावक की प्रतिभा को उपाख्या कहा है। राजशेखर ने पहली को कारयित्री और दूसरी को भावयित्री नाम से अभिहित किया है। कहा भी है कि एक पत्थर सोने को उत्पन्न करता है और परीक्षा करने वाला पत्थर दूसरा होता है—'एकः सूते कनकमुपलः तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः' इन दोनों प्रकार की प्रतिभाओं का एक ही व्यक्ति मे होना कठिन बतलाया गया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है:—

मन-मानिक-मुकता-छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी ॥
नृप-किरीट तरुनी-तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई ॥
तैसेहि सुकवि कवित्त बुध कहहीं। उपजहि अनत अनत छवि लहहीं ॥

पाश्चात्य देशों के कुछ आचार्यों ने (जैसे स्पिन्गर्न) दोनों प्रकार की प्रतिभाओ को (Genius and Taste) को एक बतलाया है क्योंकि अलोचना भी एक प्रकार का सृजन है। सृजन न सही तो पुनःसृजन तो है ही। अपने को कवि की स्थिति में किये बिना भावक को पूरा-पूरा आस्वाद नहीं मिलता और आस्वाद लेकर ही अपने अनुभव का दूसरों के लिए परिपेषण करना पड़ता है। कवि जिस प्रकार संसार का भावक है उसी प्रकार आलोचक कवि का भावक है।

जहाँ तक अपने भावों को दूसरों तक पहुँचाने की बात है वहाँ तक कवि और भावक की प्रतिभा एक ही होती है किन्तु सृजन और आस्वादन की प्रतिभा में अन्तर है। भावक मे कवि की सी कल्पना होती है किन्तु उसमें बुद्धि-तत्व का अपेक्षाकृत आधिक्य रहता है। उसमें कवि की अपेक्षा निरपेक्षता भी अधिक होती है। उसी के साथ तन्मयता की मात्रा भी कम हो जाती है। कवि अपनी कृति को पूर्णता में केवल कल्पना में ही देखता है, वह जङ्गल के सामूहिक प्रभाव का

ध्यान रखते हुए भी वृक्षों को ही अधिक देखता है। भावक वृक्षों को तो कवि की भाँति ही देखता है किन्तु पीछे जङ्गल को भी सावधानी से देख लेता है। कवि अपना कवित्व खतम कर ही जङ्गल को वास्तविक रूप में देखता है। किन्तु भावक उसको सजी-सम्हली पूर्ण वास्तविकता में देखता है। कवि अपनी व्याख्या सब से अच्छी कर सकता है, इसी आशय को फारसी में एक कहावत है—'तसनीफ रा मुसन्निफ नेको कुनद बयाँ' किन्तु कभी-कभी भावक काव्य में से वह बात खोजकर निकालता है जो शायद कवि की कल्पना मे भी न रही हो। प्रतिभा और रुचि को हमारे यहाँ दो मानते हुए भी रुचि को प्रतिभा का ही भेद माना है। इसमें भेद और अभेद दोनों ही आ जाते हैं। रुचि कवि में भी किसी अंश में अपेक्षित है। कवि की प्रतिमा का शास्त्रीय प्रतिरूप औचित्य का ज्ञान है। रुचि स्वाभाविक है, औचित्य या विवेक शास्त्रीय ज्ञान से प्राप्त होता है। गोस्वामीजी ने की चौपाई में इसी विवेक का उल्लेख किया है, देखिए:—

कवित्त विवेक एक नहि मोरे, सत्य कहूँ लिख कागद कोरे।

रुचि दो प्रकार की होती है, एक वैयक्तिक दूसरी लोक-रुचि। वैयक्तिक रुचि प्रायः भिन्न होती है किन्तु लोक-रुचि कम-से-कम एक देश मे एक सी होती है। लोक रुचि ही प्रायः शास्त्रीय रुचि होती है। जहाँ भावक की रुचि लोक-रुचि से मेल खा जाती है वहाँ प्रभाववादी आलोचना और शास्त्रीय आलोचना में भेद नहीं रहता है।

इस लेख के अन्त मे हम साररूप से काव्य के हेतुओं के संबंध मे कविवर भिखारीदासजी का एक छन्द देते हैं—

सक्ति कवित्त बनाइबे की जेहि
जन्म नक्षत्र में दीन्हि बिधातै।
काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सौं
देखी सुनी बहु लोक की बातै॥
दास है जामें इकत्र ये तीनि
बनै कविता मनरोचक तातै।
एक बिना न चलै रथ जैसे
धुरन्धर सूत की चक्र निपातै॥

काव्य का क्षेत्र

(सत्यं शिवं सुन्दरम्)

प्राचीन आदर्श—वर्तमान युग में सत्यं शिवं सुन्दरम् कला और साहित्य जगत का आदर्श-वाक्य बना हुआ है। सब लोग इसी की दुहाई देते हैं और इसको वेद-वाक्य नहीं तो उपनिषद-वाक्य का सा महत्व प्रदान करते हैं। वास्तव में यह साहित्य-संसार का महा-वाक्य यूनानी दार्शनिक अफलातूँ द्वारा प्रतिपादित The True, The Good, The Beautiful का शाब्दिक अनुवाद है किन्तु वह इतना सुन्दर है कि हमारी देशी भाषाओं में घुल-मिल गया है। इसमें विदेशीपन की गन्ध तक नहीं आती। इसका एक मात्र कारण यह है कि यह भारतीय भावना के अनुकूल है। भारतवर्ष में यह विचार नितान्त नवीन भी नहीं है। वाणी के तप का उपदेश देते हुए योगी-राज भगवान् कृष्ण ने श्रीमद्भागवद्गीता के सत्रहवे अध्याय मे अर्जुन को बतलाया है कि ऐसे वाक्य का बोलना जो दूसरों के चित्त में उद्वेग न उत्पन्न करे, जो सत्य, प्रिय और हितकर हो तथा वेद शास्त्रों के अनुकूल हो वाणी का तप कहलाता है, देखिए:—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

सत्यं प्रियं हितं सत्यं शिवं सुन्दरम् का ठेठ भारतीय रूप है। वाणी का तप होने के कारण साहित्य का भी आदर्श है। किरातार्जुनीय में हितं और सुन्दरम् का योग बड़ा दुर्लभ बतलाया है—'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' काव्य इसी दुर्लभ को सुलभ बनाता है। सत्य और शिव का समन्वय करते हुए कवीन्द्र रवीन्द्र ने आचार्य क्षितिमोहन सेन द्वारा लिखित 'दादू' नाम के बङ्गाली ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है 'सत्य की पूजा सौन्दर्य में है, विष्णु की पूजा नारद की वीणा मे है।' विष्णु तो सत्य के साथ शिव भी हैं (और महादेव भी केवल रुद्र और संहारकर्त्ता नहीं है वरन् शिवशङ्कर भी है) इसलिए तीनो ही कारणों का समन्वय हो जाता है। साहित्य और

कला की अधिष्ठात्री देवी हंसवाहिनी माता शारदा का ध्यान 'वीणा-पुस्तकधारिणी' के रूप में होता है। हंस नीर-क्षीर-विवेकी होने के कारण सत्य का प्रतीक है और वीणा 'सुन्दरम्' का प्रतिनिधित्व करती है, पुस्तक सत्य और हित दोनों की साधिका कही जा सकती है।

विज्ञान, धर्म और काव्य—सत्यं[1] शिवं[2] सुन्दरम्[3] का सम्बन्ध ज्ञान[1] (Knowing) भावना[3] (Feeling) और संकल्प[2] (Willing) नाम की मनोवृत्तियों तथा ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग और कर्म-मार्ग से है। सत्यं शिवं सुन्दरम् विज्ञान धर्म और काव्य के पारस्परिक सम्बन्ध का परिचायक सूत्र भी है। विज्ञान का ध्येय है—सत्य केवल सत्य, निरावरण सत्य। शिवं उसके लिए गौण है, विज्ञान ने पेन्सिलीन की भी रचना की है और परमाणु बम्ब को भी बनाया है। सुन्दरम् तो उसके लिए उपेक्षा की वस्तु है। वह मनुष्य को भी प्रकृति के धरातल पर घसीट लाता है और गुण को भी परिमाण के ही रूप में देखता है। उसके लिए वीभत्स कोई अर्थ नहीं रखता।

धार्मिक सत्यं में शिवं की प्रतिष्ठा करता है। वह लक्ष्मीजी का माङ्गलिक घटों से अभिषेक करता है क्योंकि जल जीवन है, वह कृषि प्राण भारत का प्राण है और माङ्गल्य का प्रतीक है। जिस प्रकार सरस्वती में सत्यं और सुन्दरम् का समन्वय है उसी प्रकार लक्ष्मी मे शिवं और सुन्दरम् का संमिश्रण है। वेदों में 'तन्मेमनः शिव संकल्प-मस्तु' का पाठ पढ़ाया जाता है और शिव कल्याण या हित के नाते ही महादेव के नाम से अभिहित होते हैं। धार्मिक शिव के ही रूप में सत्य के दर्शन करता है।

साहित्यिक सत्य और शिव की युगल मूर्ति को सौन्दर्य का स्वर्णावरण पहना कर ही उनकी उपासना करता है। 'तुलसी मस्तक तब नबै धनुष वाण लेहु हाथ' साहित्यिक के हृदय में रसात्मक वाक्य का ही मान है।

समन्वय—साहित्यिक की दृष्टि में सत्यं शिवं सुन्दरम् में एक-एक भाव को यथाक्रम उत्तरोत्तर महत्ता मिलती है। वह सच्चिदानन्द भगवान् के गुणों मे अन्तिम गुण को चरम महत्व प्रदान करता है। 'रसो वै सः' सत्य नारायण भगवान् की वह रस रूप में ही उपासना

करता है। सत्यं शिवं और सुन्दरम् की त्रिमूर्ति में एक ही सत्य रूप की प्रतिष्ठा है। सत्य कर्तव्य पथ में आकर शिवं बन जाता है और भावना से समन्वित हो सुन्दरम् के रूप में दर्शन देता है। सुन्दर सत्य का ही परिमार्जित रूप है। सौन्दर्य सत्य को ग्राह्य बनाता है। कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने तीना में एक ही रूप के दर्शन किये है।

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार;
लोचनों मे लावण्य अनूप,
लोकसेवा में शिव अविकार।

कवि का सत्य—इंग्रेजी कवि कीट्स (Keats) ने भी अपनी An Ode to a Grecean urn नाम की कविता में सत्य और सौन्दर्य का तादात्म्य करते हुए कहा है कि सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य है यही मनुष्य जानता है और यही जानने की आवश्यकता है।

"Beauty is truth, truth beauty
That is all ye know on earth,
And all ye need to know."

सत्य और सुन्दर का तादात्म्य वा समन्वय भी सम्भव है, इस में कुछ लोगों को सन्देह है। बिना काट-छाँट के सत्य सुन्दर नहीं बनता। कला में चुनाव आवश्यक है। कलाकार सामूहिक प्रभाव के साथ ब्युरे का भी प्रभाव चाहता है और ब्युरे को स्पष्टता देने के लिए काट-छाँट आवश्यक हो जाती है। इसके विपरीत कुछ लोग यह कहेंगे कि सत्य में ही नैसर्गिक सुन्दरता है। साहित्यिक संसार को जैसा-का-तैसा नहीं स्वीकार करता। विश्व उसको जैसा रुचता है वैसा उसको वह परिवर्तित कर लेता है। 'यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते' शकुन्तला को दुष्यन्त ने लोकापवाद के भय से नहीं स्वीकार किया किन्तु लोकापवाद की भावना प्रेम के आदर्श के विरुद्ध है। वास्तविकता और आदर्श में समन्वय के अर्थ कविवर कालिदास ऋषि दुर्वासा के शाप की उद्भावना करते हैं। अँगूठी के खो जाने को दुष्यन्त की विस्मृति का कारण बतला कर कवि ने प्रेम की रक्षा के साथ घटना के सत्य का भी तिरस्कार नहीं किया। दुष्यन्त उसको स्वीकार नहीं करता है किन्तु वह अपने भाव की भी हत्या नहीं करता'

कथानक के ऐसे ही उलट-फेर को कुन्तक ने 'प्रकरण-वक्रता' कहा है।

क्या अपनी रुचि के अनुकूल संसार को बदल लेने को ही कविकृत सत्य की उपासना कहेंगे ? कवि सत्य की उपेक्षा नहीं करता वरन् सत्य के अन्तस्तल मे प्रवेश कर वह उसे भीतर से देखता है। कवि भाव जगत का प्राणी है, वह घटना के सत्य की उपेक्षा कर भावना के ही सत्य को प्रधानता देता है। वह प्रकृति की मक्खीमार अनुकृति नहीं चाहता। वह यान्त्रिक अर्थात् फोटोग्राफी के सत्य का पक्षपाती नहीं। न वह ऐतिहासिक है, न वैज्ञानिक। ये दोनो ही घटना के सत्य का आदर करते हैं। ये प्रत्यक्ष और ज्यादह-से-ज्यादह अनुमान को ही प्रमाण मानते हैं। कवि रवि की पहुँच से भी बाहर हृदय के अन्तस्तल मे प्रवेश कर आन्तरिक सत्य का उद्घाटन करता है। कवि शाब्दिक सत्य के लिए विशेष रूप से उत्सुक नहीं रहता, घटना के सत्य को वह अपनाना अवश्य चाहता है किन्तु उसे वह सुन्दरम् के शासन में रखना अपना कर्तव्य समझता है। लक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर गोस्वामीजी मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी से कहलाते हैं 'निज जननी के एक कुमारा' 'मिलहि न जगत् सहोदर भ्राता' 'पिता वचन मनतेउँ नहिं ओहू।' इनमें से कोई भी वाक्य इतिहास की कसौटी पर कसने से ठीक नहीं उतरता, किन्तु काव्य मे इनका वास्तविक सत्य से भी अधिक महत्व है। कभी-कभी झूठ में ही सत्य की अधिक से अधिक अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है। श्री रामजी के लिए लक्ष्मणजी का 'निज जननी के एक कुमारा' से अधिक महत्व था क्योंकि वे त्यागी तपस्वी और कर्तव्यपरायण थे। उन पर राम का स्नेह सहोदर भ्राता से भी बढ़ा-चढ़ा था और वे उनके लिए आदर्शों का भी बलिदान करने को प्रस्तुत थे। यह स्नेह की पराकाष्ठा थी।

फिर कवि के लिए सत्य का क्या अर्थ है ? कवि एक और एक = दो के सत्य में विश्वास नहीं करता। उसकी दृष्टि मे एक और एक, एक ही रह सकते हैं और तीन भी हो सकते हैं। सत्य को क्षुद्र निश्चित अगतिशील सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता है। न वह फोटो केमरा के निष्क्रिय सत्य का उपासक है। वह मानव हृदय के जीते-जागते सत्य का पुजारी है। उसके लिए विचारों की आन्तरिक और वाह्य संगति ही सत्य है। वह जन साधारण के अनुभव की अनुकूलता एवं

हृदय और विचार के साम्य को ही सत्य कहेगा। वह हृदय की सचाई को महत्व देगा। वह अपने हृदय को धोखा नहीं देता। उसके भावना के सत्य और सौन्दर्य में सहज सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

साहित्यिक-सत्य की नितान्त अवहेलना नहीं कर सकता है। कवि सम्भावना के क्षेत्र के बाहर नहीं जाता है, उसके वर्णित विषय के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह वास्तविक संसार में घटित हुआ हो किन्तु वह असम्भव न हो। 'होरी' नाम का किसान किसी गाँव विशेष में रहता हो या न रहता हो किन्तु उसने जो कुछ किया वही किया जो साधारणतया उसकी जाति के लोग करते हैं। कहा भी है— 'असम्भाव्यं न वक्तव्यं प्रत्यक्षमपि दृश्यते' वह इतिहास के नामों और तिथियों का महत्व न देता हुआ भी पूर्वापर क्रम से बँधा रहता है। वह अकबर को औरङ्गजेब का बेटा नहीं बना सकता। वातावरण का भी उसे ध्यान रखना ही पड़ता है। हाँ ब्यौरे की बातों में वह भावोद्-घाटन की आवश्यकताओं के अनुकूल मनचाहा उलट-फेर कर लेता है। मनुष्य में संकल्प की स्वतन्त्रता में विश्वास करता हुआ वह उसके कार्यक्रम में भी उलट फेर कर लेता है। एक स्थिति में कई मार्ग खुले रहते हैं। कवि को इस बात की स्वतन्त्रता रहती है कि उनमें से वह किसी को अपनावे। किन्तु प्रकृति के क्षेत्र में वह इतना स्वतन्त्र नहीं है कि वह धनियाँ और धान, सरसों और ज्वार को एक साथ खड़ा कर दे (जैसे—वो धानों की सब्जी वो सरसों का रूप) अथवा केशर को चाहे जहाँ उगा दे (जैसा केशव ने किया है) जिन बातों मे कवि लोगों का समझौता रहता है। (जिन्हें पारिभाषिक भाषा में कवि समय और अँगरेजी में Poetic Convention कहते हैं) उनके प्रयोग में उसे सत्य की परवाह नहीं रहती है जैसे—चकई चकवा रात को अलग-अलग रहते हैं, अथवा कमल नदी में होते हैं (वास्तव में कमल तालाब में होते हैं) अशोक का वृक्ष किसी सुन्दर स्त्री के पदा-घात से फूल उठता है ऐसा ही कवि समय है। जो सब के लिए सम हो समय कहलाता है। समय शब्द का प्रयोग आजकल के Agree-ment शब्द के अर्थ मे होता है—श्री रामचन्द्रजी सुग्रीव से कहते हैं कि अपने समय (वायदे) पर दृढ़ बने रहो। बालि के रास्ते के अनुगामी मत बनो—'समये तिष्ठ सुग्रीव मा बालिपथमन्वगाः।'

कवि अपनी रुचि के अनुकूल चित्र के ब्युरे (Detail) को उभार में लाने के लिए वास्तविक संसार में काट-छाँट करता है और कूड़े-कर्कट को साफ कर असली स्वर्ण को सामने लाता है। वह अदालती गवाह की भाँति सत्य, पूर्ण सत्य, और सत्य के अतिरिक्त कुछ नहीं कहने की विडम्बना नहीं करता। जिस दृष्टिकोण से सत्यदेव की सुन्दर से सुन्दर और स्पष्ट से स्पष्ट झाँकी मिल सकती है उसी कोने पर वह पाठक को लाकर खड़ा कर देता है। इसीलिए वह सत्य के सुन्दरतम रूप दिखाने के लिए थोड़ा मायाजाल रचे या चमत्कार के साधनों का प्रयोग करे तो वह अपने क्षेत्र से बाहर नहीं जाता है। इस बात का उसे ध्यान रखना पड़ता है कि उसका सत्य लोक में प्रतिष्ठित सत्य के साथ मेल खा सके। सत्य भी सामञ्जस्य का ही रूप है। वैज्ञानिक और साहित्य के सत्य में इतना अन्तर अवश्य है कि द्रष्टा की मानसिक दशा के कारण जो वास्तविकता मे अन्तर दिखाई देता है उसे वैज्ञानिक स्वीकार नहीं करता है और यदि स्वीकार भी करता है तो प्रमत्त के प्रलाप के रूप में। भाव-प्रेरित होने के कारण साहित्यिक प्रमत्त प्रलाप का भी आदर करता है। साहित्यिक झूठ मे भी सत्य के दर्शन करता है। विरह-व्यथित नायिका के भ्रम का भी उसके हृदय में मान है।

विरह-जरी लखि जीगननु, कह्यौ न डहि कै बार।
अरी, आव भजि भीतरैं; बरसत आजु अँगार॥

शिव का आदर्श—शिव क्या है और अशिव क्या है ? इसके उत्तर देने में 'कवयोऽपि मोहिताः' फिर 'अस्मदादिकानां का गणना ?' शिव के साथ ही मूल्य का भी प्रश्न लगा हुआ है। आज-कल मूल्य को इतना महत्व दिया जाता है कि व्यवहारिक उपयोगितावादी (Pragmatists) सत्य की भी कसौटी उपयोगिता ही मानते हैं। इस सम्बन्ध में साहित्यिक संकुचित उपयोगितावादी नहीं हैं। वह रुपये-आना-पाई का विशेषकर अपने सम्बन्ध में लेखा-जोखा नहीं करता। वह अपने को भूल जाता है किन्तु 'हित' के रूप में मतभेद है। कोई तो केवल आर्थिक और भौतिक हित को ही प्रधानता देते हैं। (जैसे प्रगतिवादी) और कोई उसकी उपेक्षा कर आध्यात्मिक हित को ही महत्व प्रदान करते हैं। वास्तव में पूर्णता मे ही आनन्द है।

'भूमा वै सुखम्' व्यक्ति की भी पूर्णता समाज में है। इसीलिए लोक-हित का महत्त्व है। 'हितं वा शिवं' वहीं है जो लोक (यहाँ लोक का अर्थ परलोक के विरोध में नहीं है) को बनावे और लोक को बनाने का अर्थ है व्यक्तियों की भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों मे सामञ्जस्य स्थापित कर उनको सुसंगठित और सुसम्पन्न एकता की ओर ले जाय। भेद मे अभेद, यही सत्य का आदर्श है और यही शिव का भी मापदण्ड है। भेद मे अभेद की एकता ही सम्पन्न एकता है। विकास का भी यही आदर्श है—विशेषताओं की पूर्ण अभिव्यक्ति के साथ अधिक से अधिक सहयोग और संगठन। जो साहित्य हमको इस आदर्श की ओर अग्रसर करता है वह शिवं का ही विधायक है। इस हितं के आदर्श में सौन्दर्य को भी स्थान है। भारतीय संस्कृति मे धर्म, अर्थ और काम तीनों को ही महत्व दिया गया है तीनों का संतुलन और अविरोध वैयक्तिक और सामाजिक जीवन का आदर्श है वही मोक्ष और आनन्द का विधायक होता है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी ने तीनों के अविरोध सेवन का ही उपदेश भ्रातृ-भक्ति-परायण भरत को दिया है—

> कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः।
> उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे ॥
> कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतांवरः।
> विभज्य काले कालज्ञ सर्वान्वरद सेवसे ॥

अर्थात् क्या तुम अर्थ से धर्म में और धर्म से अर्थ में और प्रीति, लोभ और काम से धर्म और अर्थ में बाधा तो नहीं डालते? और क्या तुम अपना समय बाँट कर धर्म, अर्थ और काम का सेवन करते हो?

सौन्दर्य का मान—सुन्दर क्या है? इसका भी उत्तर देना इतना कठिन है जितना कि शिवं और सत्यं का। कुछ लोग तो सौन्दर्य को विषयीगत ही मानते हैं 'समै-समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय? मन की रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होय।' अंग्रेजी कवि कॉलरिज ने भी ऐसी ही बात कही है। रमणी हम तुझ में वही पाते हैं जो तुझे देते हैं Lady, we receive but what we give कुछ लोग उसे विषयगत बतलाते हैं और कुछ उसे उभयगत कहते हैं। 'रूप रिझावन-

हार यह, वे नयना रिझवार' रवि बाबू ने रमणी-सौन्दर्य को आधा सत्य और आधा स्वप्न कहा है। आजकल अधिकांश लोग सौन्दर्य को विषयगत मानते हुए भी व्यक्ति पर पड़े हुए उसके प्रभाव का ही अधिक विवेचन करते है, कवियों की वाणी में भी प्रायः प्रभावों का ही वर्णन होता है। चेतन लोग तो सौन्दर्य के प्रभाव में आही जाते है (बिहारी को थुरहत्थी नायिका के लिए जगत भिखारी हो जाता है) किन्तु यह प्रभाव जड़ जगत तक भी व्याप्त दिखाया जाता है।

यहाँ पर सौन्दर्य की कुछ परिभाषाओ से परिचय प्राप्त कर लेना वाञ्छनीय है। हमारे यहाँ सौन्दर्य या रमणीयता की जो परिभाषा अधिक प्रचलित है, वह इस प्रकार है:—

'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैतितदेव रूपं रमणीयतायाः'

अर्थात् क्षण-क्षण मे जो नवीनता धारण करे वही रमणीयता का रूप है। बिहारी की नायिका का चित्र न बन सकने और गहि-गहि गरब गरूर आये हुए चित्रकारो का क्रूर बनने का एक यह भी कारण था कि क्षण-क्षण के नवीनता धारण करने वाले रूप को वे पकड़ नहीं सकते थे। इस परिभाषा में वस्तु को प्रधानता दी गई है।

काव्य में जो माधुर्य गुण माना गया है उसका साहित्य-दर्पणकार ने इस प्रकार लक्षण दिया है।

'चित्तद्रवीभावमयोऽह्लादो माधुर्यमुच्यते'

अर्थात् चित्त के पिघलाने वाले आह्लाद को माधुर्य कहते हैं। आह्लाद क्रूर और नृशंस का भी हो सकता है जैसा कि रोमन लोगों को निहत्थे मनुष्यों को शेर से लड़वाने मे आता था किन्तु माधुर्य का आह्लाद सात्विक आह्लाद है उसमें हृदय द्रवित हो उठता है। कुमार-सम्भव में कहा है कि सौन्दर्य पाप-वृत्ति की ओर नहीं जाता, यह वचन अव्यभिचारी है अर्थात् सत्य ही है। सच्चा सौन्दर्य स्वयं पाप-वृत्ति की ओर नहीं जाता है और दूसरे को भी उस ओर जाने से रोकता है। सौन्दर्य में सात्विकता उत्पन्न करने की शक्ति है।

'यदुच्यते पार्वति, पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।'

सच्चा प्रेमी प्रेमास्पद को पाना नहीं चाहता है वरन् अपने को उसमे खो देना चाहता है रवीन्द्र बाबू ने कहा है कि जल मे उछलने

वाली मछली का सौन्दर्य निरपेक्ष द्रष्टा ही देख सकता है, उसको पकड़ने की कामना करने वाला मछुआ नहीं। किन्तु यह निरपेक्ष दृष्टि बड़ी साधना से ही आसकती है। कुमारसम्भव में तो श्मशानवासी भूतभावन मदनमर्दन भगवान् शिव की भी यह निरपेक्ष दृष्टि नहीं रही है, फिर साधारण मनुष्यों की बात कौन कहे? किन्तु नितान्त निरपेक्ष दृष्टि न रखते हुए भी वासना से सात्विकता हो सकती है। साहित्य लौकिक वासना में इसी प्रकार की सात्विकता उत्पन्न कर देता है। कोई-कोई साहित्यिक आचार्य तो माधुर्य को उत्पन्न करने वाले अक्षर-विन्यास पर उतर आये, नहीं तो माधुर्य का सम्बन्ध चित्त से ही है। काव्य-प्रकाशकार ने कह भी दिया है "न तु वर्णानां" अर्थात् वर्णों से नहीं। वर्णों से केवल इसीलिए है कि आकृति में गुण रहते हैं 'यत्राकृतिस्तत्र गुणाःवसन्ति' माधुर्य जहाँ स्थायी होकर रहता है वहीं रमणीयता आजाती है। तभी उसमें क्षण-क्षण में नवीनता धारण करने की शक्ति रहती है। सुन्दर वस्तु में रमणीयता प्रत्येक अवस्था में रहती है। उसको बाहरी अलङ्कारों की जरूरत नहीं होती 'सरसिज-मनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्' रमणीयता में माधुर्य का भाव मिला कर हमारी परिभाषा विषयगत और विषयीगत दोनों ही बन जाती है।

माधुर्य को चित्त का द्रवणशील आह्लाद कह कर उस की व्याख्या में हम सात्विकता की उस दशा के निकट आ गये हैं जिसमें सौन्दर्य का अनुभव करने वाला, सुन्दर वस्तु के रसास्वाद में अपने को खो देता है। इसी बात को शुक्लजी ने भी लिया है, वे लिखते हैं—

'कुछ रूप-रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती है कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तर्सत्ता की यही तदाकार परि-णति सौन्दर्य की अनुभूति है।... जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी।'

यह व्याख्या प्रभाव-सम्बन्धी है किन्तु भारतीय सात्विकता को लेकर चली है। अंग्रेजी के लेखकों ने भी इस प्रकार की सात्विकता

को अपनाया है, शेली (Shelly) का कथन सौन्दर्य के सम्बन्ध में इस प्रकार है:—

A going out of our own nature and an identification of ourselves with the beautiful which exists in thought, action or person not our own.

अर्थात् अपनी प्रकृति से बाहर जाना और अपने से बाहर रहने वाले विचार, कार्य या व्यक्ति में रहने वाले सौन्दर्य से अपना तादात्म्य करना है। यह तादात्म्य की बात साधारणीकरण से सम्बन्ध रखती है। सौन्दर्य पाठक और कवि के हृदय में तदाकार वृत्ति उत्पन्न करने में समर्थ होता है।

सौन्दर्य की और भी परिभाषाएँ और व्याख्याएँ हैं। कुछ लोग तो सौन्दर्य को पूर्णता में मानते हैं। पूर्णता में 'क्षणे-क्षणे यन्नवता-मुपैति' की भावना आ जाती है। कुछ लोग सामञ्जस्य, संतुलन और एकरसता को प्रधानता देते हैं। वस्तु का सामञ्जस्य हमारे मन में भी उसी सामञ्जस्य को उत्पन्न कर देता है। उससे हमारी विरोधी मनोवृत्तियों में और प्रवृत्तियों में साम्य उत्पन्न हो जाता है।

कुछ आचार्यों ने सौन्दर्य की व्याख्या में उपयोगिता को महत्त्व दिया है। उनके मत से उपयोगिता पर ही सौन्दर्य आश्रित है। हर्बर्ट स्पेन्सर इसी मत के थे। कालिदास ने दिलीप के सौन्दर्य का जो वर्णन किया है उसमे 'व्यूढ़ोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुज' (अर्थात् चौड़ी छाती, बैल के से कंधे और शाल वृक्ष की सी लम्बी बाहें) के गुण दिये हैं वे वास्तव में क्षात्र धर्म के अनुकूल और उपयोगी है; तभी तो श्लोक की दूसरी पंक्ति में वे कहते हैं:—

'आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः'

अर्थात् अपने रक्षा-कार्य के योग्य शरीर को समझ कर क्षात्र-धर्म ने वहाँ आश्रय लिया है। यह पुरुष-सौन्दर्य का वर्णन है यहाँ उपयोगिता का भाव लग जाता है किन्तु सब जगह नहीं। हर जगह उपयोगिता काम नहीं देती। यद्यपि हम सौन्दर्य में सुकुमारता (गुलाब के फूल के झावे से एड़ी को घिसने पर एड़ी लाल हो जाने वाली

सुकुमारता) के पक्ष में अधिक नहीं है फिर भी उसका मूल्य है। सौन्दर्य ही स्वयं उसकी उपयोगिता है।

सौन्दर्य की जो वस्तु अपने लक्ष्य या कार्य के अनुकूल हो वही सुन्दर है। 'सुधा सराहिअ अमरता गरल सराहिअ मीचु' यह भी उपयोगिता का ही रूप है। क्रोचे ने अभिव्यक्ति को ही कला या सौन्दर्य माना है। वह सफल विशेषण भी नहीं जोड़ना चाहता क्योंकि असफल अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति नहीं है। यह परिभाषा कलाकृतियों पर ही अधिक लागू होती है। इन परिभाषाओं से हम इस तथ्य पर आये हैं कि सौन्दर्य का गुण किसी अंश में वस्तुगत है और उसका निर्णय तद्गत गुणों, रेखाओं आदि के सामञ्जस्य पर निर्भर है। इन गुणों, रूपों आदि का जितना सामञ्जस्य-पूर्ण वाहुल्य होगा उतनी वह वस्तु सुन्दर होगी (क्रोचे ने सौन्दर्य में श्रेणी-भेद नहीं माना है, वह असुन्दर की ही श्रेणियाँ मानता है) उसकी विषयगतता ही लोक-रुचि का निर्माण करती है। वैयक्तिक रुचि यदि विरुद्ध हो तो उसकी सराहना नहीं की जाती।

सीतलताऽरु सुगन्ध की, महिमा घटी न मूर।
पीनस वारे जो तज्यो, सोरा जानि कपूर ॥

इसी के साथ सौन्दर्य का विषयीगत पक्ष भी है जिसके कारण उसकी ग्राहकता आती है। सौन्दर्य का प्रभाव भी विषयी पर ही पड़ता है, इसीलिए उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

सौन्दर्य बाह्य रूप में ही सीमित नहीं है वरन् उसका आन्तरिक पक्ष भी है। उसकी पूर्णता तभी आती है जब आकृति गुणों की परिचायक हो। सौन्दर्य का आन्तरिक पक्ष ही शिवं है। वास्तव में सत्य शिव और सुन्दर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में एक दूसरे के अथवा अनेकता में एकता के रूप हैं। सत्य ज्ञान की अनेकता में एकता है, शिव कर्म-क्षेत्र की अनेकता की एकता का रूप है। सौन्दर्य भाव-क्षेत्र का सामञ्जस्य है। सौन्दर्य को हम वस्तुगत गुणों वा रूपों के ऐसे सामञ्जस्य को कह सकते हैं जो हमारे भावों में साम्य उत्पन्न कर हमको प्रसन्नता प्रदान करे तथा हमको तन्मय करले। सौन्दर्य रस का वस्तुगत पक्ष है। रसानुभूति के लिए जिस सतोगुण की अपेक्षा रहती है वह

सामञ्जस्य का ही आन्तरिक रूप है। सतोगुण एक प्रकार से रजोगुण और तमोगण का सामञ्जस्य ही है। उसमें न तमोगुण की सी निष्क्रियता रहती है और न रजोगुण की सी उत्तेजित सक्रियता। संतुलनपूर्ण सक्रियता ही सतोगुण है। इसी प्रकार के सौन्दर्य की-सृष्टि करना कवि और कलाकार का काम है। संसार में इस सौन्दर्य की कमी नहीं। कलाकार इस सौन्दर्य पर अपनी प्रतिभा का आलोक डाल कर इसे जनता के लिए सुलभ और ग्राह्य बना देता है।

कवि जहाँ पर सामञ्जस्य का अभाव देखता है वहाँ वह थोड़ी काट-छांट के साथ सामञ्जस्य उत्पन्न कर देता है। वही सामञ्जस्य पाठक वा श्रोता के मन में समान प्रभाव उत्पन्न कर उसके आनन्द का विधायक बन जाता है। सौन्दर्य की इतनी विवेचना करने पर भी उसमें कुछ अनिर्वचनीय तत्त्व रहता है, जिसके लिए बिहारी के शब्दों में कहना पड़ता है—'वह चितवन औरे कछू जिहि वस होत सुजान' इसी अनिर्वचनीयता के कारण प्रभाववादी आलोचना और रुचि को महत्त्व मिलता है।

——

काव्य के वर्ण्य

(रस—विभाव और भाव)

भावपक्ष और कलापक्ष—काव्य के प्रायः दो पक्ष माने जाते हैं:—एक भाव और दूसरा कलापक्ष। भावपक्ष में काव्य के समस्त वर्ण्य विषय आजाते है और कलापक्ष मे वर्णन शैली के सब अङ्ग सम्मिलित हैं। ये दोनों पक्ष एक दूसरे के सहायक और पूरक होते है। भावपक्ष का सम्बन्ध काव्य को वस्तु से है और कला का सम्बन्ध आकार से है। वस्तु और आकार एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते। कोई वस्तु आकारहीन नहीं हो सकती है और न आकार वस्तु से अलग किया जा सकता है। वैसे तो व्यापक दृष्टि से भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही रस से सम्बन्धित हैं क्योंकि कलापक्ष के अन्तर्गत जो अलङ्कार, लक्षणा, व्यञ्जना और रीतियाँ है वे सभी रस की पोषक हैं तथापि भावपक्ष का रस से सीधा सम्बन्ध है। वह उसका प्रधान अङ्ग है, कलापक्ष के विषय उसके सहायक और पोषक हैं।

रस—आचार्य विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा माना है। संक्षेप में तो रस आस्वादनजन्य आनन्द को कहते हैं किन्तु पारिभाषिक शब्दावली मे हम उसके रूप को इस प्रकार कहेंगे :—

विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों से मिलकर वासना रूप (संस्कार रूप) स्थायी भाव जब अपनी व्यक्त और पूर्ण परिपक्वावस्था को पहुँचता है तब वह आत्मा की सहज सात्विकता के कारण रस का आनन्दमय रूप धारण कर लेता है। प्राचीन कवियों ने इसी बात को अपनी काव्यमय भाषा में कहा है :—

> जो विभाव अनुभाव अरु विभिचारिनि करि होय।
> थिति की पूरन वासना, सुकवि कहत रस सोय॥

रस का सीधा वर्णन तो नहीं होता किन्तु वह विभावादि सामग्री द्वारा व्यञ्जित होता है। रस और उसकी सामग्री का सम्बन्ध सामने पृष्ठ पर दिये हुए चक्र से स्पष्ट हो जायगा।

रस-सामग्री
रस सामग्री + सहृदय के हृदयगत स्थायी भावों के संस्कार = रस
(कारण स्वरूप
बाह्य जगत में)
(कार्य रूप
अन्तर्जगत में)
(भावों के कार्य रूप
आश्रय की चेष्टाएँ आदि)
विभाव
भाव
अनुभाव
आलम्बन
उद्दीपन
स्थायी
सञ्चारी
सात्विक भाव
साधारण अनुभाव
(मूल कारण)
(सहायक कारण)
(प्रधान और
व्यापक भाव,
इनके संस्कार
सहृदय पाठक
मे भी रहते है)
(सहायक और
पोषक भाव
जो समुद्र की
लहरों की भाँति
उठते और विलीन
होते रहते हैं)
(स्वेद, कम्पादि)
सचेतन
(आलम्बन की चेष्टाएँ)
अचेतन
(प्राकृतिक दृश्य)
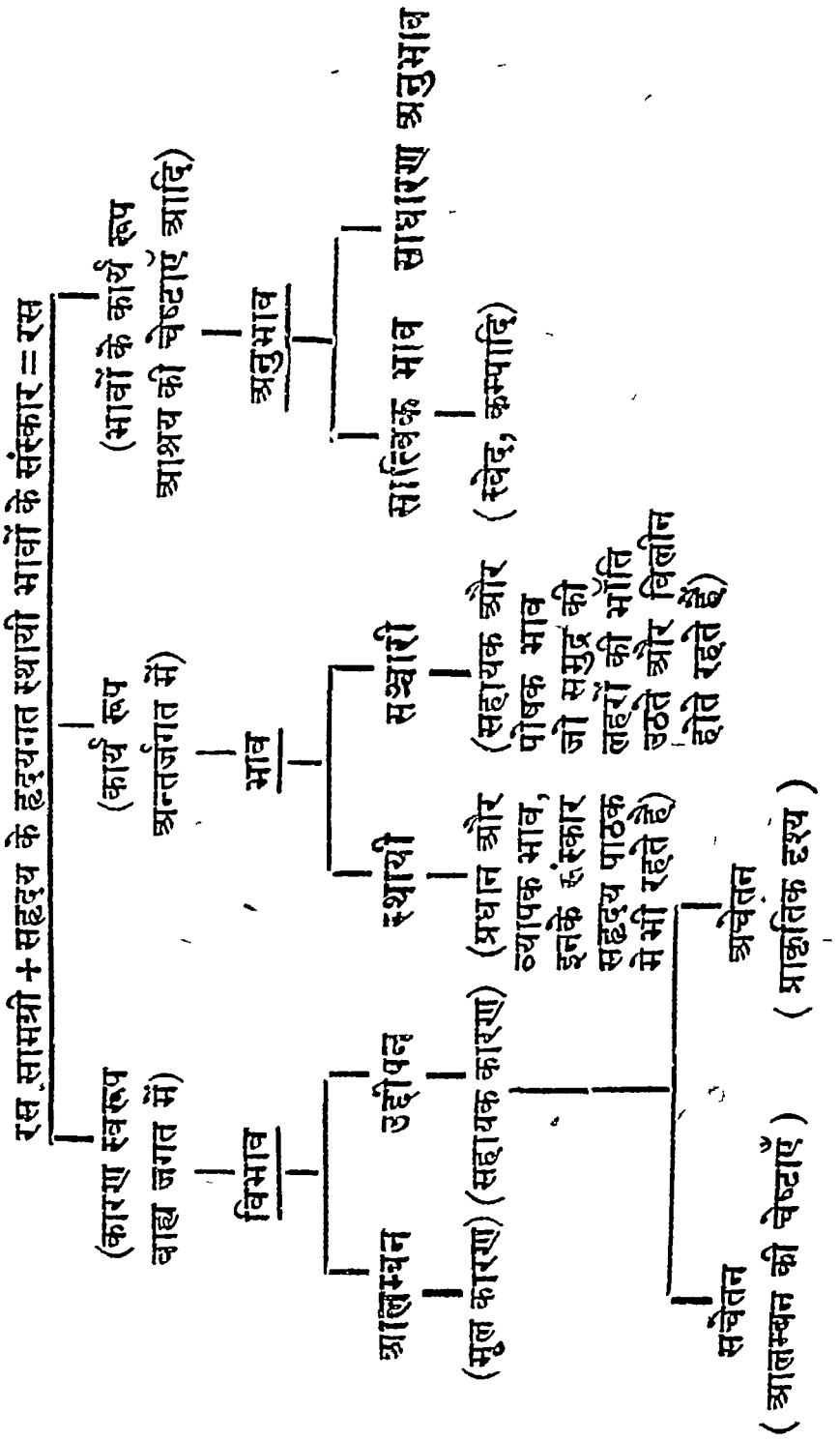
विभाव—भाव शब्द हमारे यहाँ व्यापक है, उसमें भाव (स्थायी और सञ्चारी) के साथ विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) भी आजाते हैं। यह शब्द संकुचित अर्थ मे भी लिया जाता है जिसमे वह रस की एक अपूर्ण अवस्था माना जाता है। पहले हम विभाव का ही वर्णन करेंगे। काव्य की कोई सी विधा हो, उसमे प्रायः भाव और विभाव दोनों ही होंगे। आचार्य शुक्लजी के शब्दों मे हम कह सकते हैं कि संसार में जैसे भावों की अनेकरूपता है वैसे ही विभावों की भी। भाव का उद्गम यद्यपि आश्रय में होता है तथापि उनका सम्बन्ध किसी बाह्य वस्तु से अवश्य होता है चाहे वह वस्तु कल्पित हो या वास्तविक। हमारे भाव किसी के प्रति होंगे अथवा किसी को देखकर जाग्रत हुए होंगे, वही हमारे भाव का आलम्बन होगा। यदि प्रगतिवादी कवि किसान और मजदूर को अपनी कविता का विषय बनाता है तो वही उसका आलम्बन है। उचित आलम्बन के बिना भाव सबलता प्राप्त नहीं कर पाते। आचार्य शुक्लजी की प्रतिभा विषय-प्रधान थी, इसीलिए उन्होंने आलम्बन की अज्ञेयता के कारण रहस्यवाद का विरोध किया है। किन्तु कोई वस्तु नितान्त अज्ञेय नहीं होती। उसकी अज्ञेयता ही उस अंश मे उसे ज्ञेय बना देती है। आलम्बन के साथ ही उद्दीपन का भी महत्त्व है क्योंकि उद्दीपन दोनों ही प्रकार के होते हैं (१) आलम्बनगत अर्थात् आलम्बन की उक्तियाँ और चेष्टाएँ आदि और (२) बाह्य अर्थात् वातावरण से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुएँ। इनको हम चेतन और अचेतन कह सकते हैं।

आलम्बन—काव्य में चाहे वह अनुकृत हो, चाहे प्रगीत और चाहे वह प्रबन्ध हो, चाहे मुक्तक, आलम्बन अवश्य रहता है। जिस प्रकार बिना खूँटो के कपड़े टिक नहीं सकते उसी तरह बिना आलम्बन के भाव स्थिर नहीं रह सकते। यही नाटक, महाकाव्य, उपन्यास आदि में नायक, प्रतिनायक, नायिका आदि के रूप मे आता है। इसी की शोभा, उदारता, वीरता, क्रूरता आदि का वर्णन कर भाव जाग्रत किये जाते हैं। हमारे यहाँ भाव की प्रधानता है किन्तु भाव के विस्तृत अर्थ में विचार भी शामिल हैं नहीं तो नीति के छंदों को कोई स्थान न मिलेगा। सूर तुलसी में कृष्ण और राम के शील, शोभा, शूरत्व, औदार्य आदि गुणों का भरपूर वर्णन है। इस शोभा के वर्णन में

अप्रस्तुत रूप से उपमानों में प्रकृति का भी बहुत-सा अंश आ जाता है और जड़ तथा चेतन का साम्य उपस्थित कर दिया जाता है।

देखि सखी अधरनि की लाली।
मनि मरकत तें सुभग कलेवर ऐसे हैं बनमाली।
मनो प्रात की घटा साँवरी तापर अरुन प्रकाश।
ज्यों दामिनि बिच चमकि रहत है फहरत पीत सुबास।
किधौं तरुन तमाल बेलि चढ़ि जुग फल बिंब सु पाक्यौ।
नासा कीर आइ मनु बैठ्यौ लेत बनत नहिं ताक्यौ।

सूर ने नेत्रों का वर्णन आलम्बन रूप से भी किया है और आश्रय रूप से भी। आलम्बन रूप में वे रूप का अङ्ग रहते हैं और आश्रयगत होकर रूप-पिपासा की शान्ति के माध्यम रूप से वर्णित होते हैं।

आलम्बन-पक्ष—

ऊधो! चपल नयन चलाय अंग राग दयो।
× × ×
सरद-वारिज ससि दृग भौंह काम कमान।
क्यों जीवहिं वेधे उर लागे विषम-बान॥
× × ×
मृगी मृगजलोचनी भए उभय एक प्रकार।
नाद-नयन विषय ताते न जान्यो मारन हार॥

आश्रय-पक्ष—

लोचन टेक परे सिसु जैसे।
माँगत हैं हरि-रूप-माधुरी खोज परे हैं तैसे।
बारम्बार चलावत उतहीं रहन न पाऊँ वैसे।
जात चले अपुन हीं अब लौं राखे जैसें तैसें।
× × ×
अँखियनि यहई टेव परी।
कहा करौं वारिज-मुख ऊपर लागति ज्यौं भ्रमरी॥

चरित्र-चित्रण—सौन्दर्य-वर्णन के साथ चरित्र-चित्रण का भी प्रश्न उपस्थित हो जाता है। आलम्बन के आपे या आत्म-भाव

(Personality) से उसका रूप और चरित्र सभी कुछ आ जाता है। यद्यपि हमारे यहाँ नायक और विशेषकर नायिकाओं का वर्गीकरण हास्यास्पद कोटि तक पहुँच गया है और उनमें नायकों और नायिकाओं के सामान्य या ढांचे (Types) उपस्थित करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है तथापि हमारे यहाँ व्यक्तित्व की अवहेलना नहीं की गई है। नाटकों में तो व्यक्तित्व काफी निखरा हुआ रहता है। धीरोदात्त नायक एक सामान्य (Type) अवश्य है किन्तु राम और युधिष्ठिर का व्यक्तित्व भिन्न है, इसी प्रकार दुष्यन्त और अग्निमित्र दोनों ही धीरललित हैं किन्तु उनका व्यक्तित्व एक नहीं है।

सामान्य और व्यक्ति का समन्वय ही चरित्र-चित्रण की मूल समस्या है यदि पात्र अधिक सामान्य की ओर जाता है तो उसका अस्तित्व नहीं रहता है और यदि वह सामान्य से बहुत हट जाता है तो पागल या विक्षिप्त कहलाने लगता है, इसलिए सफल पात्र वे ही हैं जो सामान्य से दूर न होते हुए भी अपनी विशेषता बनाये रखते हैं और उसके कारण वे पहचाने जा सकते हैं। एक सफल पात्र में दोनों ही अंश होते हैं। उसको जो कुछ समाज से मिलता है वह उसका सामान्य अंश होता है और जो व्यक्ति स्वयं अपनी गाँठ का लाता है वह उसका वैयक्तिक भाग होता है। फिर भी कुछ पात्र सामान्य की ओर अधिक झुके हुए होते हैं और कुछ व्यक्तित्व की ओर। सामान्य की ओर झुके हुए पात्र सरल होते हैं और व्यक्तित्व की ओर झुके हुए पात्र अपेक्षाकृत पेचीदा किन्तु यह बात नियम रूप से नहीं स्वीकृत हो सकती है। आचार्य शुक्लजी ने मंथरा को सामान्य (Type) पात्र ही माना है। अपनी मालकिन की हित-कामना तथा इधर की उधर लड़ाने की प्रवृति उसमें अन्य नौकरानियों की सी ही है किन्तु इन दो प्रवृत्तियों की साधना का प्रकार सब में एक-सा नहीं होता है। इसी में व्यक्ति की विशेषता आ जाती है।

हमारे यहाँ उपन्यासों में प्रेमचन्द्जी के पात्र सामान्य की ओर अधिक झुके रहते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनमें व्यक्तित्व नहीं है कुछ का तो व्यक्तित्व बड़ा स्पष्ट है जैसे कर्म-भूमि में सलीम का। वह अपने कक्ष के मैजिस्ट्रेटों से भिन्न है किन्तु वैसे लोग भी जीवन में मिल जाते हैं। जैनेन्द्रजी तथा इलाचन्द्र जोशी के पात्र साधारण से

हटे हुए होते हैं। कुछ तो इतने हटे होते हैं (जैसे जैनेन्द्रजी के हरिप्रसन्न और सुनीता) कि विक्षिप्तता ही कोटि को पहुँच जाते है। इलाचन्द्र जोशी के 'प्रेत और छाया' का नायक मानसिक विकृतियों का शिकार होने के कारण साधारण से हटा हुआ है । पात्र जितना पेचीदा होता है उतनी ही उसके मनोवैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता होती है। शेखर ऐसा ही पात्र है। कुछ पात्रो मे एक गुण ऐसा होता है जो साधारण से विलक्षण होता है वही उनके चरित्र की कुञ्जी होती है और उसी के कारण वे सदा याद रहते है, जैसे स्कन्दगुप्त की देवसेना-अपने समय-कुसमय के सङ्गीत प्रेम के लिए सदा याद रहेगी।

चरित्र-चित्रण महाकाव्य, खण्डकाव्य, कथात्मक मुक्तक, नाटक, उपन्यास, कहानी सभी मे थोड़ी-बहुत मात्रा में होता है किन्तु सब में अलग-अलग प्रकार से। महाकाव्य मे वैयक्तिक गुण तो रहते है किन्तु वे जाति के सामान्य गुणा की छायारूप होते है। नाटक, उपन्यास, कहानी आदि मे व्यक्तित्व की मात्रा अधिक रहती है। उपन्यास मे विश्लेषात्मक के (जिसमे लेखक स्वयं चरित्र का विश्लेषण कर देता है) अतिरिक्त अभिनयात्मक पद्धति की भी (जिसमे पात्र स्वयं अपने बारे मे कहता है या दूसरे उसके बारे में अपनी राय जाहिर करते है अथवा उसके कार्यों द्वारा चरित्र पर प्रकाश पड़ता है) गुञ्जाइश रहती है। नाटक मे केवल अभिनयात्मक पद्धति से ही काम लिया जाता है। एकाङ्कियो और कहानियो में चरित्र का विकास तो दिखाने की गुञ्जाइश नही होती किन्तु उनमे प्रायः बने-बनाये चरित्र पर एक साथ प्रकाश डाला जाता है या यदि परिवर्तन होता है तो एक साथ होता है, जैसाकि डा० रामकुमार वर्मा के रेशमी टाई या अट्ठारह जुलाई की शाम मे अथवा प्रेमचन्दजी की शंखनाथ अथवा कौशिकजी की ताई नाम की कहानी मे। हमारे देश के प्राचीन काव्य और नाटको में पात्र आदर्श की ओर अधिक झुके हुए थे किन्तु उनमे व्यक्तित्व की कमी न थी—हॉ उन मे विकास और परिवर्तन की गुंजाइश कम रहती थी। यह बात राम-कृष्ण आदि अवतारी पुरुषो पर अधिक लागू होती थी। मनुष्य के अन्तःकरण का परिचायक या तो उसका वार्तालाप होना

है या उसका काम, यदि दिखावटी न हो। ये सब विभाव के ही अङ्ग हैं।

प्राकृतिक दृश्य—विभाव-वर्णन में आलम्बन और उसकी चेष्टाओं के अतिरिक्त उद्दीपन रूप से प्राकृतिक दृश्य भी आते हैं। उद्दीपन उचित वातावरण ही नहीं उपस्थित करते वरन् रस को जाग्रत रखने और उसकी अनुभूति में तीव्रता प्रदान करने में भी सहायक होते हैं। उपन्यासों और नाटकों में जो देश-काल का वर्णन रहता है (नाटकों में यह वर्णन रंगमञ्च के संकेतों में रहता है) वह कथा को स्पष्टता प्रदान करने के लिए ही होता है किन्तु कहीं-कहीं जहाँ प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन आजाता है वहाँ वह आलम्बन या उद्दीपन रूप से रस का भी उद्दीपक और पोषक होता है। मेरा अभिप्राय यह है कि उपन्यास आदि आजकल की उपज की साहित्यिक विधाओं का भी रस की दृष्टि से अध्ययन हो सकता है। नाटक की वस्तु की भाँति उपन्यास और कहानियों का अङ्कों और दृश्यों में तो नहीं किन्तु सन्धियों और अवस्थाओ और अर्थ-प्रकृतियों में तो हो ही सकता है। प्रोफेसर कन्हैयालाल सहल और सत्येन्द्रजी ने ऐसा उद्योग भी किया है। महाकाव्य में तो सन्धियों के रखने का विधान है ही। वह उपन्यास के उतार-चढ़ाव में भी दिखाया जा सकता है। जिस प्रकार रीतियाँ संगठन के सौष्ठव के कारण रस की उपकारक होती हैं उसी प्रकार कथा-वस्तु का संगठन भी रस का उपकारक होता है।

हमारे यहाँ प्रकृति का वर्णन प्रायः उद्दीपन रूप से हुआ है। शास्त्रीय विचार से प्रकृति के प्रति आलम्बन रूप से रतिभाव रखना रस का उत्पादक नहीं, केवल भाव का ही उत्पादक होगा। शास्त्रीय पद्धति केवल दाम्पत्य रति को ही गौरवपूर्ण स्थान देती है किन्तु जिस प्रकार वात्सल्य ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित कर लिया है उस प्रकार प्रकृति भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित कर अपना एक विशेष रस बना लेगी या रति की शास्त्रीय परिभाषा को कुछ शिथिल करना पड़ेगा। आचार्य शुक्लजी ने प्रकृति के आलम्बन रूप से वर्णन का विशेष पक्ष लिया है और उन्होंने हरी घास और बाँसों के झुरमुटों का काव्यमय वर्णन भी किया है। उनका कथन है कि संस्कृत के कवियों ने प्रकृति के आलम्बन रूप से वर्णन की ओर

अधिक ध्यान दिया है। किन्तु वास्तविक बात यह है कि उनका चित्रण भी मानव प्रसङ्ग में ही हुआ है। प्रकृति के, स्वयं उसके लिए वर्णन बहुत कम हैं। 'अस्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मता हिमालयो नाम नगाधिराज' से शुरू होने वाला कालिदास के कुमारसम्भव में दिया हुआ हिमालय का वर्णन बड़ा विशद और सूक्ष्म है किन्तु आठारहवें ही श्लोक पर जाकर हिमालय को मानवी रूप दे दिया जाता है और उसकी मेना से शादी करा दी जाती है—

मेना मुनोनामपि माननीयामात्मानुरूपा विधिनोपयेमे।

शायद इसीलिए आचार्य शुक्लजी ने भी इस बात से सन्तोष कर लिया कि जहाँ संश्लिष्ट वर्णन हो वहाँ आलम्बनत्व मान लेना चाहिए। प्रकृति के आलम्बनत्व-धर्म का पालन आजकल के छाया-वाद युग में पर्याप्त रूप से हुआ है। इस वर्णन से उसका मानवीकरण भी स्वाभाविक रूप से हो जाता है क्योंकि जो हमारे भावों की आलम्बन बनेगी उसमे स्वयं हमारे भावों की झलक न हो तो प्रेम की एकाङ्गिता एक दूषित रूप में प्रकट होने लगती है। प्रकृति के प्रति प्रेम को सार्थकता देने के लिए दो ही बातें हो सकती हैं या तो उसको मानवीरूप मे देखा जाय या उसका चेतन आधार परमात्मा मे माना जाय। ये दोनों बातें हमको पन्त और प्रसाद के प्राकृतिक वर्णनों में मिलती हैं। उद्दीपन रूप से वर्णन के लिए यह बात जरूरी नहीं है कि उसका चेतन आधार माना जाय। प्रकृति से उपदेश-ग्रहण करने की जो प्रवृत्ति है, जैसी तुलसीदासजी के वर्षा-वर्णन में है, अथवा कुछ-कुछ अन्योक्तियों मे मिलतो है, वह भी प्रकृति को मानव-सम्बन्ध में देखना है। यही वैज्ञानिक और साहित्यिक दृष्टिकोण में अन्तर है। वैज्ञानिक मनुष्य को भी प्रकृति के धरातल पर घसीट लाता है और साहित्यिक प्रकृति को भी मानव के समकक्ष बना लेता है।

यद्यपि प्राचीन कवियों ने प्रकृति का वर्णन आलम्बन रूप से कम किया है तथापि उन्होंने मानव-व्यापारों में प्रकृति का सहचार पूर्णरूपेण स्वीकार किया है। चन्द्र-ज्योत्स्ना और मलय-समीर रास-रस में और भी मिठास उत्पन्न कर देते हैं। इसीलिए तो नन्ददासजी ने चन्द्रमा को रस-रास सहायक कहा है, देखिए:—

ताही छिन उडुराज उदित, रस रास सहायक।
कुंकुम-मण्डित प्रिया-बदन, जनु नागर नायक॥
कोमल किरन-अरुनिमा, बन में ब्यापि रही यों।
मनसिज खेल्यौ फाग, घुमड़ि घुरि रह्यौ गुलाल ज्यों॥

वर्षा और वसन्त विरहिणियों की विरह-वेदना को तीव्रता प्रदान करते हैं। यहाँ तक तो बात मनोविज्ञान के अनुकूल रहती है। सम्बन्ध-ज्ञान से दृश्य स्मृति को जाग्रत कर विरह पर सान चढ़ा देते हैं।

बिनु गुपाल बैरिन भईं कुञ्जें।
तब ये लता लगति अति शीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुञ्जें॥

कृष्ण के मथुरा चले जाने पर सूर की गोपियाँ मधुवन से पूँछती हैं 'मधुवन तुम कत रहत हरे।' यहाँ तक भी गनीमत है। जायसी ने तो सारी प्रकृति को विरह से व्याप्त दिखलाया है। तालाब की मिट्टी की दरारें और गेहूँ का बीच में से फटा होना विरह के कारण ही बतलाया है। इसकी यही व्याख्या हो सकती है कि कवि विरह-वर्णन में इतना तन्मय हो गया है कि उसको चारों ओर विरह ही विरह दिखाई देता है। ऐसी बात कवि की अपेक्षा पात्र के मुख से कहलाने में अधिक स्वाभाविकता रहती है।

प्रकृति में संवेदना देखने को रस्किन ने संवेदना का हेत्वाभास (Pathetic fallacy) कहा है। कलिदास ने मेघदूत में विरही यक्ष के द्वारा मेघ से संवेदना की याचना कराई है किन्तु उन्होंने स्वयं इस बात के अनौचित्य का अनुभव किया है और कहा है कि कामी लोग चेतन और अचेतन का अन्तर नहीं करते 'कामार्ताहि प्रकृतिकृपणा-श्चेतनाचेतनेषु' (इस बात का श्री कन्हैयालाल सहल ने अपनी समीक्षाञ्जलि में संवेदना के हेत्वाभास शीर्षक लेख में अच्छा विवेचन किया है।)

संवेदना के हेत्वाभास की बात को कालिदास भी जानते थे किन्तु विरह की तीव्रता के वर्णन में यह हेत्वाभास भी सत्य का परिचायक होता है। कभी-कभी जैसे श्रीरामचन्द्रजी का प्रश्न 'हे खग मृग हे मधु-कर श्रेनी, तुम देखी सीता मृगनयनी' में चेतन अचेतन का अभेद मन की वास्तविक विरहजन्य उन्माद दशा का द्योतक होता है।

सूर ने भी कृष्ण के वियोग में गोपियों के साथ जमुना को विरह-जुर जारी कहलाया है-'देखियत कालिन्दी अति कारी। कहियो पथिक! जाय हरिसों ज्यों भई विरह-जुर-जारी' किन्तु जायसी और उनमें इस बात का अन्तर है कि सूर ने मधुवन और जमुना को ही लिया है जिनसे कि श्रीकृष्ण का विशेष सम्बन्ध था। उन्होंने जायसी की भाँति सारी प्रकृति को नहीं लिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य में प्रकृति-वर्णन की जितनी विधाएँ हैं (१) आलम्बन रूप से, जैसे संस्कृत काव्यों में तथा शुक्लजी, प्रसादजी, पन्त, निराला आदि की रचनाओं में (२) उद्दीपन रूप से, जैसे हिन्दी कवियो के ऋतु-वर्णनों एवं बारहमासा आदि में (३) अलङ्कार-योजना में जैसे सूर आदि में कृष्ण के सौन्दर्य-वर्णन में (४) उपदेश-ग्रहण रूप से, जैसे अन्योक्तियों मे अथवा तुलसीदासजी के वर्षा और शरद-वर्णन में "उदित अगस्त पन्थ जल सोखा, जिमि लोभहि सोषहि सन्तोषा।" (५) मानवी-करण-रूप से, जैसे निरालाजी की सन्ध्या-सुन्दरी मे "दिवसावसान का समय, मेघमय आसमान से उतर रही है, वह सन्ध्या सुन्दरी परी सी,-धीरे-धीरे-धीरे," (६) ईश्वर-सत्ता की अभिव्यक्ति के रूप से, जैसे वर्ड्सवर्थ, प्रसाद, पन्त आदि में; उन सब मे जड़ चेतन का सामञ्जस्य स्थापित कर प्रकृति को मानव के समकक्ष बनाने का मानवी दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। इतना ही नहीं यह बात साहित्य की सहितता और समन्वय बुद्धि का परिचायक भी है। केशव आदि ने (सेनापति ने भी श्लेष-प्रधान छन्दों में) केवल चमत्कार-प्रदर्शन के लिए जो प्रकृति-वर्णन किया है वह चाहे कवि के पाण्डित्य के लिए हमसे प्रशंसा के दो शब्द कहला ले किन्तु उसमें कवि का प्रकृति का प्रेम नहीं दिखाई देता है। केशव ने अर्क (अकौआ और सूर्य) के श्लेष के आधार पर दण्डक वन में प्रलयकाल के सूर्यों-का-सा प्रकाश कराया है 'बेर भयानक सी अति लगे, अर्क समूह जहाँ जगमगे" किन्तु इस बात में बिहारी ने अधिक सुबुद्धि का परिचय दिया है—गुनी-गुनी सब कोउ कहै, निगुनो गुनो न होत। सुन्यो कहूँ तरु अर्क ते, अर्क समान उदोत॥'

हमारे काव्य-ग्रन्थों में प्रकृति को अलङ्कार तथा अलङ्कार्य दोनों रूपों में ऊँचा स्थान मिला है। महाकाव्यों में प्राकृतिक दृश्यों को भी

नायक आदि के साथ वर्ण्य विषयों में रक्खा है।

> सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः।
> प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः॥

केशवदासजी ने वर्ण्य विषयों के वर्णन को भी अलङ्कार मान कर ऐसे विषयों की बड़ी लम्बी सूची दी है। उसमें रङ्ग—जैसे सफेद, काला, पीला आदि और उस-उस रंग वाली वस्तुएँ तथा गुण जैसे सम्पूर्ण गोल, चञ्चल, आदि के साथ उन गुणों से विशिष्ट वस्तुएँ भी गिनाई हैं। इनके साथ प्राकृतिक वस्तुओं की भी सूची दी है। वह इस प्रकार है:—

> देश, नगर, बन, बाग, गिरि, आश्रम, सरिता, ताल।
> रवि, शशि, सागर, भूमि के, भूषण ऋतु सब काल॥

इसके बाद उन्होंने एक-एक शीर्षक के अन्तर्गत आने वाली वस्तुएँ गिनाई हैं, जैसे वन के वर्णन में वे नीचे की वस्तुएँ बतलाते हैं:—

> सुरभी, इभ, बन, जीव बहु, भूत, प्रेत, भय भीर।
> भिल्ल भवन, वल्ली विटप, दल बरनहु मति धीर॥

इस प्रकार रीतिकाल में काव्य के वर्ण्य विषयों की परम्परा-सी बन गई थी। राम-चन्द्रिका में तो परम्परा का पालन किया ही गया है किन्तु रामचरित मानस में भी प्रायः ये विषय आये हैं। रामचन्द्रिका और कवि-प्रिया में समानरूप से आये हुए ऐसे कुछ छन्दों की तालिका लेखक के 'हिन्दी काव्य-विमर्श' के अन्त मे देखी जा सकती है। स्वाभाविक रूप से भी महाकाव्यों में ये विषय आ ही जाते हैं किन्तु जहाँ यह वर्णन प्रसङ्ग मे घसीट कर लाये जाते हैं और एक बाँधी हुई परिपाटी के अनुकूल किये जाते है वहीं ये निंद्य हो जाते हैं। इभ अर्थात् हाथी का वर्णन प्रत्येक बन के सम्बन्ध में सम्भव नहीं और हरएक बन मे चन्दन के वृक्ष का भी वर्णन नहीं हो सकता। 'चन्दनं न वने-वने' वर्णन निजी निरीक्षण पर आश्रित रहने चाहिए।

भाव और विचार—रसात्मक वाक्य होने के कारण काव्य का मूल रूप रागात्मक या भावात्मक है किन्तु उसमें भी भाव का

विचारों से जिनका बुद्धितत्व से विशेष सम्बन्ध है, नितान्त, विच्छेद नहीं रहता। साहित्य में जहाँ शब्द और अर्थ के सहित होने का भाव रहता है वहाँ रागात्मक-तत्व प्रधान भावों और बुद्धि-तत्व-प्रधान विचारों का भी सामञ्जस्य रहता है। चाहे गद्य और पद्य के रूपों मे तत्वों की मात्रा का भेद हो गद्य में विचारों की प्रधानता रहती है और पद्य में भावों की। यह युग गद्य-प्रधान है, इसलिए हमारे सामने यह समस्या उपस्थित हो जाती है कि विचार-प्रधान साहित्य का रस को काव्य की आत्मा मानने वाले विचारकों के रस-विधान में क्या स्थान होगा? प्राचीन पद्यात्मक साहित्य में भी विशेषकर नीति-ग्रन्थों में विचार की कमी नहीं थी। यद्यपि बहुत से नीति ग्रन्थ शास्त्र के अन्तर्गत माने जायेंगे तथापि नीति के कुछ छन्द अवश्य (जैसे भर्तृ-हरि के नीति शतक के) काव्य की कोटि में आ सकते हैं। आजकल उपन्यास, कहानी, नाटक आदि में उद्देश्य को तत्व के रूप में प्रधानता दी जाती है। उद्देश्य का सम्बन्ध विचारों से है। क्या हम विचारात्मक साहित्य को रस के क्षेत्र से बाहर रक्खेंगे? हमारा मानसिक संस्थान बड़ा संकुल है। विचारों में थोड़ा-बहुत रागात्मक अंश अवश्य रहता है, इसी प्रकार भाव के साथ विचार भी अनुस्यूत पाये जाते हैं। दार्शनिक और साहित्यिक की विचारात्मक रचना मे यही अन्तर है कि उसकी सृष्टि शुद्ध विचारात्मक होती है, साहित्यिक की सृष्टि विचारात्मक होती अवश्य है किन्तु उसके विचार भाव-प्रेरित होते हैं। वे विचार कवि या साहित्यिक के जीवन के प्रति रागात्मक प्रतिक्रिया के फल होते हैं। साहित्यिक भाव-प्रेरित होकर ही जीवन को देखता है और उसके भावों के केन्द्र-बिन्दुओं के सहारे विचार इकट्ठे होने लगते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि मिश्री के कूँजे मे धागे और बाँस की खपची के सहारे मिश्री के कण इकट्ठे हो जाते हैं। साहित्यिक के सैद्धान्तिक विवेचन सामान्य होते हुए भी व्यक्ति-आश्रित होते हैं और व्यक्तित्व नितान्त भाव-निरपेक्ष नहीं होता है।

आजकल के उपन्यास चाहे जितने विचार-प्रधान हों किन्तु उनके मूल में भाव ही रहते हैं। आधुनिक समस्यात्मक नाटक भी अन्त में भाव-मूलक ही ठहरते हैं। यही हाल उपन्यासों का है। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में पीड़ित मानवता के प्रति करुणा और उसके उद्धार

के लिए उत्साह की भावना रहती है। इसलिए वे वीर रस के व्यापक रूप के अन्तर्गत समझे जायँगे। इसी प्रकार साहस-प्रधान उपन्यास वीर रस के ही काव्य कहे जाँयगे। चरित्र-प्रधान उपन्यासों के नायकों मे जो भाव-प्रधान होगा उसी के अनुकूल उनका रस निर्धारित होगा। सेक्स-प्रधान उपन्यास शृङ्गार रस या उसके रसाभास का रूप माने जाँयगे। यदि किसी उपन्यास मे किसी कुप्रथा की बुराई है तो वह वीभत्स में ही शामिल की जायगी किन्तु जो बुराई शोषक के कारण शोषित में आती है वह करुणा का ही विषय होती है। शोषक का मनोव्यापार वीभत्स का विषय बनेगा। हास्य-व्यङ्ग्य-प्रधान उपन्यास या नाटक हास्यरस के उदाहरण कहे जायँगे।

आजकल के उपन्यासों में यह निर्धारित करना तो कठिन हो जाता है कि उनमे कौन-सा रस प्रधान है किन्तु रस की दृष्टि से उनका विश्लेषण किया जा सकता है। कुप्रथाओं के प्रति जो विद्रोह हो वह वीर का ही रूप समझा जायगा। उसमें रौद्र, सात्विक क्रोध के रूप में और वीभत्स अङ्ग रूप से आ सकते हैं। सेवा-सदन में वेश्याओं के उद्धार के सम्बन्ध में जो नायिका (सुमन) का उत्साह है वीर का ही रूप है। उसमें हिन्दू समाज में जो वेश्याओं के प्रति आदर-भावना है वह वीभत्स का उदाहरण है। गबन का मूल उद्देश्य है—स्त्रियो के आभूषण-प्रेम तथा पुरुषों के वैभव-प्रदर्शन का दुष्परिणाम और पत्नी का पातिव्रत-प्रेरित नैतिक साहस और सुधार-भावना का उद्घाटन करना। रस की दृष्टि से इसको हम शृङ्गार रसाभास से सच्चे शृङ्गार की ओर अग्रसर होना कहेंगे। इसमें अङ्ग रूप से भयानक का भी समावेश हो गया। पकड़े जाने के भय से कलकत्ते जाते हुए रमानाथ की भयाकुल मनोवृत्ति को दिखाने में मुंशी प्रेमचन्द पूर्णतया सफल हुए हैं।

नीति के दोहो, अन्योक्तियो आदि के सम्बन्ध में हम यही कह सकते है कि राजनीति के दोहे या छन्द तो वीर के ही अन्तर्गत आयंगे और कुछ शान्त से सम्बन्धित समझे जायँगे। जहाँ तक सद्व्यवहार और मानवता का प्रश्न है वहाँ तक वह शान्त रस के ही विषय होंगे। कुछ उक्तियाँ राजनीति से सम्बन्धित होने के कारण वीर रस की कही जायँगी।

भाव—अपने संकुचित अर्थ में भाव अपरिपक्व रस को कहते हैं किन्तु व्यापक अर्थ में मन के विकार मात्र को कहते हैं और उसमें स्थायी और सञ्चारी दोनों ही भाव आजाते हैं। इतना ही नहीं उन भावों के वाह्य व्यञ्जक अनुभाव और सात्विक भाव भी भाव की ही संज्ञा मे आते हैं। स्थायी भावों का सम्बन्ध हमारे जीवन की रक्षा तथा उससे सम्बन्धित हमारी प्रारम्भिक आवश्यकताओं से है। सञ्चारी भावों का सम्बन्ध हमारी आत्म-रक्षा से बिलकुल सीधा नहीं है वरन् स्थायी भावों द्वारा है। रति क्रोध, उत्साह, विस्मय आदि हमारी जीवन-रक्षा से सम्बन्धित हैं। हर्ष, गर्व, दीनता, ग्लानि, व्रीड़ा, (लज्जा) असूया (डाह, विशेषकर सपत्नी से) आदि गौण मनोवेग हैं और वे स्थायी भावों को पुष्ट करते हैं। इनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। ये दूसरे भावों के सहायक होकर ही जीवित रहते हैं। हमारे यहाँ समीक्षा-क्षेत्र में स्थायी भावों और उनके सञ्चारी भावों का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। ये सञ्चारी भाव स्थायी भावों की रूप-रेखा निश्चित कर उनमें रङ्ग भरते हैं और उन्हें भी सफलता प्रदान करते है। स्थायीभाव तो अधिकतर अनुमित ही रहता है। वह अपने सञ्चारियों से ही पहचाना जाता है। अनुभाव भी स्थायी भाव का अस्तित्व निश्चित कराते हैं। ये सभी भाव रस की अभिव्यक्ति में उसके कारण रूप से स्थान पाते हैं। एक रस के स्थायी भाव जब किसी दूसरे रस के अङ्ग बनकर आते हैं सञ्चारी कहे जाते है, जैसे शृङ्गार के साथ हास्य, वीर के उत्साह के साथ भयानक और वीभत्स के स्थायी भाव। इन भावों के अतिरिक्त रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भाव-शान्ति, भाव-सन्धि, भाव-शबलता, रस-मैत्री आदि सभी विषय भाव-जगत के विस्तार में समाविष्ट माने जाते हैं। भाव रस से स्वतन्त्र नहीं है और न भावों के बिना रस की स्थिति है। वे बीज-वृक्ष-न्याय से एक दूसरे को प्रकाशित करते हैं, 'न भावहीनोऽस्ति-रसो न भावो रसवर्जितः'।

शृङ्गार—रसों मे शृङ्गार रस को मुख्यता दी जाती है। उसे रस-राज भी कहते हैं। संयोग और वियोगात्मक उसके उभय पक्ष होने के कारण उसमे सुखद और दुखद दोनों ही अनुभव आ जाते हैं और उसका विस्तार बहुत बढ़ जाता है। इसलिए उसमें अधिक से अधिक

(केवल चार को छोड़कर) सञ्चारी भावों का समावेश हो जाता है। हमारे साहित्यिकों ने शृंगार के विभावों नायक नायिकाओं) का आवश्यकता से अधिक वर्णन किया है। शृङ्गार की रति में एक विशेष तन्मयता रहती है, यह तन्मयता का भाव सभी रसों में रहता है। इसलिए भी शृङ्गार को प्रधानता मिलती है। रति का अर्थ व्यापक रूप में लिया जाय तो सभी उत्तम भाव इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। साहित्य-दर्पण में जो इसका लक्षण दिया गया है उसमें उसे दाम्पत्य रति में ही सङ्कुचित नहीं किया है—'रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थेमनसः प्रवणायितम्'। मन के अनुकूल अर्थ में मन का प्रेमार्द्र या द्रवीभूत होने को रति कहते हैं। 'नेंक जु प्रिय जन देखि सुन आन भाव चित होय।' इसीलिए वात्सल्य को भी इसके अन्तर्गत कर लिया जाता है। यह शब्द रबर की तरह लचीला है। इसमें मन की वृत्ति घोर ऐन्द्रिकता से लगाकर मनकी उच्च से उच्च अवस्था तथा रहस्यवाद की ईश्वरोन्मुख प्रेम-दशा तक पहुँच जाती है। भरत मुनि ने कहा है 'यत्किञ्चिल्लोके शुचिर्मेध्यंमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते' जो कुछ पवित्र है, दर्शनीय है उसकी शृङ्गार से उपमा दी जा सकती है। यद्यपि शृङ्गार के दोनों ही पक्ष हैं तथापि वियोग शृङ्गार को अधिक महत्ता दी जाती है। सूरदासजी ने कहा भी है :—

> ऊधो ! विरहौ प्रेमु करै।
> ज्यों बिनु पुट पट गहै न रंगहि, पुट गहे रसहि परै॥
> आँवौ घट दहत अनल तनु तौ पुनि अमिय भरै।

फिर भी संयोग भी अपनी महत्ता रखता है। उसमें ब्रह्मानन्द तो नहीं लेकिन उसका सादृश्य अवश्य आ जाता है। उसमें मनोनुकूल उच्चतम अनुभव आ जाता है, तभी तो रहस्यवादी उसको ईश्वरोन्मुख प्रेम के रहस्यानुभव का उपमान बताते रहे हैं। कबीर से लगाकर, कबीर ही से क्या, उपनिषदों तक से रहस्यवाद में शृङ्गारिक भाषा का प्रयोग हुआ है। उसमें प्रेम-पात्र के अतिरिक्त और कोई पार्थिव मूल्य नहीं रहते। रवि बाबू ईश्वर-मिलन में अलङ्कारों को भी बाधक मानते हैं और कहते हैं कि उनकी झङ्कार में प्रियतम का मन्द मधुर स्वर नहीं सुनाई पड़ता है 'तोमार काछे राखे नि आर साजेर अहङ्कार। अलङ्कार

जे माझे पड़े मिलने ते आडाल करे, तोमार कथा ठाके जे तार प्रखर झङ्कार' ॥

सूर ने शृङ्गार की नीची से नीची और ऊँची से ऊँची दशाओं का वर्णन किया है। इन्होंने रति की आरम्भिक अवस्था का बहुत ही मनोरम वर्णन किया है। आचार्य शुक्लजी की भ्रमरगीत-सार की भूमिका से उन उद्धरणों को यहाँ अवतरित करने का मोह संवरण नहीं कर सकता, देखिए:—

क—खेलन हरि निकसे ब्रज-खोरी।
गए स्याम रवि-तनया के तट, अंग लसति चन्दन की खोरी॥
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगोरी॥

ख—बूझत स्याम, कौन तू, गोरी!
"कहाँ रहति, का की तू बेटी? देखी नाहिं कहूँ ब्रज-खोरी"
काहे को हम ब्रज तन आवति? खेलत रहति आपनी पोरी।
सुनत रहत स्रवनन नँद-ढोटा करत रहत माखन-दधि-चोरी॥
"तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं?" खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी॥

इन वर्णनों में अलङ्कारों बिना ही सूर ने जो चमत्कार दिखाया है वह दूसरे कवि सारी कविता कला को बटोर कर भी नहीं ला सकते है। इन वर्णनों मे रति के साथ हर्ष सञ्चारी की भी व्यञ्जना है, सूर ने रति की व्यञ्जना कृष्ण की अव्यवस्थित गोदोहन मे कराई है—

तुम पै कौन दुहावै गइया?
इत चितवत, उत धार चलावत, एहि सिखयो है मैया?

इसमे चापल्य सञ्चारी के साथ कम्प सात्विक भाव भी व्यञ्जित है। कम्प के कारण भी धार सीधी नहीं पड़ती है। साथ ही कहनेवाली की तरफ से रति के आश्रित हास्य की भावना है। इसी प्रकार बाटिका के प्रसङ्ग में मर्यादावादी तुलसीदासजी ने भी रति का पूर्व रूप बड़ी सुन्दर शब्दावली में व्यक्त किया है।

तात जनक तनया यह सोई। धनुष जग्य जेहि कारन होई॥
पूजन गौरि सखी लेइ आई। करति प्रकासु फिरइ फुलवाई॥

इस चौपाई द्वारा तुलसीदासजी ने रामचन्द्रजी के मन की दशा का वर्णन कर दिया है। जब मन किसी भाव से व्याप्त हो जाता है तब भाव की अभिव्यक्ति रुक नहीं सकती। रामचन्द्रजी के पास और कोई नहीं था इसलिए उन्होंने अपने छोटे भाई को ही सखा-भाव से विश्वास-पात्र बनाया। इसमें उनके मन का हर्ष जो रति का पोषक है सूचित होता है। इसमें पूर्वानुराग की गुण-कथन की अवस्था प्रकट होती है। 'करत प्रकाश फिरइ फुलवाई' इस छोटे से वाक्य में सीताजी के सौन्दर्य की पूर्णातिपूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है। प्रकाश में वर्ण की उज्ज्वलता ही नहीं वरन् व्यापक प्रभाव तथा उसके साथ आने वाली चित्त की प्रसन्नता आदि सभी भाव आजाते हैं। प्रकाश आशा का भी द्योतक है। 'फिरइ फुलवाई' मे सौन्दर्य के अनुकूल वातावरण भी उपस्थित कर दिया जाता है। तुलसीदासजी मर्यादा-वादी थे। वे मर्यादा का इतना उल्लङ्घन भी नहीं सहन कर सकते थे, इसलिए उन्होंने तुरन्त ही स्थिति सम्हाल ली और नैतिकता की स्थापना कर दी। देखिए:—

रघुवंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरहि न काऊ।
मोहिं अतिसय प्रतीति जिय केरी। जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी॥

इस चौपाई में तुलसीदासजी ने साहित्य शास्त्र मे वर्णित मति सञ्चारी भाव को भी उपस्थित कर दिया है। इसमे कार्य की नैतिकता का निश्चय रहता है। इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई है।

नीति रीति यह जनिए, जाते विपति विहाय।
जो कहिए करिए सोइ, मति कहिए तेहि गाय॥

देव ने उपालम्भों को भी मति के अन्तर्गत रक्खा है। इधर सीताजी को मनोदशा का चित्रण देखिए.—

देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥
थकें नयन रघुपति-छवि देखे। पलकन्हि हू परिहरे निमेषे॥
अधिक सनेह देह भई भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥

इसमें ललचाने शब्द द्वारा अभिलाषा की दशा प्रकट की गई है और हर्ष सञ्चारी है। इसमें स्तम्भ सात्विक भाव की भी व्यञ्जना हुई है। अब इस प्रसङ्ग में अभिहत्था (एक प्रकार की लज्जा) और उत्कण्ठा सञ्चारियों की भी छटा देखिए:—

देखन मिस मृग विहँग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुवीर छबि, बाढ़ी प्रीति न थोरि॥

इसमें मन की चञ्चलता भी व्यक्त होती है। संयोग शृङ्गार सम्बन्धी इस सामग्री के सभी अङ्ग हमको बिहारी के नीचे के दोहे में मिलते हैं। इसमें यद्यपि उतनी मानसिक प्रफुल्लता नहीं है जितनी कि सूर और तुलसी के उदाहरणों में किन्तु इसमें एक साथ सब अङ्ग मिल जाते हैं, अनुमान से लगाने नहीं पड़ते हैं:—

सहित सनेह, सकोच, सुख, स्वेद, कम्प, मुस्कानि।
प्रान पानि करि आपनौ, पान धरे मो पानि॥

इसमें नायक और नायिका के एक दूसरे में अनुरक्त होने के कारण उभयनिष्ठ रति है जो 'सनेह' शब्द से प्रकट होती है। संकोच (व्रीड़ा) और सुख (हर्ष) सञ्चारी हैं। स्वेद, कम्प ये अनुभाव के अन्तर्गत सात्विक भाव हैं। मुस्कान भी हर्षसूचक अनुभाव है। इसमें पानों द्वारा आत्मसमर्पण का भी भाव आगया है। सात्विक भावों के और भी बहुत से उदाहरण बिहारी में मिल जाते हैं। स्वेद का एक उदाहरण लीजिए:—

हितु करि तुम पठयौ, लगै वा बिजना की बाइ।
टली तपति तन की, तऊ चली पसीना न्हाइ॥

इसमें हर्ष सञ्चारी भी है और पञ्चम विभावना अलङ्कार भी है। संयोग शृङ्गार के अन्तर्गत हाव भी आते हैं। इनके सम्बन्ध में आचार्य शुक्लजी का प्राचीन आचार्यों से मतभेद है। अन्य आचार्यों ने तो इनको एक प्रकार से भावों के सूचक ही माना है और इस कारण वे अनुभावों में ही आयँगे। आचार्य शुक्लजी इनको उद्दीपन के अन्तर्गत रखते हैं। हाव का लक्षण इस प्रकार से दिया गया है:—

होहिं जो काम विकार ते दम्पति तन मे आय।
चेष्टा विविध प्रकार की, ते कहिए सब हाय॥

भाव मन मे रहते हैं। हाव वे भाव हैं जिनका कि भृकुटी नेत्रादि द्वारा वाह्य व्यञ्जन होता है। नायिका आलम्बन भी हो सकती है और आश्रय भी। नायिका को यदि आश्रय माना जाय तब तो यह अनुभाव ही है किन्तु वह आश्रय रहती हुई भी नायक के लिए आलम्बन बन

सकती है। इस दृष्टि से आलम्बन की चेष्टा होने के कारण ये उद्दीपन के अन्तर्गत गिने जाना चाहिए। यहाँ पर हाव का उदाहरण बिहारी से दिया जाता है, देखिए:—

रही दहेड़ी ढिग धरी, भरी मथनियाँ वारि।
फेरति करि उलटी रई, नई विलोवनि हारि।

विभ्रम हाव में प्रेम की विह्वलता के कारण उलटा व्यवहार होने लगता है। दहेड़ी पास रक्खी है लेकिन नायिका मथानी में पानी ही डालती है और उलटी रई से उसे बिलोने लगती है। यह व्यवहार नायिका के प्रेम का सूचक होने के कारण एक प्रकार का अनुभाव ही होगा किन्तु नायक के लिए इस प्रेम की सूचना उद्दीपन का काम करेगी।

वियोग शृङ्गार—वियोग में मिलन का अभाव रहता है।

(क) यह अभाव मिलन के पूर्व का अभाव हो सकता है जिसे हम अयोग भी कह सकते है। इसको ही पूर्वानुराग कहते हैं यह (१) श्रवण-दर्शन से जिसमे केवल गुण सुनने से, जैसे पद्मावत में सुए के मुख से पद्मावती की प्रशंसा सुनकर रत्नसेन को हुआ था (२) स्वप्न-दर्शन से जैसे ऊषा को हुआ था। (३) चित्र-दर्शन से ऊषा को चित्रलेखा ने अनिरुद्ध का चित्र भी बनाकर दिखाया था, दमयन्ती को भी हंस ने नल का चित्र दिखाया था (४) प्रत्यक्ष दर्शन,जैसा श्रीरामचन्द्रजी और सीता को पुष्प-वाटिका में हुआ था।

(ख) मिलन के बीच में जो मिलन का अभाव रहता है उसे मान कहते हैं। यह अस्थायी होता है। जो मान दम्पत्ति में से किसी एक पक्ष के दोष या अपराध से होता है उसे ईर्ष्या मान कहते हैं और जो केवल वियोग का आनन्द लेने और संयोग के सुख को तीव्रता देने के लिए होता है उसे प्रणय मान कहते हैं। (ग) जो अभाव परदेश-गमन से मिलन पश्चात होता है उसे प्रवास कहते हैं। मान में एक ही स्थान में रहते हुए मिलन का अभाव रहता है, प्रवास मे एक पक्ष दूसरे स्थान में पहुँच जाता है यह (१) कार्यवश जैसे कृष्णजी के मथुरा चले जाने से (२) शापवश जैसे मेघदूत के यक्ष के सम्बन्ध में हुआ था (३) और भयवश भी होता है। जब वियोग पराकाष्ठा तक पहुंच जाता है तब वह करुणात्मक कहलाता है। करुणात्मक का विभाजन आधार मात्रा

का है प्रकार का नहीं। पूर्वानुराग और प्रवास दोनों ही करुणात्मक हो सकते हैं।

साधारण करुणा और करुणात्मक वियोग में यही अन्तर है कि साधारण करुणा मे सदा के लिए वियोग होता है, मिलन की कोई आशा नहीं रहती है; करुणात्मक में मिलन की आशा रहती है। करुणात्मक मे शृङ्गार का प्रकार होने के कारण रति का भाव लगा रहता है, करुणा में रति का अभाव हो जाता है। साकेत में उर्मिला का विरह करुणात्मक वियोग का अच्छा उदाहरण है। उत्तररामचरित में राम का वियोग भी करुणात्मक है। उसको व्यापक अर्थ मे ही करुण कहेंगे। वियोग शृङ्गार का भी स्थायी भाव रति ही है किन्तु उसमे दीनता, चिन्ता, आवेग, पश्चाताप आदि सञ्चारी उसे संयोग की रति से थोड़ा पृथक कर देते है। उसमें विषाद तो रहता ही है किन्तु हर्ष संचारी भी रह सकता है। ऊधोजी जब गोपियों को कृष्ण का संदेश सुनाते है उस समय की दशा का नन्ददासजी इस प्रकार वर्णन करते हैं :—

(क) सुनत स्याम को नाम, ग्राम-गृह की सुधि भूली।
भरि आनँद-रस हृदय, प्रेम-बेली द्रुम फूली॥
पुलकि रोम सब अँग भये, भरि आये जल नैन।
कंठ घुटे गद्‌गद् गिरा, बोले जात न बैन॥

(ख) सुन मोहन सन्देस, रूप सुमिरन ह्वै आयो।
पुलकित आनन अलक, अङ्ग आवेस जनायो॥
विह्वल ह्वै धरनी परी, ब्रज बनिता मुरझाय।
दे जल-छींट प्रबोधहीं, ऊधो बैन बनाय॥

(क) मे प्रेम के अनुभावों की बड़ी सुन्दर छटा दिखाई गई है। इसमें हर्ष सञ्चारी है। इसमे स्मृति सञ्चारी भी है। इसमें रोमाञ्च (पुलकि रोम) अश्रु (जलनैन) स्वरभङ्ग (गद्‌गद् गिरा) आदि अनुभाव है। (ख) मे स्मृति, आवेग, अपस्मार आदि सञ्चारी हैं। विह्वलता द्वारा विषाद सञ्चारी भी सूचित हो जाता है। इन दोनों में कृष्ण आलम्बन है और रति स्थायी भाव है।

सूर की गोपियों की वियोग-रति के सागर में नाना तरंगें उठती

हैं। कभी तो वे आत्म-ग्लानि से भरकर पछताती है 'मेरे मन इतनी सूल रही ...एक दिवस मेरे गृह आए, मैं ही मथित दही। देखि तिन्हें हौं मान कियो सो हरि गुसा गही' (यह ग्लानि सञ्चारी है), कभी बादलों को देखकर उनकी स्मृति तीव्र हो उठती है 'गगन गिरा गोविन्द की सुनत नयन भरे वारि', कभी उद्दीपनों के सम्बन्ध में नाना प्रकार के तर्क करती है 'किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि। किधौं वहि इन्द्र हठि हरि बरज्यो, दादुर खाए सेसनि' अथवा पत्र न आने पर उसका कारण सोचती है 'मसि खूटी, कागर जल भीजे, सर दव लागि जरे' (वितर्क सञ्चारी) इन सब उक्तियों मे दैन्य व्यञ्जित है। नन्ददासजी की गोपिया का प्रगट दैन्य देखिए—जिसके आगे मर्यादा-वाद भी पानी भरता है :—

प्रनत- मनोरथ-करन, चरन-सरसीरुह पिय के।
कह घटि जैहै नाथ ! हरत दुख हमरे हिय के ॥
कहाँ हमारी प्रीति, कहाँ तुम्हरी निठुराई।
मनि पखान सौं खचै, दई सौं कछु न बसाई ॥

गोपियाँ जहाँ इतनी दीन हो सकती थीं वहाँ उनमें कृष्ण के प्रेम का गर्व भी था। यह गर्व हम सूर की गोपियों में कई रूपों में पाते है, कहीं तो वे कृष्ण के कालेपन और गोकुल और मथुरा की रहन-सहन में अन्तर तथा कुब्जा की कुरूपता पर व्यङ्ग्य कसती हैं :—

अब हरि गोकुल काहे को आवहिं चाहत नवयौवनियाँ
वे दिन माधव भूलि विसरि गए गोद खिलाए कनियाँ
गुहि-गुहि देते नन्द जसोदा तनक काँच के मनियाँ
दिना चारि ते पहिरन सीखे पट पीताम्बर तनियाँ

इसके साथ ही दीनता-पूर्ण इस त्याग को देखिए:—

बरजौ न माखन खात कबहूँ, दैहौ देन लुटाय।
कबहूँ न दैहौ उराहनौं जसुमति के आगे जाय ॥

× × ×

करि हौं न तुम सौं मान हठ, हठिहौं न माँगत दान।
कहिहौं न मृदु मुरली बजावन, करन तुम सौं गान ॥

अन्तिम पंक्ति में त्याग की पराकाष्ठा आ जाती है। सब भावों

में रति भाव लगा हुआ है। इसीलिए सब सञ्चारी स्थायी भाव की पुष्टि करते हुए रस परिपाक में सहायक होते हैं।

हास्य— भाषा भूषन भेष जहँ उलटेई करि भूल।
हँसी सु उत्तम, मध्य, लघु कह्यो हास्य रस मूल ॥

हास्य शृङ्गार का सहायक तो है ही कभी-कभी वीर का भी पोषक होता है। किन्तु इसका स्वतंत्र अस्तित्व भी है। इसका मूल किसी प्रकार की विकृति में है 'वागादिवैकृताच्चेतो विकासः हास इष्यते: वह विकृति चाहे किसी मनुष्य में हो और चाहे उक्ति में हो, इसकी विचित्रता चित्त में प्रसन्नता लाती है जो हँसी द्वारा प्रकट होती है। Bergson के मत से मनुष्य जहाँ अपनी स्वतन्त्रता से काम न कर मशीन की भाँति काम करता है वहीं वह हास्य का विषय बन जाता है। यह भी एक विकृति का ही रूप है। विकृति या उलटेपन को हम व्यापक अर्थ में लेंगे। जो प्रत्याशित (Expected) हो उसके विपरीत होना ही उलटापन है। यह वेश-भूषा चाल-ढाल में भी हो सकता है। शब्दों में भी जो हँसी-मजाक होता है वह प्रत्याशित से विलक्षण होता है। इसमें हास्य के आश्रय में एक प्रकार की श्रेष्ठता का भाव रहता है। विकृति जहाँ अनिष्ट की सीमा तक नहीं पहुँचती वहीं तक हास्य रहती है, उस सीमा का उल्लङ्घन करने पर वह करुण में परिणत हो जाती है। जिन लोगों में संवेदना की मात्रा बढ़ी हुई होती है वे दूसरे की विकृति पर नहीं हँसते हैं। एक बदमाश लड़का किसी के गिरने में थोड़ी-बहुत चोट लग जाने पर भी हँसेगा किन्तु सज्जन नहीं। सज्जन तो तभी हँसेगा जब वह विकृति हानिकारक न हो। मेकड्यूगॅल का कथन है कि हास्य मनुष्य की अत्यधिक संवेदनशीलता को सन्तुलित रख उसे मानसिक पीड़ा से बचाता है। मेरा विचार यह है कि विकृति से जो भयानक स्थिति उपस्थित होजाती है किन्तु जब वह अनिष्ट की सीमा तक नहीं पहुँचती तब एक प्रकार का सुख होता है, वही हास्य में परिणत हो जाता है। हास्य प्रत्याशित से विलक्षण एक सुखद वैचित्र्य को उत्पन्न कर हमारी प्रसन्नता का कारण होता है। इसके अनुभाव रूप में आँख कुछ बन्द हो जाती है, मुँह खुल जाता है और थोड़ी आवाज भी होती है। शिष्ट लोगों के हँसने में कम से कम आवाज होती है। वे केवल मुस्कराते ही हैं। इसीलिए हास्य की श्रेणी बाँधी गई है श्रेष्ठों में स्मित और हसित,

बीच की श्रेणी के लोगों में विहसित और अवहसित और निम्न कोटि में अपहसित एवं अतिहसित होता है।

किसी की विकृतिपूर्ण परिस्थिति पर हँसना यह साधारण कोटि का हास्य होता है। श्रीवास्तवजी की कहानियाँ और उपन्यासों में यह अधिक रहा है। कथोपकथन का हास्य श्रेष्ठ होता है, इसमें कभी तो कहने वाले की ओर से ही होता है और कभी उत्तर-प्रत्युत्तरों में होता है। जहाँ शाब्दिक चमत्कार अधिक होता है वहाँ उसे अँग्रेजी में Wit कहते हैं। व्यङ्ग्य (Satire) मे कुछ तीखापन आ जाता है।

परशुराम-संवाद में लक्ष्मणजी की हास्यमय उक्तियाँ (मातहिं पितहि उरिन भय नीके। गुरु ऋण रहा सोच बड़ जीके) रौद्र रस के लिए उद्दीपन का काम देती है किन्तु स्वयं लक्ष्मणजी के सम्बन्ध मे वे वीर के संचारी रूप में समझी जायँगी। शिवजी की बरात मे भगवान विष्णु का यह कथन 'वर अनुहार बरात न भाई, हँसी करैहो पर पुर जाई', बड़े शिष्ट व्यङ्ग्य का उदाहरण है। रहीम का यह दोहा 'पुरुष पुरातन की बधू क्यों न चञ्चला होय', बड़े सुन्दर हास्य (Humour) का नमूना है। शाब्दिक चमत्कार के हास्य का नमूना हमें बिहारी के नीचे के दोहे में मिलता है :—

चिरजीवो जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के वीर॥

(इसमें श्लेष का चमत्कार है। वृषभानुजा के दो अर्थ हैं, वृषभानु की पुत्री राधा और वृषभ = बैल की अनुजा = छोटी बहन। हलधर के वीर के भी दो अर्थ हैं बलराम के भाई और हल को धारण करने वाले बैल के भाई) परिहासमय अनुकरण (Parody) भी एक प्रकार की विपरीतता अथवा अप्रत्याशितता का उदाहरण होता है :—

आगे चले बहुरि रघुराई। पाछे लरिकन धूरि उड़ाई॥

शृङ्गार के अन्तर्गत असूया सञ्चारी से प्रेरित कुब्जा और कृष्ण के प्रति गोपियों द्वारा किये हुए व्यङ्ग्य के उदाहरण भ्रमरगीत में प्रचुरता से मिलते हैं। एक उदाहरण लीजिए:—

राम जनम तपसी जदुराई। तिहि फल बधू कूबरी पाई॥
सीता विरह बहुत दुःख पायो। अब कुबजा मिलि हियो जुड़ायो॥ —सूर

गोकुल में जोरी कोऊ पाई नाहिं मुरारि।
मदन त्रिभङ्गी आपु हैं करी त्रिभङ्गी नारि॥ —नन्ददास

करुण—

विनठे ईठ अनीठ सुनि, मन मे उपजत सोग।
आसा छूटे, चार विधि, करुण बखानत लोग॥

इसमें इष्टनाश होता है और नाश के अन्यथा होने की आशा भी नहीं रहती है। इसमे चित्त में विकलता आती है। 'इष्ट नाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोक शब्दभाक्' इसमें इष्ट (जिसका नाश होता है) आलम्बन होता है। उसके शरीर का दाह आदि तथा उससे सम्बन्धित वस्तुएँ उद्दीपन होती हैं, जमीन पर गिरना, निश्वास, छाती पीटना अनुभाव हैं। निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद आदि सञ्चारी है।

शृङ्गार की भाँति यह रस भी रसराज कहे जाने का दावा करता है। भवभूति ने इसे प्रधानता दी है 'एको रसः करुण एव' इसमें सहानुभूति के आधिक्य के कारण इसको श्रेष्ठता दी जाती है॥ रस की अवस्था मे भी हमको सहानुभूति के साथ सर्वसाधारण की भाव-भूमि में आना पड़ता है।

श्री रामचन्द्र के विलाप में करुणा की बहुत सी सामग्री मिल जाती है। दैन्य सञ्चारी—

यथा पंख बिनु खग अति दीना। मनि बिनु फनि करिबर कर हीना॥
अस मम जिवन बन्धु बिन तोही। जो जड़ देव जिवावइ मोही॥

निर्वेद और ग्लानि सञ्चारी—

जैहों अवध कवन मुँह लाई। नारि हेतु प्रिय बन्धु गँवाई॥

स्मृति—

सोपहि मोंहि तुम्हहिं गहि पानी। सब बिधि सुखद परम हित जानी॥

इसमें ग्लानि मिली हुई है।

अनुभाव—जड़ देव शब्द मे देव निन्दा अनुभाव तो आही गया है। अश्रु भी लीजिए :—

बहु विधि सोचत सोच विमोचन। स्रवत सलिल राजिव दल लोचन ॥

गद्य में भी करुण के बड़े सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। रोहिताश्व के शव दाह के समय शैव्या कहती है:—

'हाय जिन हाथों से मीठी-मीठी थपकियाँ देकर रोज सुलाती थी उन्हीं हाथों से आज इस धधकती चिता पर कैसे रक्खूँगी जिसके मुख में छाले पड़ने के भय से कभी मैंने गरम दूध भी नहीं पिलाया उसे हाय !............'

इसमें भी स्मृति सञ्चारी के साथ विषाद भी है।

रौद्र— प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते।

इसका स्थायी भाव क्रोध है। अपने से प्रतिकूल विषय में तीक्ष्णता का अनुभव क्रोध कहलाता है। जिससे अपना अनिष्ट हो या जो कार्य में बाधक हो वही प्रतिकूल कहलाता है। क्रोध का आलम्बन अनिष्ट करने वाला या अनुचित बात कहने वाला पुरुष होता है। उसकी चेष्टाएँ या उक्तियां, (जैसे परशुराम संवाद में लक्ष्मणजी की) उद्दीपन होती हैं। बिगड़ी हुई वस्तु भी उद्दीपन का काम देती है। दाँत-पीसना, मुट्ठी दिखाना, मुँह लाल हो जाना, आत्म-प्रशंसा, हथियार चलाना आदि अनुभाव है और उग्रता, आवेग, मद, मोह, अमर्ष आदि सञ्चारी हैं।

करुण में भी अनिष्ट होता है किन्तु करुण में अनिष्टकारक ऐसा होता है जिससे वश नहीं चलता है। इसमें अनिष्टकारक ऐसा होता है जिससे बदला लिया जा सके। वीर और रौद्र में इस बात का अन्तर है कि वीर में प्रसन्नता और धैर्य रहता है, रौद्र में विषाद और चञ्चलता, क्रोध के अनुभावों मे आत्म-प्रशंसा और अस्त्रों का दिखलाना भी है। उनका उदाहरण रामचरित मानस से लीजिए:—

बाल ब्रह्मचारी अति कोही। विश्व विदित क्षत्री कुल द्रोही ॥
भुजबल भूमि भूप बिन कीन्ही। विपुल बार महि देवन दीन्ही ॥
सहस बाहु भुज छेदनहारा। परशु बिलोकु महीप कुमारा ॥

इसमें गर्व सञ्चारी भी मिला हुआ है। अनुचित बात कहने पर लक्ष्मणजी को जो रोष आया था उसके अनुभाव देखिए:—

माथे लखन कुटिल भइ भौंहें। रदपुट फरकत नयन रिसौंहें ॥

वीर— रन बैरी सम्मुख दुखी, भिक्षुक आवे द्वार।
युद्ध, दया और दान हित, होत उछाह उदार॥

इसका स्थायी भाव उत्साह है। कार्य के करने में आदि से अन्त तक जो प्रसन्नता का भाव रहता है उसे उत्साह कहते हैं, यह केवल युद्ध में ही नहीं वरन् दान देने, दया करने आदि में भी होता है। जिसको जीतना हो वही इसका आलम्बन होता है, उसकी चेष्टाएँ, फौज, हथियारों का प्रदर्शन आदि उद्दीपन है। धृति, मति, तर्क, स्मृति, गर्व आदि इसके सञ्चारी हैं।

वीर के उद्दीपनस्वरुप महाकवि भूषणकृत महाराज छत्रसाल की करवाल का वर्णन पढ़िए:—

निकसत मयान ते मयूखें प्रलै भानु कैसी,
फारै तम-तोम से गयन्दन के जाल को।
लागत लपटि कंठ बैरिन के नागिन सी,
रुद्रहि रिझावै दै दै मुण्डन के माल को॥
भाल छितिपाल छत्रसाल महा बाहुबली,
कहालौ बखान करौं तेरी करवाल को।
प्रति भट कटक कटीले केते काटि-काटि,
कालिका सी किलक कलेऊ देत काल को॥

परशुराम के आगमन पर श्री रामचन्द्रजी का वीरोचित धैर्य देखिए:—

सभय विलोके लोग सब, जान जानकी भीरु।
हृदय न हर्ष विषाद कछु, बोले श्री रघुवीर॥
नाथ शम्भु धनुभञ्जन हारा। हुइहै कोउ एक दास तुम्हारा॥

भयानक—

घोर सत्व देखे सुने, करि अपराध अनीति।
मिलै शत्रु भूतादि कै, सुमिरै उपजत भीति॥
भीत बढ़ै रस भयानक, दृगजल वेपथु अङ्ग।
चकित चित्त चिन्ता चपल, विवरनता सुरभङ्ग॥

अनिष्ट की सम्भावना देखने से चित्त में विकलता उत्पन्न होती है

वह भय कहलाता है। यही इसका स्थायी भाव है। वीर और रौद्र में आश्रय अपनी हीनता का अनुभव नहीं करता है किन्तु भय में वह अपनी हीनता का अनुभव करता है। करुण में अनिष्ट हो ही जाता है। भय में अनिष्ट होने की प्रबल सम्भावना रहती है। रौद्र और वीर में आश्रय अनिष्टकारी को भगा देना चाहता है; भयानक में आश्रय खुद भागना चाहता है। वीभत्स में भी आश्रय कभी-कभी स्वयं भागना चाहता है किन्तु अपनी हीनता के कारण नहीं वरन् आलम्बन की असह्य हीनता के कारण। अद्भुत में भी आश्रय अपनी हीनता का अनुभव करता है किन्तु प्रसन्नता के साथ और उसके सामने से भागना नहीं चाहता है। अद्भुत में आलम्बन में लोकोत्तरता रहती है, उसके कार्यों की आश्रय व्याख्या नहीं कर पाता। भयानक वस्तु की चेष्टाएँ, अन्धकार आदि भयानक रस के उद्दीपन होते हैं। विवरणता (मुंह उतर जाना) गद्‌गद् स्वर भाषण, प्रलय, स्वेद, रोमाञ्च, कम्प, इधर-उधर देखना आदि (इस सम्बन्ध में रस और मनोविज्ञान शीर्षक लेख पढ़िए) अनुभाव है। जुगुप्सा, आवेग, मोह, त्रास, ग्लानि, दीनता आदि सञ्चारी हैं।

श्मशान में रात्रि की भयानकता का दृश्य हम को 'सत्य हरिश्चन्द्र' मे मिलता है। इसमें हमको भयानक के उद्दीपन बड़े उग्ररूप में दिखाई पड़ते हैं

> रुआ चहुँ दिसि रटत डरत सुनि कै नर नारी।
> फटफटाइ दोउ पङ्ख उलूकहु रटत पुकारी॥
> अन्धकार बस गिरत काक अरु चील करत रव।
> गिद्ध-गरुड़-हड़गिल्लि भजत लखि निकट भयद रव॥

उद्दीपनों के लिए मालती माधव का निम्नोद्धृत गद्यांश पठनीय है। पिजड़े मे से शेर भागने का वर्णन है। शेर आलम्बन है, उसकी चेष्टाओं का जो सजीव वर्णन है, वह उद्दीपन का काम करता है। 'अरे ओ भाई, मठ के रहने वालो भागो !! भागो !!! यह देखो जवानी के चढ़ाव में, खींच-खींच कर साँकरे तोड़ सिंह लोहे के पिंजडे से निकल गया है.... कितने जीव मार डाले। कटारी ऐसे दाँतों से हड्डियाँ कटकटा कर चबाता हुआ मुंह बाए इधर-उधर दौड़ रहा है। उनके मास गले मे भरकर गर्जना कर रहा है। उसकी डाट से सब लोग भाग रहे हैं।'

इसमें उद्दीपनों के साथ त्रास सञ्चारी है और भागने का अनुभाव है। अनुभाव का एक और वर्णन लीजिए.—

चहुँधा लखि ज्वाल कुलाहल भो पुर-लोग सबै दुःख ताप तयो।
यह लङ्क दशा लखि लङ्कपती अति संक दसो मुख सूखि गयो॥

इसमें मुख सूखना अनुभाव है। साथ ही शङ्का, विषाद और त्रास सञ्चारी व्यञ्जित हैं। गोस्वामीजी की कवितावली में लङ्का-दहन के बड़े सुन्दर वर्णन आये हैं। उनमें भयानक रस का अच्छा परिपाक हुआ है। भय के सम्बन्ध में मोह सञ्चारी का उदाहरण नीचे देखिए:—

अध ऊर्ध्व बानर, विदिसि दिसि बानर हैं,
मानहु रह्यो है भरि बानर तिलोकिए।
मूँदे आँखि हीय मे, उघारे आँखि आगे ठाढ़ो........

भयावह वस्तु मन को इतना आक्रान्त कर लेती हैं कि जिधर देखो उधर वही दिखाई देती है। यही मोह या भ्रम है।

पाठक इन वर्णनों को पढ़कर देखेंगे कि भयानक के वर्णन में किस प्रकार रस आता है। साधारणीकरण के शास्त्रीय सिद्धान्त से तो हमें यह बात मिलती है कि ये वर्णन किसी व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित नहीं रहते जिससे कि हमको उसकी या अपनी हानि की आशङ्का हो। हमको यह भी न भूलना चाहिए कि यह वर्णन मात्र है, पिंजड़े से भागा हुआ शेर हमसे बहुत दूर है, हमारा बाल भी बाँका नहीं कर सकता, न लङ्का की आग हमको झुलसा सकती है और न उसके किसी स्फुलिङ्ग के हमारे छप्पर पर गिरने का डर है। हम निर्भय होकर भयानक रस के वर्णन पढ़ते हैं। इसके अतिरिक्त हमको भय की दशा में मानव स्वभाव का अध्ययन करने को मिलता है। हमारी सहानुभूति जाग्रत होती है और एक प्रकार से हम अपनी आत्मा के विस्तार का अनुभव करने लगते हैं। इसी के साथ हमको इस बात की भी प्रसन्नता होती है कि हमारे कवि ने परिस्थिति को किस पूर्णता के साथ अपनी लेखनी के वश मे किया है। जो सरकस के शेर के देखने मे प्रसन्नता होती है वही 'मालती-माधव' के पिंजड़े से भागे हुए शेर के दर्शन में। यही बात और भी दुखद अनुभवों पर आश्रित रसों पर (जैसे करुण, रौद्र, वीभत्स) लागू होती है।

वीभत्स—इसका स्थायी भाव घृणा है। घिनौने दृश्य इसके आलम्बन हैं। उसमें कृमि, मक्खियाँ, दुर्गन्ध आदि उद्दीपन हैं। मोह, अपस्मार, व्याधि आदि सञ्चारी हैं, थूकना, नाक सिकोड़ना, मुँह फेर लेना, आँख मीच लेना आदि इसके अनुभाव हैं।

संसार से वैराग्य उत्पन्न करने के कारण यह शान्त रस का सहायक होता है। जहाँ पर संसार से घृणा विवेक के कारण होती है वहाँ पर जुगुप्सा, विवेकजा कहलाती है और जहाँ साधारण रूप से होती है वहाँ प्रायकी कहलाती है। वीभत्स के लिए यह आवश्यक नहीं कि माँस और कृमि का ही वर्णन हो वरन् यदि कोई नैतिक बुराई भी हो तो वीभत्स का आलम्बन बन जायगी। सुधार के लिए वीभत्स का वर्णन आवश्यक हो जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का काशी का वर्णन इसी उद्देश्य से किया गया है:—

देखी तुमरी कासी लोगो, देखी तुमरी कासी।
आधी कासी भाँड भँडरिया, बामन औ सन्यासी॥
आधी कासी रंडी मुँडी, राँड खानगी खासी।
लोग निकम्मे भंगी भंगड़, लुच्चे बेबिस्वासी॥
महा आलसी झूठे सोहदे, बेफिकरे बदमासी।
नीचे नल से बदबू उबले, मानों नरक चौरासी॥

आजकल के सुधारक भी तो ऐसे ही वर्णनों द्वारा समाज-सुधार की भावना जाग्रत करते हैं।

अद्भुत—विस्मय इसका स्थायी भाव है। अद्भुत वस्तु अथवा अद्भुत कर्म करने वाला पुरुष इसका आलम्बन है। उसके गुणों की महिमा उद्दीपन है। वितर्क, आवेग, मोह, हर्ष आदि इसके सञ्चारी भाव हैं। अद्भुत रस का उदाहरण तभी उपस्थित होता है जब कि आलम्बन में कोई अद्भुत बात हो। सूक्ति मात्र अद्भुत का उदाहरण नहीं बन सकता है:—

देखो दधिसुत में दधि जात।
एक अचम्भो सुनो री सजनी रिपु में रिपू समात॥

यह अद्भुत रस नहीं है। इस कूट का अर्थ स्पष्ट कर देने पर कोई अचम्भे की बात नहीं रह जाती। यह बात श्रीकृष्णजी के दधि खाने के सम्बन्ध में कही गई है। दधि-सुत का अर्थ है उदधि सुत =

चन्द्रमा अर्थात् मुख चन्द्र में दधि जाता है। चन्द्रमा और कमल का वैर है। मुख में कर कमल जाते हैं। कोई विद्वान् ऐसा भी अर्थ लगाते हैं कि श्रीकृष्णजी का हाथ काला था। काला राहू का रंग है। चन्द्रमा और राहू रिपु है। चन्द्रमा मे राहू चला जाता है। इसलिए यह सूक्ति की संज्ञा में आयगा। अद्भुत रस का अब उदाहरण लीजिए:—

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मति भ्रम मोरि कि आन विसेखा॥

× × × ×

तन पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूँदि चरनन सिर नावा॥

'मति भ्रम मोरि कि आन विसेखा' में वितर्क सञ्चारी है। माता यह तर्क करती है कि मेरी मति मे कुछ भ्रम होगया है या कुछ और बात है? 'तनु पुलकित मुख वचन न आवा' मे रोमाञ्च और स्वर-भङ्ग अनुभाव है (सात्विक भाव) है। इन अनुभावों मे ही हर्ष सञ्चारी सूचित होता है:—

केसव कहि न जाइ का कहिए?
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए॥
सून्य भींत पर चित्र, रंग नहिं, तनु विनु लिखा चितेरे।
धोए मिटै न, मरै भीति-दुख, पाइए यहि तनु हेरे॥

इसमें विस्मय स्थायी तो है ही, साथ मे वितर्क सञ्चारी भी व्यञ्जित है, 'केसव कहि न जाय का कहिए' में विस्मय के साथ माहात्म्य-कथन एक प्रकार का अनुभाव भी है किन्तु यहाँ अद्भुत शान्त का सहायक और पोषक होकर आया है।

अद्भुत रस के लिए भी रसराज होने का दावा किया गया है। 'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते। तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राद्भुतो-रसः।' अर्थात् रस का सार चमत्कार में है जो सर्वत्र दिखाई देता है। चमत्कार का सार होने के कारण सब जगह अद्भुत रस ही है। आचार्य शुक्लजी ने ऊपर बतलाये हुए अद्भुत रस और सूक्ति के आधार पर ही इस मत का निराकरण किया है। चमत्कार सूक्ति में होगा। वह अद्भुत रस नहीं हो सकता।

शान्त—नाट्य रस आठ माने गये हैं। भरत मुनि ने पहले तो आठ ही रस गिनाये हैं। पीछे से शान्त रस को गिनाकर उसके

स्थायी भाव को और सब में प्रधानता भी दी है (इस बात पर सेठ कन्हैय लाल पोद्दार ने बहुत जोर दिया है) किन्तु पिछले आचार्यों ने भी जिस प्रकार शान्त रस का वर्णन किया हैं उससे यह प्रकट होता है कि शान्त रस को रसों में स्थान देने की परम्परा नहीं रही है । काव्य-प्रकाश में भी पहले आठ ही स्थायी भाव गिनाये गये है। पीछे से निर्वेद-प्रधान शान्त रस को गिनाया है । 'निर्वेदस्थायिभावाख्य: शान्तोऽपि नवमो रस:' निर्वेद को सञ्चारियों में पहले स्थान देने के सम्बन्ध में काव्य-प्रकाश में लिखा है कि अमङ्गल रूप होने के कारण निर्वेद को पहला स्थान नहीं देना चाहिए था किन्तु यह स्थायी भाव भी होता है इसलिए इसको पहला स्थान दिया गया है। (निर्वेदस्यामङ्गलप्रायस्य परचान्निर्देश्यत्वेऽपि प्राङ्निर्देशो मुख्यत्वप्रकाशनेन स्थायित्वप्रतिपादनाय तेन) यह बात विचारणीय है कि निर्वेद को भरतमुनि ने व्यभिचारी भावो में क्यों रक्खा । इसका एक उत्तर 'भक्ति-रसामृत-सिंधु' मे दिया गया है कि जब उसकी उत्पत्ति तत्वज्ञान से होती है तब तो वह स्थायी भाव होता है और जब इष्ट के अनिष्ट हो जाने से प्राप्त होता है (तिया मुई धन सम्पति नासी, मूड़ मुड़ाइ भए संन्यासी) तब वह व्यभिचारी होता है । दूसरी बात यह भी विवेचनीय है कि उन्होंने शृङ्गार, रौद्र, वीर, वीभत्स को प्रधान मानकर उनसे क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक की उत्पत्ति बतलाई है। इस प्रकार उन्होंने पहले परम्परा-नुकूल आठ ही रस माने है। सम्भव है नवम रस की बात पीछे से सोची हो या अन्य किसी द्वारा बढ़ाई गई हो ।

शान्त के रसों मे स्थान दिये जाने के सम्बन्ध में साहित्य-दर्पण मे कहा गया है कि जहाँ न सुख हो, न दु:ख हो, न चिन्ता हो, न द्वेष हो, न राग हो, न कोई इच्छा हो ऐसे स्वरूप वाले शान्त रस मे सञ्चारी नहीं हो सकते और वह रस नहीं कहा जा सकता। इसके उत्तर मे कहा गया है कि तृष्णा के क्षय का सुख सब सुखो से बढ़कर होता है फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि उसने सुख नहीं होता है और योगी, मुक्त और वियुक्त को सब तरह का ज्ञान हो सकता है, फिर सञ्चारियो के ज्ञान मे क्या बाधा ? यह बात तो आठ रस माने जाने की परम्परा की ओर संकेत करता है। शान्त रस को रस न मानने के सम्बन्ध मे यह भी कहा गया है कि नट में शम की साधना

असम्भव है नट स्वभाव से चञ्चल होता है उसमें शम कहाँ ?

शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च नदसंभवात् ।
'अष्टावेवरसा नाट्ये शान्तस्तत्र न युज्यते ॥'

इसके उत्तर में कहा गया है कि नट निर्लिप्त है, जब वह करुण में दुःखी नहीं होता है और रौद्र में गुस्सा नहीं करता है—'कञ्चिन्न रसं स्वदते नटः' तब शान्त रस के अभिनय के लिए ही क्यों जरूरी समझा जाय कि वह शान्त रहे । शान्त रस का भी उसके अनुभावों द्वारा (पद्मासन लगाकर बैठना, नासाग्रदृष्टि करना, प्रसन्नमुद्रा धारण करना) अभिनय हो सकता है । इसलिए शान्त को काव्य रस ही नहीं, नाट्यरस भी माना जा सकता है । भरतमुनि द्वारा पहले आठ ही रस गिनाये जाकर पीछे से शान्त रस के उल्लेख होने की एक व्याख्या यह भी हो सकती है कि उन्होंने मूल रस को अलग रखना चाहा हो । रस में जो आनन्द रहता है वह शान्त रस का अङ्ग जरूर है किन्तु रौद्र, भयानक आदि में जो क्षोभ और विक्षेप रहता है वह शान्ति के साथ मेल नहीं रखता है। शान्त को हम कठिनता से ही मूल रस मान सकते है । उसके स्वतन्त्र रस मानने से विशेष आपत्ति नहीं है ।

विशेष — यह बात विवादास्पद अवश्य है कि नट को अभिनीत रस का वास्तविक अनुभव होता है या नहीं, कुछ लोगों का तो कहना है कि सफल नट वही है जो अभिनीत विषय का वास्तविक अनुभव करे । रूस में 'ओबरअमेगा' एक स्थान है वहाँ साल में एक बार ईसामसीह के जीवनवृत्त का अभिनय होता है । उन अभिनेताओं के लिए कहा जाता है कि वे अभिनीत विषय का वास्तविक अभिनय करते हैं । इसके विपरीत लोगों का कहना है कि यदि नट वास्तविक दुःख का अनुभव किया करे तो वह पागल हो जाय । इस सम्बन्ध में एक अभिनेता का कथन है कि दूसरों को प्रभावित करने के लिए स्वयं अप्रभावित नहीं दिखाई पड़ना चाहिए' (To move others one should appear not to be unmoved)लेकिन वास्तविक बात यह है कि यह बात बहुत-कुछ अभिनेता के स्वभाव पर निर्भर रहती है । किन्हीं में मनोवेग के स्रोत बिलकुल ऊपर होते हैं, जरा-सी बात कहने में वे उबल पड़ते है, और कुछ में गहरे होते हैं । जब तक निजी दुःख न हो तब तक वे रोते नहीं हैं । जिनमे बुद्धि का प्राधान्य होता है वे अभिनय

करते समय निरपेक्ष बने रहते हैं और जिनमें रागात्मकता का प्राधान्य होता है उनका अभिनय वास्तविक हो जाता है किन्तु वे उस वास्तविकता को एक ही अभिनय में आखीर तक कायम नहीं रख सकते और न रोज-रोज उसको निभा सकते हैं।

शम शान्त रस का स्थायी भाव है, संसार की निस्सारिता या परमात्मा इसका आलम्बन है। तीर्थ, पुण्याश्रम, वन, महापुरुषों का सत्संग इसके उद्दीपन हैं। रोमाञ्च, अश्रु, पद्मासन लगाकर बैठना आदि इसके अनुभाव हैं। निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति, भूत-दया आदि इसके सञ्चारी हैं।

संसार को असारता की ओर ध्यान आकर्षित कर उससे वैराग्य उत्पन्न करना और जीव को ईश्वरोन्मुख करना शान्त रस के पदों का मूल उद्देश्य रहता है। एक उदाहरण तुलसी से यहाँ दिया जाता है जिसमें संसार की निस्सारता पर बल दिया गया है:—

मै तोहिं अब जान्यों संसार।
बाँधि न सकहि मोहि हरि के बल, प्रकट कपट-आगार॥
देखत ही कमनीय, कछू नाहिंन पुनि कियो विचार।
ज्यों कदलीतरु-मध्य निहारत, कबहुँ न निकसत सार॥

नीचे के पद में गुण-कथन के साथ शान्त रस के अनुभावों को देखिए:—

अजहुँ आपने राम के करतब समुझत हित होइ।

× × ×

भजन विभीषन को कहा, फल कहा दियौ रघुराज।
राम गरीब-निवाज के बड़ी बाँह-बोल की लाज॥

× × ×

सजल नयन, गद्गद् गिरा, गहबर मन पुलक सरीर।

इन अन्तिम पंक्तियों में शान्त रस के अनुभाव हैं।

इसमें रघुनाथजी आलम्बन है। उनकी भक्तवत्सलता उद्दीपन है; स्मृति, दैन्य आदि सञ्चारी इसमें व्यञ्जित हैं। इस प्रकार शान्त रस की पूर्ण सामग्री हो जाती है।

वात्सल्य और भक्ति — वात्सल्य को दशवाँ रस माना गया है किन्तु उसके सम्बन्ध में भी शान्त रस-का-सा ही विवाद है। वत्स पुत्रादि के विषय में रति को वात्सल्य कहते हैं। इसके सम्बन्ध में यह प्रश्न है कि शास्त्रियों ने दाम्पत्य रति के अतिरिक्त और रतियों को (रस नहीं) भाव माना है। इस हिसाब से भक्ति, वात्सल्य, राजभक्ति, देशभक्ति ये सब भाव माने जायेंगे। रति शृङ्गार का स्थायी भाव है। साहित्य-दर्पण आदि में जो रति की परिभाषा है, वह काफ़ी व्यापक है और उसमें देवादि विषयक रतियाँ भी आ सकती हैं। मन के अनुकूल विषय में मन के प्रेमार्द्र होने को रति कहते हैं 'रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्' पुत्र, राजा, देश, ईश्वर आदि सब मन के अनुकूल विषय हैं किन्तु यह प्रश्न रह जाता है कि पुरुष-स्त्री के पारस्परिक आकर्षण के अतिरिक्त इन विषय में भी मन उतना ही द्रवणशील हो सकता है या नहीं ? जो लोग यह मानते है कि इन विषयों में मन उतना द्रवणशील नहीं हो सकता वे देवादि विषयक रति को भाव मानेंगे किन्तु जो लोग यह मानते है कि इनमे मन उतना ही प्रेमार्द्र हो सकता है वे इनको शृङ्गार के व्यापक रूप के अन्तर्गत मान सकते हैं। भरतमुनि ने कहा भी है कि जो कुछ पवित्र है, शृङ्गार से उपमा देने योग्य है किन्तु शृङ्गार शब्द की व्युत्पत्ति ('शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः' अर्थात् शृङ्ग मन्मथ या कामदेव को कहते है, उसके आगमन का कारण शृङ्गार कहलाता है) मे मन्मथ अर्थात् कामदेव शब्द लगा हुआ है, इसलिए वात्सल्यादि को इसके अन्तर्गत करने में थोड़ी बाधा पड़ती है, इसीलिए वैष्णवों ने शृङ्गार को मधुर या माधुर्य रस कहा है। माधुर्य शब्द में शृङ्गार का उज्ज्वल सार आ जाता है और यह शब्द व्युत्पत्ति की बाधा से मुक्त हो जाता है। वैसे भी शब्दों के व्यवहार में उनका इतिहास कम देखा जाता है। आजकल के मनोवैज्ञानिक वात्सल्य और भक्ति दोनो को ही कामवासना के अन्तर्गत करने मे संकोच नहीं करते। भक्ति को तो वे शृङ्गार का उन्नयन अर्थात् ऊँचा उठा हुआ रूप मानते है। वात्सल्य में तो वे शृङ्गार की भी भौतिक प्रसन्नता का पूर्व रूप मानते है। भक्ति और वात्सल्य में शृङ्गार-की-सी कोमलता और मधुर चिन्ता अवश्य रहती है।

वात्सल्य, भक्ति आदि को भाव मानने या उनको शृङ्गार के अन्तर्गत मानने में उनका पूरा मान नहीं होता। उनके स्थायी भावों में वही कोमलता और तन्मयता है जो और रसों मे। वात्सल्य का तो हमारी ही नहीं जाति की रक्षा से सम्बन्ध है। उसका हमारी प्रारम्भिक आवश्यकताओं से सीधा लगाव है। यह भाव जानवरों में भी होता है। इसलिए इसको स्वतन्त्र रस के रूप मे स्वीकार किया है। उसका चमत्कार स्पष्ट है—'स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदु:' भक्ति रस को भरत मुनि ने शान्त रस के अन्तर्गत माना है। इसमें बाधा केवल इतनी है कि शान्त में वैराग्य रहता है और भक्ति में राग। इस आपत्ति का निराकरण इस प्रकार हो जाता है कि भक्ति में भी सांसारिक विषयों से विराग रहता है। राग केवल सच्चिदानन्द परमात्मा या उसके अवतारा में रहता है। कुछ आचार्य देवादि विषयक रति के अन्तर्गत कर इसे भाव कहते हैं, यह भक्ति की मर्यादा को घटाना है। भक्ति में भी शृङ्गार-की-सी ही नहीं वरन् उससे बढ़कर तन्मयता रहती है, इसलिये भक्तों ने उसे स्वतन्त्र स्थान दिया है। वैष्णवाचार्यों ने भक्ति को मुख्य रस मानकर इसके मुख्य भेदों में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर (शृङ्गार) माने हैं और गौण में हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स को स्थान दिया है। देश-भक्ति का भी इतना साहित्य बढ़ता जाता है कि कालान्तर में शायद उसको भी स्वतन्त्र स्थान देना पड़े। आजकल के मनोवैज्ञानिक तो भक्ति को भी शृङ्गार के अन्तर्गत रखना चाहते हैं।

वात्सल्य का वर्णन—इसका स्थायो भाव स्नेह है। पुत्रादि इसके आलम्बन हैं और उनकी चेष्टाएँ (तुतलाना आदि क्रियाएँ) विद्याप्रेम, शौर्यादि गुण उसके खिलौने, कपड़े आदि भौतिक पदार्थ उद्दीपन हैं। उसका आलिङ्गन, सिर सूँघना, उसकी ओर देखना, थपथपाना, रोमाञ्च आदि अनुभाव हैं। शङ्का, हर्ष, गर्व आदि सञ्चारी भाव हैं। वात्सल्य-वर्णन में सूरदासजी का स्थान सर्वोपरि है।

वात्सल्य का वर्णन कृष्ण की चेष्टाओं के रूप में नीचे के पद में देखिए:—

क— हौं वलि जाउँ छबीले लाल की।
धूसरि धूर घुटरुवनि रेंगनि, बोलनि बचन रसाल की।

× × × ×

ख— तनक मुख की तनक बतियाँ बोलत है तुतराइ ।
जसोमति के प्रान-जीवन उर लियो लपटाइ ॥

(क) की पहली पंक्ति वात्सल्य का अनुभाव रूप कही जा सकती है। यहाँ कवि का माता से तादात्म्य है और दूसरी मे उद्दीपन है। (ख) की पहली पंक्ति में उद्दीपन है और दूसरी पंक्ति में अनुभाव है; दोनों में हर्ष सञ्चारी भी व्यञ्जित है।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी उद्दीपन रूप में श्री रामचन्द्रजी की चेष्टाओं का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है, देखिए:—

कबहूँ ससि माँगत आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाइ के नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं॥
कबहू रिसआइ कहैं हठि कै, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी-मन-मन्दिर मे बिहरैं॥

अन्तिम पंक्ति इसे शान्त रस या भक्ति रस का रूप दे देती हैं।

निम्नोल्लिखित पद में माता की चिन्ता का जो वात्सल्य के सञ्चारियों में से है बहुत ही उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है। कृष्णजी अपने असली माता-पिता के पास पहुँच जाते हैं किन्तु माता जसोदा को चिन्ता बनी रहती है। 'हौं तो धाय तिहारे सुत की' में बड़ा मार्मिक व्यङ्ग्य है:—

सन्देसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की दया करत ही रहियो॥
जद्दपि टेव तुम जानति उनकी तऊ मोहि कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल-लड़ैतेहि माखन-रोटी भावै॥

कृष्ण के काले होने पर बलराम जी उन्हें खिजाते हैं किन्तु यशोदाजी उनके कालेपन पर ही गर्व करती हुई कृष्ण के मन से हीनता-भाव दूर करने का प्रयत्न करती हैं। इसमें गर्व सञ्चारी का अच्छा उदाहरण है:—

मोहन, मानि मनायो मेरौ।
हौ बलिहारी नन्द-नँदन की, नेकु इतै हँसि हेरौ।
कारौ कहि-कहि तोहिं खिझावत, बरजत खरो अनेरौ।

इन्द्र नील मनि तें तन सुन्दर, कहा कहै बल चेरो।
न्यारो जूथ हाँकि लै अपनौ, न्यारी गाय निवेरौ।
मेरो सुत सरदार सबनिको, बहुतै कान्ह बड़ेरौ।

वात्सल्य के गर्व और शृङ्गार के गर्व में थोड़ा अन्तर है। शृंगार का गर्व अपने सम्बन्ध में होता है किन्तु वात्सल्य का गर्व अपने के (अर्थात् पुत्रादि के) सम्बन्ध में होता है।

शङ्का सञ्चारी का भी एक उदाहरण लीजिए:—

जसोदा बार-बार यों भाखै।
है कोउ ब्रज में हितू हमारो, चलत गोपालहिं राखै ?
कहा काज मेरे छगन-मगन को, नृप मधुपुरी बुलायो ?
सुफलक-सुत मेरे प्राण हतन को कालरूप ह्वै आयो॥

इस युग में उपाध्यायजी के प्रिय-प्रवास में भी वात्सल्य के अन्तर्गत शङ्का आदि के अच्छे उदाहरण मिलते हैं।

भाव—भाव के व्यापक अर्थ में तो सभी रस-सामग्री और रस भी आ जाते हैं किन्तु भाव का एक विशेष अर्थ में भी प्रयोग होता है। उसमें वह अपूर्ण रस के रूप में आता है। साहित्य-दर्पणकार ने भाव की इस प्रकार व्याख्या की है:—

सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥

जहाँ निर्वेद, मोह, वितर्क आदि सञ्चारी भावों का वर्णन रस के अङ्ग रूप न होकर अर्थात् स्थायी भाव के पोषक रूप से न होकर स्वतन्त्र रूप से हो—देव, पुत्र मित्रादि विषयों में रति स्थायी भाव हो, (शास्त्रीय दृष्टि से केवल दाम्पत्य रति ही रति कहलाती है) अथवा स्थायी भाव उद्बुद्ध मात्र होकर रह जाय अर्थात् अनुभाव आदि सामग्री से पुष्ट न हो वहाँ इनकी भावसंज्ञा होती है।

स्थायी भाव प्रधान होते हुए भी बिना सहायक सामग्री के रस-संज्ञा को प्राप्त नहीं होता है। ऊपर शृङ्गार, वात्सल्य आदि के सम्बन्ध में सञ्चारियों के जो वर्णन आये है वे रस के अंग होकर आये है, नीचे के वर्णन में स्मृति के साथ मोह संचारी है। यहाँ भाव को (भूले राज-काज भौन भीतर को जाइबो) ही प्रधानता दी गई है, देखिए:—

यहै वृन्द्रावन वेई मञ्जु पुञ्जनि में,
गुञ्जनि के हार फूल गहिनो बनाइबो।
वैही भाँति खेलि खेलि संग ग्वाल बालनि के,
आनन्द मगन भये मुरली बजाइबो।
मोरन की घोर मन्द पवन झकोरे अरु
वंशीवट तट बैठि सारङ्ग को गाइबो।
इतनो कहत व्रज आँखन में आय गयो
भूले राज-काज भौन भीतर को जाइबो॥

इसमें रतिभाव भी है किन्तु व्रज के प्रति है। इस हिसाब से भी यह भाव ही है।

देवादि विषयक रति के उदाहरणों की कमी नहीं है किन्तु इस रति का भक्तिरूप से स्वतन्त्र स्थान ही देना अच्छा है। दरबारों में जो राजा विषयक रति चाटुकारिता के रूप मे दिखाई जाती है, उसे यदि भाव कहें तो कोई बुराई नहीं है। इसीलिए तो गोस्वामीजी ने कह दिया था—'कीन्हें प्राकृत जन गुण गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥'

उद्बुद्ध मात्र स्थायी भाव—इसका उदाहरण नीचे दिया जाता है:—

कोसलराज के काज हौं आज त्रिकूट उपारि लै वारिधि बोरौं।
महाभुजदण्ड द्वै अण्डकटाह चपेट की चोट चटाक दै फोरौं।
आयुस-भङ्ग ते जो न डरौं सब मींजि सभासद सोनित खोरौं।
वालि को बालक जौ 'तुलसी' दसहू मुख के रन मे रद तोरौं॥

इसमें आयुस-भङ्ग की आशङ्का के कारण उत्साह की पूर्णता में कमी आ जाती है। भाव ही रह जाता है, रस नहीं बनता।

रसाभाव और भावाभास—जो वस्तु जहाँ न हो वहाँ उसे मान लेना आभास कहलाता है। अनौचित्य के कारण रस विरस हो जाता है इसीलिए वह रसाभास कहलाता है (अनुचित है रस भाव तहँ तै कहिये आभास)। इस औचित्य-निर्णय मे रागात्मक तत्व के साथ बुद्धि-तत्व लग जाता है। आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि अनौचित्य से बढ़कर रसभङ्ग का कोई कारण नहीं होता है। औचित्य के समावेश ही में रस का रहस्य है:—

अनौचित्यादृतेनान्यत्, रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु, रसस्योपनिषत्परा ॥

वैसे तो औचित्य में अलङ्कार, रीति आदि सभी आ जाते हैं किन्तु रसाभास के सम्बन्ध में आलम्बन और आश्रयों के औचित्य पर ही अधिक बल दिया गया है। अभिनवगुप्त ने कवि की रसिकता विभावादि के औचित्य से ही मानी है:—

विभावाद्यौचित्येन विना का रसवत्ता कवेरिति।

शृङ्गार का अनौचित्य—निम्नोल्लिखित प्रकार की रतियाँ शृङ्गार रस का आभास कही जायँगी। उपनायकविषयक, मुनिविषयक, गुरु-पत्नीविषयक (जैसी चन्द्रमा की बृहस्पति की पत्नी मे), बहुनायक-विषयक, अनुभयनिष्ट (जो एक ओर से ही हो), प्रतिनायकनिष्ट, अधम पात्र अथवा तिर्य्यग् योनिनिष्ट।

अन्य अनौचित्य—गुरुजनों और वृद्धों के प्रति हँसी और क्रोध, हास्य तथा रौद्र का रसाभास होगा। इसी प्रकार अशक्त, शस्त्रहीन, स्त्री (ताड़का-बध के लिए श्री रामचन्द्रजी को दोष ही दिया जाता है) और सज्जन के प्रति वीरता दिखाना वीर रस का आभास होगा (भरतजी के आगमन पर लक्ष्मणजी का लड़ने को तैयार हो जाना वीर-रस का आभास था, तभी तो रामचन्द्रजी को समझाना पड़ा 'लखन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबन्धु नहि भरत समाना')। श्रेष्ठ पात्र में भय का दिखाना भयानक रस का आभास होगा। हमारे यहाँ के आचार्यों ने औचित्य और शालीनता का हमेशा ध्यान रक्खा है।

इसी प्रकार लज्जा, क्रोधादि भावों का भी आभास होता है। व्यर्थ क्रोध (अपुष्ट क्रोध) का उदाहरण दासजी से यहाँ दिया जाता है। इस दोहे मे क्रोध और शङ्का व्यर्थ थी:—

दरपन में निज छाँह सँग, लखि प्रीतम की छाँह।
खरी ललाई रोस की, ल्याई अँखियन माँह ॥

विजयी राजा के प्रति विजित की चाटुकारिता भावाभास होगा।

भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता—भाव-जगत बड़ा संकुल माना गया है। कभी एक भाव की चमत्कार-पूर्ण शान्ति हो जाती है और कहीं पर चमत्कार के साथ दूसरे भाव

का उदय होता है। कभी दो भाव मिल जाते हैं। ये भाव एक साथ रहकर भाव के आश्रय को दोनों ओर खींचते हैं। अन्तर्द्वन्द्व आदि शब्द पाश्चात्य प्रभाव से आये हुए बतलाये जाते हैं किन्तु सन्धि भी अन्तर्द्वन्द्व का रूपान्तर है, अन्तर केवल मनोवृत्तियों का है। पाश्चात्य देशों की मनोवृत्ति संघर्षमय है, इसीलिए वे अन्तर्द्वन्द्व (Internal conflict) की बात कहते हैं। भारतीय मनोवृत्ति शान्तिमय है, इसलिए उसे वे भावसन्धि कहते हैं। जहाँ कई भाव एक दूसरे के बाद उदय और शान्त होते रहते है वहाँ शबलता का उदाहरण उपस्थित होता है। भावसन्धि में केवल दो ही भाव होते हैं और एक साथ होते हैं। भावशबलता में कई भाव होते हैं और क्रमशः आते हैं। कुछ लोग बहुत भावों के एक साथ आने को ही शबलता कहते हैं। भावशान्ति और भावोदय सापेक्ष शब्द है, एक भाव की शान्ति दूसरे भाव के उदय से ही होती है किन्तु जहाँ शान्ति का अधिक महत्व होता है वहाँ भावशान्ति कहलाती है और जहाँ भाव के उदय का महत्त्व होता है वहाँ भावोदय होता है।

जब लक्ष्मणजी के शक्ति लगी थी उस समय विषाद का भाव छाया हुआ था। श्री रामचन्द्रजी विलाप कर रहे थे किन्तु हनुमानजी के आ जाने से वह भाव एक साथ शान्त होगया। वहाँ पर उस भाव की शान्ति में एक प्रकार का सुख मिलता है, देखिए:—

प्रभु-विलाप सुनि कान, विकल भए बानर-निकर।
आइ गएउ हनुमान, जिमि करुना महँ वीर रस॥

भावोदय—जहाँ पर नये भाव का उदय ही अभीष्ट हो वहाँ वही चमत्कारिक समझा जायगा और भावोदय का उदाहरण होगा।

भावसन्धि—जहाँ समान बल वाले दो भाव आकर मिल जायँ वहाँ भावसन्धि होती है। दो भावों की उपस्थिति में संघर्ष अपने आप शुरू हो जाता है, उनमे से एक प्राधान्य चाहता है। बिहारीलालजी का निम्नोल्लिखित दोहा इसका अच्छा उदाहरण है, देखिए:—

नई लगनि, कुल की सकुच, विकल भई अकुलाइ।
दुहूँ ओर ऐंची फिरति, फिरकी लौं दिनु जाइ॥

इसमें मन की खींचतान शरीर में भी प्रकट हो जाती है, एक उदाहरण कुलपति मिश्र से लीजिए:—

कंसदलन को दौर उत, इत राधा हित जोर।
चलि रहि सकै न श्याम चित, एँचि लगी दुहुँ ओर ॥

भावशबलता—कई भावों के एक दूसरे के पश्चात् आने का उदाहरण कुलपति मिश्र से नीचे दिया जाता है :—

दृग ललके राते भए, रूखे झलके भाय।
नेह भरे लखि लोचनन, सकुचे परसत पाय ॥

इसमें ललक द्वारा पहले उत्सुकता दिखाई गई है फिर उसके सन्तुलन के लिए उदासीनता का भाव आगया है किन्तु वह उदासीनता अधिक देर न ठहर सकी। नायिका की उदासीनता से प्रियतम नाराज न हो गये हों, इस भाव के परिहार के लिए ही उसमें दीनता आगई है किन्तु दीनताजन्य हृदय की बढ़ी हुई उमङ्ग को लज्जा ने रोक दिया है और उस लज्जा के ही अधिकार में चरण-स्पर्श किये गये हैं।

भिखारीदासजी ने जो उदाहरण दिया है उसमें भावों को एक साथ दिखाया गया मालूम पड़ता है, देखिए:—

हरि संगति सुख मूल सखि, ये परपञ्ची गाउँ।
तू कहि तौ तजि संक उत, दृग बचाइ द्रुत जाउँ ॥

इसमें मिलन की उत्कण्ठा, बदनामी की आशङ्का, सखी के प्रति विश्वास, उत्कण्ठा पूरी न होने से उत्पन्न आवेग और साथ ही दैन्य भी है, शङ्का को दबा देने वाला निश्चय और धैर्य के साथ अभिलाष-पूर्ति के लिए उत्साह है।

केशवदासजी की रामचन्द्रिका से उद्धृत नीचे के छन्द में भी भावशबलता का अच्छा उदाहरण मिलता है:—

ऋषिहि देखि हरषै हियो, राम देखि कुम्हिलाय।
धनुष देखि डरपै महा, चिन्ता चित्त डोलाय ॥

रस-दोष—यद्यपि काव्य के सभी दोष रस-दोष हैं क्योंकि वे रसानुभूति में बाधक होते हैं तथापि कुछ दोष ऐसे भी हैं जो रस से

ही सीधा सम्बन्ध रखते हैं, उनका ही यहाँ उल्लेख किया जायगा। साहित्यदर्पण के अनुकूल रस-दोष इस प्रकार हैं :—

१—रस या उसके स्थायी भाव का उसी शब्द द्वारा कथन अर्थात् जिस रस का वर्णन हो रहा हो उसका नाम ले आना। यह बात इसलिए रक्खी गई कि रस व्यंग्य है वाच्य नहीं। रस व्यञ्जित होने में जो आनन्द आता है वह उसके नाम ले देने में नहीं। यह रस और व्यञ्जना के पारस्परिक सम्बन्ध का एक उदाहरण है। सञ्चारी भावों का स्वशब्दवाच्यत्व इतना दोष नहीं माना जाता। जहाँ पर विभाव-अनुभाव द्वारा वह व्यञ्जित न हो सके वहाँ उसके नामोल्लेख में दोष नहीं होता। स्थायी भाव की स्वशब्दवाच्यत्व का एक उदाहरण लीजिए:—

शरद निशा प्रीतम प्रिया, विहरति अनुपम भाँति।
ज्यों ज्यों रात सिरात अति, त्यों त्यों रति सरसाति॥

२—विरोधी रसों के अनुकूल स्थायी भावों का वर्णन। विरोधी रस साथ आना तो दोष है ही किंतु उसकी सामग्री का आना भी दोष है, जैसे—'मानं मा कुरु तन्वङ्गि ज्ञात्वा यौवनमस्थिरं'—हे तन्वङ्गि तू यौवन को अस्थिर जानकर मान मत कर। यौवन की अस्थिरता शान्त रस का उद्दीपन है इसलिए इसका शृङ्गार में उल्लेख दोष है।

३—विभावादि के सम्बन्ध में क्लिष्ट कल्पना वाञ्छनीय नहीं होती, न उसमें अस्पष्टता या विकल्प के लिए स्थान है। इसका एक उदाहरण लीजिए:—

उठति गिरति फिर-फिर उठति, उठि-उठि गिरि-गिरि जाति।
कहा करौ कासे कहौं, क्यों जावे यह राति॥

इसमें यह नहीं मालूम होता कि किस कारण से स्त्री की यह दशा हुई। इसमें साधारण व्याधि और विरह की व्याधि में अन्तर करने को कोई बात नहीं है।

४—अ-स्थान में रस की स्थिति - अर्थात् प्रसङ्ग-विरुद्ध किसी रस को ले आना। जहाँ रोना-पीटना मच रहा हो वहाँ शृङ्गार की बात करना इसका उदाहरण होगा। भिखारीदासजी ने इसके उदाहरण में एक सती होने वाली स्त्री का वर्णन दिया है:—

साजि सिंगार सर पै चढ़ी, सुन्दरि निपट सुवेस।
मनो जीति भुविलोक सब, चली जितन दिव देस॥

यहाँ पर सुन्दरता के वर्णन में दिवलोक जीतने का जो उल्लेख हुआ उसमें शृङ्गारिक व्यञ्जना है यदि नैतिक या आध्यात्मिक तेज से जीतने की बात होती तो कोई हानि न थी।

५—रस-विच्छेद—जहाँ एक रस चल रहा हो उसके पूर्ण परिपाक के पहले ही उसके विपरीत किसी दूसरे रस की बात ले आना इसका उदाहरण होगा। इसके उदाहरण में साहित्यदर्पणकार ने वह स्थल बतलाया है कि जहाँ पर महावीरचरित में से परशुरामजी के साथ वीर रसोचित वार्तालाप चल रहा था वहीं रनवास से कङ्कण खुलवाने का बुलावा आने पर श्रीरामचन्द्रजी तुरन्त ही बड़ों की आज्ञा का सहारा लेकर भीतर जाने को तैयार हो जाते हैं। वहीं एक साथ प्रसङ्ग समाप्त हो जाता है। इसमें भवभूति के पक्ष में इतना ही कहा जा सकता है कि उस स्थल पर जनकजी और शतानन्दजी के आजाने के कारण वातावरण अपेक्षाकृत शान्त हो गया था। उतना खिचाव-तनाव नहीं रहा था फिर भी एक दबे हुए मनुष्य की भाँति तुरन्त भीतर चले जाना रामचन्द्रजी की प्रकृति के विरुद्ध-सा जँचता है।

६—रस की पुनः-पुनः दीप्ति—'अति सर्वत्र वर्जयेत' की बात यहाँ पर भी लागू होती है। रस-वर्णन की भी सीमा होती है, उसके बाद एक ही बात को (रूपकों, उपमाओं, वक्रताओं, के बिना) सुनते-सुनते उसमें ऊब और शैथिल्य-सा आने लगता है। एक में अनेकता तथा क्षणे-क्षणे नवीनता रमणीयता के लिए आवश्यक है। कुमार-सम्भव का रति-विलाप कुछ इसी प्रकार का है।

७—अङ्गी को भूल जाना—जो मुख्य है उसको भूल जाना रस-दोष माना गया है। रत्नावली के चतुर्थ अङ्क में वाभ्रव्य के आ जाने पर राजा का सागरिका को भूल जाना, इसका उदाहरण माना गया है। वस्तु को भूल जाना उसके प्रति स्नेह की कमी का द्योतक होता है। भिखारीदास ने एक नायिका का उदाहरण दिया है जो नायक को सहेट स्थल पर भेजकर स्वयं अपने खेल में लग जाती है, यह स्नेह की कमी के कारण है :—

प्रीतम पठै सहेट निज, खेलन अटम्री जाय।
तकि तेहि आवत उतहिं ते, तिय मन मन पछिताय ॥

८—अङ्ग को प्रधानता देना—शृङ्गार में नायक-नायिका अङ्गी हैं। दूती, सखी आदि उद्दीपन रूप से अङ्ग कहे जाते हैं। नायिका को प्रधानता न देकर उसकी दासो के रूप को प्रधानता देना इस दोष का उदाहरण होगा, देखिए:—

दासी सों मण्डन समय, दरपन माँग्यो वाम।
बैठ गई सो सामुहे, करि आनन अभिराम ॥

दासी दर्पण न देकर स्वयं सामने बैठ जाती है। इसमें दासी के मुख को उज्ज्वलता का वर्णन हुआ, नायिका की उपेक्षा हुई। केशवदासजी ने भी सीताजी की दासियों का वर्णन किया है। उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि दासियों का वर्णन इसलिए किया है कि जहाँ की दासी इतनी सुन्दर है वहाँ की रानी कितनी सुन्दर होगी। लेकिन श्री रामचन्द्रजी का उन दासियों के सौन्दर्य का वर्णन सुनना भी उनकी मर्यादा के विरुद्ध था।

प्रकृति-विपर्यय—साहित्य-शास्त्र में नायकों का प्रकृतियों के अनुकूल विभाजन किया गया है और प्रकृति के अनुकूल ही उनके द्वारा रस का परिपाक बतलाया है। कोई नायक अपनी प्रकृति के प्रतिकूल नहीं जा सकता। चरित्र-चित्रण की सीमाएँ उस समय भी स्वीकृत थीं। दिव्य मे देवता आते हैं, अदिव्य में मनुष्य और दिव्यादिव्य में अवतार गिने जाते है। दिव्य के लिए वीर और रौद्र के सम्बन्ध मे लोकोत्तर कार्यों का वर्णन बतलाया गया है। अदिव्य प्रकृतियों को लोकमर्यादा की सोमा में ही रहना पड़ता है। देवताओं का स्वभाव इस प्रकार बतलाया गया है:—

स्वर्ग पताले जाइबो, सिन्धु उलंघन चाव।
भस्म ठानिबो क्रोध ते, सो तौ दिव्य-स्वभाव ॥

अदिव्य के लिए शोक, हास, रति और अद्भुत विशेष रूप से बतलाये गये है। इनका वर्णन अवतारादि दिव्यादिव्य के सम्बन्ध में भी हो सकता है। देवताओं की रति का (विशेषकर सम्भोग शृङ्गार) वर्णन करना रस-दोष माना गया है। कुमार-सम्भव में यह दोष पूर्णतया पाया जाता है।

नायकों के एक दूसरे आधार पर चार विभाग किये गये हैं और अनुकूल रस भी बतलाये गये हैं।

१—धीरोदात्त—नीतिवान, गम्भीर, उदार और क्षमावान होता है, जैसे श्री रामचन्द्रजी, महाराज युधिष्ठर—इस प्रकार के नायकों के लिए वीर रस विशिष्ट है।

२—धीरोद्धत—मायावी, चापल्य-गुण-वाला एवं आत्मश्लाघा-परायण होता है, जैसे भीम, परशुराम—इनके लिए रौद्र उपयुक्त है।

३—धीर ललित (जैसे दुष्यन्त जो प्रेम और कला विलास में अपना समय बिताते हैं) के लिए शृङ्गार उपयुक्त है।

४—धीर प्रशान्त (जैसे मालती माधव का माधव) के लिए शान्त रस उपयुक्त है। क्षत्रिय लोगों में शान्त रस का अभाव बतलाया गया है, धीर शान्त वैश्य या ब्राह्मण ही हो सकता है।

विशेष—इन सब में धीर गुण लगा हुआ है। हमारे यहाँ नायक को इतनी श्रेष्ठता दी गई है कि उसमें कम-से-कम धीरता का गुण होना आवश्यक है।

इन प्रकृतियों के प्रतिकूल वर्णन करना रस-दोष माना गया है, जैसे साहित्य दर्पणकार ने श्री रामचन्द्रजी का बालि को पेड़ की ओट में मारना प्रकृति-विरुद्ध दोष बतलाया है।

यह विभाजन उस काल की संस्कृति के अनुकूल था। आजकल वर्णभेद से गुण निश्चित नहीं किया जाता है। इस विभाजन में सामान्य (Type) की ओर प्रवृत्ति अधिक है किन्तु फिर भी हर एक नायक अपनी विशेषता रखता है।

भारतीय समीक्षा में दोषों का वर्णन बिल्कुल पत्थर की लीक के रूप में नहीं रक्खा गया है। वह औचित्य के अनुकूल है। दोषों के वर्णन के साथ उनका परिहार भी बतलाया गया है।

रस-विरोध-परिहार—रस में परस्पर मैत्री और विरोध माना गया है। मित्र रस, जैसे शृङ्गार और हास्य एक दूसरे का पोषण करते हैं। शत्रु रस एक दूसरे के बाधक होते हैं। विरोध कई प्रकार का होता है। कुछ रसों का विरोध तो एक आलम्बन में होने से होता है जैसे जिसके प्रति रति भाव दिखाया जाय उसके प्रति धीरता का भाव

नहीं दिखाना चाहिए, कुछ रसों का विरोध एक आश्रय में होता है, जैसे वीर और भयानक का, एक ही आश्रय को वीरतापरायण दिखाते हुए भयभीत दिखाना वोर रस का बाधक होगा। वीर मे भय का स्थान नहीं। कुछ रसों का नैरन्तर (अर्थात् बिना किसी व्यवधान के बीच में आये) विरोध रहता है, जैसे शृङ्गार का वीभत्स और शान्त से अथवा वियोग शृङ्गार का वोर से।

इन दोषों का तो सहज ही में परिहार हो जाता है। जिन रसों का एक आलम्बन नहीं हो सकता, उनको भिन्न-भिन्न अलम्बन के सहारे दिखाना दोष नहीं कहलाता, जैसे वीरगाथा काव्यों में नायिका (संयोगितादि) के प्रति शृङ्गार-भावना रहती है और उसके प्रतिकूल अभिभावकों (जयचन्द आदि) के प्रति वीर-भावना का रहना कोई दोष नहीं कहलाता। इसी प्रकार वीर के आश्रय में उत्साह और आलम्बन या उससे सम्बन्धित लोगों में भय का दिखाना, जैसा तुलसीदासजी ने यातुधानियों के सम्बन्ध में किया है या भूषण ने मुगल रमणियों के सम्बन्ध मे दिखाया है। जहाँ नैरन्तर का दोष हो वहाँ पर बीच में कोई उदासीन या दोनो के मित्र रस को ले आने से काम बन जाता है। इसका उदाहरण नागानन्द नाटक से दिया गया है। शान्त रस-प्रधान नायक जीमूतवाहन के मलयवती नायिका से शृंगार की बात करने से पूर्व बीच में अद्भुत रस का आजाना इस दोष का परिहार कर देता है। इसी प्रकार वियोग-विह्वल दुष्यन्त को इन्द्र की सहायता के लिए वीर-कार्य में प्रवृत्त करने के अर्थ इन्द्र के दूत मातलि ने उसके प्रिय सखा विदूषक को पीटकर उसके करुणा-क्रन्दन द्वारा दुष्यन्त का क्रोध-भाव जाग्रत किया था। यहाँ रौद्र के बीच में आजाने से वियोग शृंगार और वीर का विरोध शमन हो गया था। एक मनोवृत्ति से दूसरे में ले जाना सहज कार्य नहीं है। शकुन्तला नाटक मे कालिदास ने इस कार्य को बड़ी कुशलता से निभाया है।

विरोध के शमन के और भी प्रकार हो सकते हैं, वे नीचे दिये जाते है:—

> स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः।
> अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तो यौ तौ न दुष्टौ परस्परम्॥

अर्थात् जहाँ पर परस्पर-विरोधी रस में से एक प्रत्यक्ष न रहकर

स्मरण किया जाय अथवा जहाँ ममतापूर्वक वर्णन किया जाय या एक रस दूसरे रस का अङ्गी बना दिया जाय तो ऐसे दो विरोधी रसों का एक साथ आना दोष का कारण नहीं होता। स्मर्यमाण होने में रस का बल कम हो जाता है। स्मर्यमाण रस एक प्रकार से दूसरे रस का अङ्ग बन जाता है। काव्यप्रकाश में जो उदाहरण दिया गया है वह बहुत सुन्दर नहीं मालूम होता है। साहित्यदर्पणकार ने भी उसी का उल्लेख किया है। मृत भूरिश्रवा की रणभूमि में कटी हुई बाँह को देखकर उसकी स्त्री कहती है, यह वही हाथ है जो करधनी को खींचा करता था इत्यादि ऐसा रति भाव का स्मरण करुणा के साथ मेल नहीं खाता है, उसकी वीरता का स्मरण किया जा सकता था। साकेत में उर्मिला के विरह में अन्य रसों का स्मृति-रूप से ही वर्णन हुआ है।

नीचे के अवतरण में उर्मिला वियोग-वर्णन के सिलसिले में स्मृति रूप से विवाह के पूर्व की कथा कह रही है :—

> कृते में दृढ़, कोमलाकृति, मुनि के संग गये महाधृति ॥
> भय की पर कल्पना बढ़ी; पथ में आकर ताड़का अड़ी।
> प्रभु ने, वह लोक-भक्षिणी, अबला ही समझी अलक्षिणी,
> पर थी वह आततायिनी, हत होती फिर क्यों न डाइनी।
> सुख-शान्ति रहे स्वदेश की, यह सच्ची छवि क्षत्रिय वेश की ॥

इस उद्धरण में वीर के साथ भयानक और वीभत्स आये हैं। अलक्षणी, आततायिनी आदि वीभत्स के ही आलम्बन हैं।

साम्य-विवक्षा अर्थात् समानतापूर्वक वर्णन की इच्छा से (उपमान उपमेय रूप से) विरोधी रसा का वर्णन दोषयुक्त नहीं कहा जाता है। इसका उदाहरण काव्यप्रकाश मे इस प्रकार दिया गया है:—

> दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलकैर्भवतः शरीरे।
> दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥

हे जिनराज, आपके घने रोमाञ्चपूर्ण शरीर में सिंहनी के रक्त-लाभ की इच्छा से नख, और दन्तों द्वारा किये हुए घावों को मुनि लोग भी बड़ी लालसा से देखते हैं। यहाँ पर नख और दन्त-क्षतों की शृङ्गारिक चित्रावली व्यञ्जित कर शान्त रस में शृंगार का उपमान रूप से वर्णन किया गया है। यह वर्णन उद्दीपनों की समानता पर किया गया है। केशवदास की रामचन्द्रिका से एक उदाहरण दिया जाता है :—

भक्ति तुम्हारी यों बसै, मो मन में श्रीराम।
बसै कामिजन हियनि ज्यों परम सुन्दरी बाम ॥

दूसरे भाव या रस के अङ्ग रूप से विरोधी रसों का वर्णन दोष का कारण नहीं होता है। यद्यपि आजकल बैरियों की हीनता और विशेषकर उनकी स्त्रियों की भयाकुल अवस्था का वर्णन करना मानवता और शिष्टता के विरुद्ध समझा जाता है तथापि एक साहित्यिक सिद्धान्त के निरूपण में उसे दे देना अनुचित न होगा। महाराज हिन्दूपति के बैरियों की स्त्रियों का दावाग्नि से पूर्ण कण्टकाकीर्ण बनों मे विचरने का वर्णन देखिए:—

कवित्त

वेलिन के विमल वितान तनि रहे जहाँ, द्विजन को सोर कछु कह्यो ना परत है।
ता वन दवागिनि की धूमनि सों नैन मुकतावलि सुवारै डारै फूलन भरत है ॥
फेरि फेरि अँगुठो छुवावै मिसु कण्टनि के, फेरि फेरि आगी पीछे भाँवरै भरत है।
हिन्दूपतिजू सों बच्यो पाइ निज नाहैं बैरिबनिता उछाहैं मानि व्याह सो करत है ॥

उपर्युक्त छन्द भिखारीदासजी ने काव्यप्रकाश के 'क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैःसदर्भाःस्थलीः' से शुरू होने वाले उदाहरण के अनुकरण मे लिखा है। इसमें भयानक और शृङ्गार कुछ-कुछ उपमानोपमेय रूप से राजाविषयक रति भाव के अङ्ग होकर आये हैं, इसलिए दोष नहीं है। अङ्गभूत रसों का यहाँ स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, इसीलिए विरोध नहीं होता है। ऐसे वर्णन अब हमारे हृदय को कम अपील करते हैं। विजेताओं की विजित द्वारा चाटुकारिता को तथा विजित देश की स्त्रियों के साथ कामुकता के व्यवहार को काव्यप्रकाशकार ने भी भावाभास और रसाभास कहा है। भावाभास वाला अंश देखिए:—

अस्माकं सुकृतैर्दृशोर्निपतितोऽस्यौचित्यवारानिधे।
विध्वस्ता विपदोऽखिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे ॥

जिनकी स्त्रियों के प्रति कामुकता का व्यवहार किया जाता है वे ही विजेता से कहते हैं कि हे राजन! आप हमारे पूर्वकृत पुण्यों के कारण दृष्टिगोचर हुए हैं। आप औचित्य का अनुकरण करने वालों में श्रेष्ठ हैं। हमारी सब आपत्तियों का शमन होगया,—चाटुकार राजा की प्रशंसा

में उसके वैरियों के दुर्भाग्य की बात कहना है। ऐसे विजित लोगोंकी, जो लात मारने वाले पद को भी चाटते हैं, इस युग में भी कमी नहीं। यह मनोवृत्ति अपेक्षाकृत क्षम्य है। भय क्या नहीं कराता किन्तु ऐसा भय उत्पन्न करने के लिए किसी की प्रशंसा करना सर्वथा निन्द्य है। पाठक इस प्रसङ्गान्तर को क्षमा करेंगे। रस में औचित्य का हमेशा ध्यान रखना पड़ता है और चाटुकार लोग इस औचित्य का सर्वथा उल्लंघन कर जाते हैं।

विशेष—इस विरोध के वर्णन में रस शब्द अधिकांश में अपने स्थायी भाव का ही वाचक है क्योंकि यहाँ पर वास्तविक आलम्बनों और आश्रयों के भावों से सम्बन्ध है, पाठक या दर्शक के रस से नहीं।

सारांश—काव्य के वर्ण्य के अन्तर्गत विभाव और भाव दोनों ही आते हैं और वे दोनों मिलकर कला का भावपक्ष बनते हैं। रस का पता हम प्रायः उसके सञ्चारियों और अनुभावों द्वारा ही लगाते हैं। काव्य के अध्ययन और रसास्वाद के लिए इस प्रकार का रस-विश्लेषण उपयोगी होगा। रस-विश्लेषण भारतीय समीक्षा का मुख्य अङ्ग रहा है। रस पद्य का ही विषय नहीं, गद्य का भी विषय है। भावों के वर्णन में औचित्य का ध्यान अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना रस भी रसाभास हो जाता है। दोषों से रस के परिपाक में बाधा पड़ती है। भावों के मिश्रण में शत्रुता और मैत्री का भी ध्यान रखना पड़ता है। शत्रुता का प्रश्न रुचिमात्र का प्रश्न नहीं है, उसमें विचार से काम लेना पड़ता है। भारतीय समीक्षा में दोषों का विचार स्थिरतात्मक नहीं है वरन् वह गतिशील है।

रस और मनोविज्ञान

विवेचन का आधार—रस का विवेचन पहले-पहल नाटकों के सम्बन्ध में भरत मुनि द्वारा हुआ है। हमारे यहाँ नाटक मनुष्य की क्रियाओं की अनुकृति नहीं है वरन् उनके द्वारा भावों की अनुकृति है। इसी सम्बन्ध मे भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में भावों और रसों का विशद विवेचन किया है। रस का प्रश्न काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में भी उठाया गया है। आचार्य विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कहकर रस को काव्य की आत्मा माना है।

भाव और मनोवेग—हमारे जीवन में भावों और मनोवेगों (Feelings and Emotions) का विशेष स्थान है। सुख और दुःख को हम भाव कहते हैं; भय, क्रोध, घृणा, विस्मय आदि मनोवेग हैं। मनोवेग सुखात्मक भी होते हैं और दुःखात्मक भी। बहुत ऊँचे त्रिगुणातीत क्षेत्र में पहुँचकर ये द्वन्द्व और राग-द्वेष की संज्ञा में गिने जाकर चाहे हेय समझे जायँ किन्तु साधारण लोक-जीवन के व्यावहारिक धरातल में ये हमारी ज्ञानात्मक और क्रियात्मक वृत्तियों को हलका या गहरा रङ्ग देकर उनमें एक निजत्व उत्पन्न करते हैं। हमको दुःख या सुख पहुँचाने के कारण ही संसार की वस्तुएँ हेय या उपादेय बनती हैं। हमारे मनोवेग चरित्र के विधायक और परिचायक होते हैं। वे हमारी क्रियाओं के प्रेरक चाहे न हों किन्तु उनको शक्ति और गति अवश्य देते हैं। इनमें हमारे व्यक्तित्व की छाप दिखाई पड़ती है।

इन भावों और मनोवेगों का अध्ययन मनोविज्ञान का विषय है। प्राचीन भारतवर्ष में आजकल-का-सा ज्ञान का विशेषीकरण न था। शायद इसलिए कि वे लोग ज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं के परस्पर सम्बन्ध को स्थापित रखने में अधिक विश्वास रखते थे। उनके लिए ज्ञान एक अखण्ड वस्तु थी। वे उसे संश्लिष्ट रूप में ही देखना चाहते थे। यद्यपि प्राचीन वाङ्मय में मनोविज्ञान नाम का कोई विशेष शास्त्र न था तथापि योग, न्याय आदि दर्शनों में तथा

साहित्य-शास्त्र में मनोविज्ञान-सम्बन्धी प्रचुर सामग्री मिलती है। साहित्य में भावात्मक या रागात्मक तत्त्व की प्रधानता होने के कारण उस पर प्रकाश डालने वाले काव्य की आत्मा—रस के निरूपण में मनोवेगों से सम्बन्ध रखने वाली बहुत-कुछ सामग्री उपलब्ध हो सकती है।

रस मनोवेग नहीं वरन् वह मनोवेगों का आस्वादन है। जिस प्रकार आस्वादनकर्त्ता को आस्वाद्य वस्तु के सम्बन्ध में कुछ जानकारी भी प्राप्त हो जाती है (वह वस्तु कहाँ और कैसे उत्पन्न होती है) उसी प्रकार रस के विवेचन में मनोवेगों का विश्लेषण मिलता है।

साधारणीकरण द्वारा दुःख में सुख—हमारे मनोवेग लौकिक अनुभव का विषय हैं किन्तु जब वे साहित्यिक देवताओं के सामने आस्वादन के लिए रक्खे जाते हैं तब उनका पूजा की धूप या भपके में खिंचे हुए अर्क की भाँति एक दिव्य सौरभमय रूप हो जाता है। साहित्य-जगत में हम भी देवताओं की भाँति भावना के ही भूखे रहते हैं। हम संसार में रहते हुए भी उससे ऊपर उठ जाते हैं। हम 'अयं निजः परोवा' की क्षुद्र व्यक्तित्व वाली सङ्कुचित मनोवृत्ति से परे दिखाई देते हैं और हमारे आस्वादित मनोवेगों की कटुता, तीव्रता, तीक्ष्णता, रूक्षता, शुष्कता और स्थूलता जाती रहती है। निजत्व की भावना ही तो सुख-दुःख की धार को पैनी कर देती है। कुशल पाक-शास्त्री आक और नीम के पत्तों को भी सुस्वादु बना देता है। कवि की आल्हादैकमयी दिव्य वाणी का पारस-स्पर्श प्राप्तकर हमारे लोह-सदृश दुःखद मनोवेग भी आनन्दमय स्वर्ण का रूप धारण कर लेते हैं। यह है विभावन या साधारणीकरण की रसायन, जिसके द्वारा मनोवेगों से 'ममेति वा परस्येति,' अपने पराये का क्षुद्रत्व दूर कर दिया जाता है।

दुःख का कारण तो ममत्व ही होता है। ममत्व से ऊपर उठा हुआ ब्रह्मज्ञानी दुःख-सुख का अनुभव नहीं करता। जहाँ हम ममत्व से परे हुए वहाँ रस-दशा को प्राप्त होते है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उदार मनोवृत्ति का परिचय साहित्य मे ही मिलता है। दूसरे के अनु-भव को अपना बनाना ही करुणा का मूल सिद्धान्त है। इसी को सहानुभूति कहते हैं, शायद इसीलिए महाकवि भवभूति ने कहा है

'एको रसः करुण एव' दूसरे के अनुभव को अपना बनाने में अपनी आत्मा का विस्तार होता है, यही सुख का कारण बन जाता है। 'भूमा वै सुखम्' अपने गोत्र को बढ़ते हुए देखकर किसको सुख नहीं होता ?

रस का स्वरूप—अब प्रश्न यह होता है कि रस मनोवेग नहीं तो है क्या वस्तु ? किसी वस्तु को आस्वादन करने पर जो आनन्द मिलता है उसे रस कहते हैं। साधारण भाषा में कहते हैं कि अमुक की कथा में 'बड़ा रस आया', 'कानों में रस पड़ रहा है', 'वे बड़े रसिक हैं'। रसिया शब्द का अर्थ है—जिसके आस्वादन में आनन्द आवे। आनन्द लेने वाले को भी रसिया कहते हैं, जैसे 'हनूमान चालीसा' में 'राम कथा सुनिबे कौं रसिया'—संक्षेप में आस्वादनजन्य आनन्द को रस कहते हैं। 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः'। अब जरा शास्त्रीय परिभाषा सुन लीजिए:—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्॥

विभाव (आलम्बन—स्थायी भाव को जाग्रत करने के मुख्य कारण, शृङ्गार के सम्बन्ध में नायक-नायिका; रौद्र के सम्बन्ध में शत्रु तथा उद्दीपन अर्थात् सहायक कारण जो उस भाव को उद्दीप्त रक्खें—जैसे शृङ्गार में चाँदनी, गीत-वाद्य और आलम्बन की चेष्टाएँ), अनुभाव (भावों के वाह्यव्यञ्जक—जैसे शृङ्गार में कम्प, स्वेद, रोमाञ्च तथा मुंह लाल हो जाना—ये कार्य रूप होते हैं।), सञ्चारी (स्थायी भावो को पुष्ट करने वाले, उनके साथ रहने वाले भाव—जैसे शृङ्गार में हर्ष, दैन्य, चिन्ता तथा करुण में दैन्य) भावों से व्यक्त होकर स्थायी भाव सहृदयों के हृदय मे रस को प्राप्त होता है। व्यक्त का अर्थ है—परिणत हो जाता है। 'व्यक्तो दध्यादिन्यायेन परिणता' विभावादि कारण, अनुभावादि कार्य और सञ्चारी आदि सहकारी सभी रस की निष्पत्ति में कारण होते हैं। यह एक प्रकार का सामूहिक प्रभाव है जो उन सहृदय लोगों पर जिनके हृदय मे स्थायी भावों के प्राक्तन या आधुनिक संस्कार मौजूद हैं, पड़ता है। सहृदय पर जोर देकर हमारे आचार्यों ने मन की सक्रियता और ग्राहकता को स्वीकार किया

मनोवेग और विलियम जेम्स—यह जान लेने के पश्चात् कि रस मनोवेग नहीं है वरन् साधारणीकरण के भपके में खिंची हुई उनकी भावना का सामूहिक आस्वाद मात्र है, अब हमको यह जानना चाहिए कि रस-सिद्धान्त से मनोवेगों के मनोविज्ञान पर क्या प्रकाश पड़ता है ? इसके लिए हमको पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि मनोवेग कहते किसे हैं ? इस सम्बन्ध में पाश्चात्य देशों के मनोवैज्ञानिकों का बहुत मतभेद है। पश्चिम के आचार्यों ने मनोवेगों के वाह्यअभिव्यञ्जकों (External Expression) पर अधिक जोर दिया है, यहाँ तक कि जेम्स और लैंग (James and Lange) ने तो मनोवेगों के वाह्यव्यञ्जकों के परिज्ञान को ही मनोवेग माना है। रोना एक स्वतःचालित क्रिया है। हम अश्रुमोचन इसलिए नहीं करते हैं कि हम दुःखी है वरन् हम अपने को दुःखी इसलिए अनुभव करते हैं कि हमको अश्रुमोचन का परिज्ञान हो रहा है। भय हमको इसलिए प्रतीत होता है कि हमको कम्प और पैरों की पलायनोन्मुखता का भान होने लगता है:—

We feel sorry because we cry, angry because we strike, afraid because we tremble and we donot cry, strike or tremble because we are sorry, angry and fearful as the case may be.—William James.

विलियम जेम्स साहब ने शायद उन्हीं मनोवेगों को ध्यान में रक्खा है जिनमें भौतिक अभिव्यञ्जकों का प्राधान्य है। वे शायद ऐसी परिस्थितियों को भूल गये जहाँ जरा-सी बात तीर का काम करती है और बिना अश्रु के भी विषम वेदना का दुःखद अनुभव सारी चेतना को व्याप्त कर देता है। ऐसी अवस्था मे भौतिक परिवर्तनों की अपेक्षा मानसिक बोध अधिक होता है। दो एक कुत्तों पर ऐसे प्रयोग किये गये हैं कि उनके शारीरिक परिवर्तनों से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान-तन्तु नष्ट कर दिये जाने पर भी उनमें मनोवेग के लक्षण दिखाई पड़े हैं। इसके अतिरिक्त एक ही प्रकार के अनुभाव या वाह्यव्यञ्जकों का दो विपरीत मनोवेगों से सम्बन्ध रहना सम्भव है—जैसे अश्रु, विषाद और हर्ष दोनों के ही होते हैं। कम्प, प्रेम में भी होता है और भय में भी। यही हाल रोमाञ्च का है।

हमारे यहाँ मनोवेगों के वाह्य अभिव्यञ्जकों को पर्याप्त महत्व दिया गया है। रस-शास्त्र का उदय ही वाह्य अभिव्यञ्जकों के अध्ययन से हुआ है। रस-सिद्धान्त के मूल आचार्य हैं नाट्यशास्त्र के कर्त्ता भरत मुनि। उन्होंने अभिनय के सम्बन्ध मे ही वाह्य व्यञ्जकों का अनुसन्धान किया था किन्तु उनके सामने मनोवेगों का आन्तरिक पक्ष गौण नहीं हुआ, अनुभाव कार्य रूप समझे गये, कारण रूप नहीं।

मेकड्यूगल और शैंड का मत—मैकड्यूगल William Mcdougall ने मनोवेगों को सहज प्रवृत्तियों (Instincts) का भावात्मक पक्ष माना है। सहज वृत्तियों में (जैसे डर से भागना या छिपना, चिड़ियों का घोंसला बनाना या बच्चे का स्तनपान करना) ज्ञान-पक्ष, भावपक्ष और क्रियापक्ष तीनों ही लगे होते हैं। शेण्ड (Shand) ने मनोवेगों को एक संस्थान माना है जिसमें कि ये सहज वृत्तियाँ भी शामिल हैं। उन्होंने मनोवेग को एक बड़े संस्थान यानी भावात्मक वृत्तियों (Sentiments) का अङ्ग माना है। पाश्चात्य मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने मनोवेगों और भाववृत्तियों में अन्तर किया है। भाववृत्तियाँ स्थायी होती हैं और एक भाववृत्ति से सम्बन्ध रखने वाले कई मनोवेग समय-समय पर जाग्रत हो सकते हैं—जैसे मैत्रीभाव एक भाव-वृत्ति है। मित्र के दर्शन से सुख, वियोग से दुःख, उसके संकट में पड़ने से भय की आशंका और उसके दुःख में पड़ने से करुणा के मनोवेग उत्पन्न होते हैं। मनोवेग और भाव-वृत्ति का अन्तर शुक्लजी के एक वाक्य से स्पष्ट किया जा सकता है—'बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।' क्रोध हर समय नहीं रह सकता। बैर की भाव-वृत्ति बहुत काल तक रह सकती है। उसके अन्तर्गत कभी क्रोध उत्पन्न होगा, कभी वीरता के भाव और शायद भय भी उत्पन्न हो सकता है।

डा० भगवानदास का मत—डाक्टर भगवान दास ने अपनी साइन्स आफ दी इमोशन्स नाम की पुस्तक में मनोवेगों को एक जीव के दूसरे जीव के प्रति भाव के परिज्ञान के साथ इच्छा का संयोग बतलाया है—"An emotion is desire plus the cognition involved in the attitude of one Jiva towards another" उन्होंने सब मनोवेगों को आकर्षण या विकर्षण

का रूप बतलाया है जैसे घृणा विकर्षण का रूप है। बराबर वाले के प्रति आकर्षण प्रेम है, बड़ों के प्रति आकर्षण श्रद्धा है।

इस प्रकार हम इन सब दृष्टिकोणों को मिलाते हुए यह कह सकते हैं कि मनोवेग मन की वह भावात्मक उद्वेजित अवस्था है जो किसी बाह्य या अन्तः (स्मृतिजन्य कल्पनाजन्य और कभी-कभी शारीरिक) उत्तेजना के ज्ञान से उत्पन्न होकर शरीर की आन्तरिक स्थिति में परिवर्तन कर हमारी सहज वृत्तियों के सहारे कुछ प्रवृत्त्यात्मक या निवृत्त्यात्मक क्रियाओं को जन्म देती है।

रस और मनोवेग—रसों के वर्णन में स्थायी भावों द्वारा सूचित नौ या दस मनोवेग आ जाते हैं अब यह देखना है कि वे वर्णन कहाँ तक मनोवैज्ञानिक हैं। यहाँ पर हम ड्रमन्ड (Margaret Drummond) और मेलोन (Sydney Herbert mellone) के 'Elements of Psychology' नाम की पुस्तक से एक उद्धरण देते हैं जिसमें बतलाया गया है कि किसी मनोवेग के वर्णन में क्या-क्या बातें आवश्यक हैं:—

(I) The nature of its object (the kind of situation which when perceived, imagined or remembered arouses it).

(2) Its affective quality, pleasant, painful or practically indifferent, the massiveness or volume of the affection; its normal intensity.

(3) Mode of influencing the will (active tendencies involved).

(4) Bodily expression (a) internal organic sensations, (b) Muscular movements.

(5) Different modifications of the emotions (if any) at diferent stages of mental development.

अर्थात्

१—उसके विषय का वर्णन—जो परिस्थिति कि देखी गई हो कल्पित की गई हो या स्मरण की गई हो।

२—उसका भावमूलक गुण अर्थात् वह सुखद है, दुःखद है अथवा उदासीनप्राय:; भाव का विस्तार और उसकी गहराई।

३—संकल्प-शक्ति को प्रभावित करने का प्रकार। उससे संलग्न क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ।

४—शारीरिक अभिव्यञ्जक—(क) आन्तरिक अवयव-सम्बन्धिनी समवेदनाएँ, (ख) पेशियों की क्रियाएँ।

५—भिन्न-भिन्न विकास की अवस्थाओं में मानसिक विकास के भिन्न-भिन्न धरातलों पर मनोवेगों के विविध रूप (यदि कोई हों)।

अब हमको देखना चाहिए कि हमारे रस-शास्त्र के आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रसों का जो वर्णन किया है, वह इसी प्रकार है या और किसी प्रकार? हम एक-एक कलम को लेकर विवेचनात्मक दृष्टि से देखेंगे कि रस-शास्त्र का भवन तैयार करने में भरत मुनि को कितनी मनोवैज्ञानिक आधार-भूमि तैयार करनी पड़ी होगी।

विषय का वर्णन—यह हमारे रस शास्त्र में विभावों द्वारा होता है। ये रति आदि स्थायी भावों के कारण माने गये हैं। ये दो प्रकार के हैं:—

आलम्बन और उद्दीपन—आलम्बन वे हैं जो स्थायी भाव की उत्पत्ति में मुख्य कारण होते हैं। उन्हीं पर स्थायी भाव अवलम्बित होता है। उद्दीपन वे हैं जो गौण कारण होते हैं; वे रस को उद्दीप्त करते रहते हैं। अवलम्बित और उद्दीपन ही उस परिस्थिति को बनाते हैं जिसके कारण कि स्थायी भाव की उत्पत्ति होती है। शेर भय का आलम्बन है—उसका आलम्बनत्व तभी तक है जब तक कि वह भय की उपयुक्त परिस्थिति में दिखाई पड़ता है, अर्थात् जब वह बीहड़ वन की निर्जन निस्तब्धता में गरजकर चारों ओर की पहाड़ियों को प्रतिध्वनित कर रहा हो और कराल दाढ़ों को व्यक्त करता हुआ पंजा उठाये आक्रमण के लिए उद्यत हो, तभी वह हमारे भय का आलम्बन बनेगा। पिंजड़े में बन्द शेर हमारे मनोविनोद का कारण होता है। श्रीराधाकृष्ण की प्रेम-लीला के वर्णन में उपयुक्त वातावरण अपेक्षित रहता है। वृन्दारण्य, चन्द्र-ज्योत्स्ना-धौत-धवल यमुना-पुलिन चन्दन-चोवा से सुवासित शीतल-मन्द समीर, वंशी-निनाद, हासोल्लास, ये सब मिलकर प्रेम की अभिव्यक्ति में योग देते हैं, इनके

स्थान में यदि नीचे भूभल और ऊपर घाम हो, चारों ओर लू चपेटा मार रही हो तो रति-भाव यदि काफूर न हो जाय तो मन्द अवश्य पड़ जायगा। यदि उद्दीपन विभाव न हो तो स्थायी भाव शीघ्र ही शान्त हो जायगा। आलम्बन की निष्क्रिय उपस्थिति से जी न ऊब जाय इसी से उसकी चेष्टाओं को उद्दीपन माना है। रस को उद्दीपन रखने में देश-काल के साथ इनका भी महत्वत्व है:—

उद्दीपन विभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये।
आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालाद्यस्तथा ॥

परशुरामजी का क्रोध शीघ्र ही शान्त हो जाता यदि लक्ष्मणजी की गर्वोक्तियाँ उनको उत्तेजित न करतीं रहतीं। श्रीकृष्णजी का हँसना, किलकना, दौड़ना, गिर पड़ना, ये सब यशोदा के लिए उद्दीपन होंगे। हमारे यहाँ के आचार्यों ने उद्दीपन विभावों को मानकर परिस्थिति की संश्लिष्टता पर अधिक ध्यान रक्खा है। वास्तव में चेष्टादि के उद्दीपन, आलम्बन से उसी भाँति अलग नहीं किये जा सकते, जिस प्रकार बिल्ली की 'म्याऊँ' बिल्ली से। अन्तर केवल इतना ही है कि आलम्बन में अपेक्षाकृत स्थायित्व है। तरङ्ग समुद्र की होती है, तरङ्ग का समुद्र नहीं है। हमारे यहाँ के आचार्यों ने परिस्थिति का पूर्ण वर्णन किया है।

विभावों के वर्णन में आलम्बन के साथ आश्रय का भी वर्णन आ जाता है। जिसमें भाव की उत्पत्ति हो उसे आश्रय कहते हैं, जैसे लक्ष्मण को देखकर यदि परशुराम को क्रोध आता है तो परशुराम आश्रय कहलायेंगे। आश्रय के वर्णन के बिना भावपक्ष अपुष्ट रहेगा। कवि-कर्म में भाव और विभाव-पक्ष दोनों का ही वर्णन आवश्यक है।

२—मनोवेगों का गुण—इसके सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि रस-शास्त्र के आचार्यों ने मनोवेगों या स्थायीभावों को केवल दुःखात्मक या सुखात्मक ही नहीं कहा है वरन् उस सुख-दुःख का प्रकार भी बतला दिया है। शृङ्गार के स्थायी भाव प्रेम को सुखात्मक कहा है 'मनोनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनं रतिः' हास में चित्त का विकास बतलाया गया है 'व्यङ्ग्यक्रीडादिभिश्चेतो विकासः हास उच्यते' शोक में चित्त का वैक्लव्य दिखाया गया है 'इष्टनाशादिभिश्चेतो

वैक्लव्यं शोकशब्दभाक्'। विस्मय में चित्त का विस्तार बताया गया है 'विस्मयश्चित्तविस्तारो वस्तुमाहात्म्यदर्शनात्'। रसों का चित्त की वृत्तियों के आधार पर विभाजन भी किया गया है। हमारे सञ्चारी भाव रस के सुख-दुःखात्मक होने पर प्रकाश डालते हैं, जैसे वीर में हर्ष सञ्चारी रहता है।

३ और ४—क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ और शारीरिक अभिव्यञ्जना—ये शास्त्र-वर्णित अनुभाव हैं। इनमें मुख की आकृति, स्वेद-कम्पादि सात्विक भाव जो शरीर की आन्तरिक क्रियाओं से सम्बन्ध रखते हैं और प्रेम में आलिङ्गन के लिए बाहुओं को फैलाना, भय में भागने या छिपने की चेष्टा करना, क्रोध में दाँत पीसना, मुट्ठी बाँधना, वीर में ताल ठोंकना इत्यादि सब चेष्टाएँ और क्रियाएँ सम्मिलित हैं। इस सम्बन्ध में हमको नायिकाओं के हावों का भी अध्ययन करना आवश्यक है। आचार्य शुक्लजी ने इनको उद्दीपन विभाव ही माना है क्योंकि ये आलम्बन की चेष्टाएँ हैं। कुछ आचार्यों ने इनको अनुभाव माना है। मुख्यतया तो हाव उद्दीपन ही हैं किन्तु नायिका भी नायक के सम्बन्ध में आश्रय हो सकती है। इस तरह हाव अनुभाव कहे जा सकते हैं।

मनोवेगों के वाह्य अभिव्यञ्जकों के सम्बन्ध में हमारे आचार्यों ने बड़े सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। हम एक उदाहरण से इसको स्पष्ट करना चाहते हैं। भय को मुख्य मनोवेगों में माना गया है। डर्विन (Charles Darwin) के बतलाये हुए अनुभावों का रसग्रन्थों में कहे हुए अनुभावों से मिलान करने पर हमको मालूम होगा कि इस विषय में हमारे आचार्य आधुनिक वैज्ञानिकों से कदम मिलाते हुए चल सकते हैं। पहले हम यहाँ के आचार्यों द्वारा किया हुआ वर्णन देते हैं:—

अनुभावोऽत्र वैवर्ण्यं गद्‌गद्‌स्वरभाषणम्।
प्रलयस्वेदरोमाञ्चकम्पादिक् प्रेक्षणादयः॥

अर्थात् इसमें वैवर्ण्य (मुंह का रंग फीका पड़ जाना), गद्‌गद्‌स्वर होकर बोलना यानी टूटे हुए शब्द बोलना, प्रलय (मूर्छा), पसीना, रोंगटे खड़े होना, चारों ओर देखना आदि होते हैं। दूसरे आचार्यों ने और भी अनुभाव बतलाये हैं जो 'आदयः' में शामिल कहे

जा सकते हैं। इसी सम्बन्ध में हिन्दी का एक दोहा लीजिए—

मुख शोषन, निश्वास बहु, भागि बिलोकनि फेरि।
तन गोपन, घुमनी, शरण, चाह आदि किय टेरि॥

भय का भागने और छिपने की सहज प्रवृत्तियों से सम्बन्ध है, वे दोनों इसमें आ गई हैं। भागने के साथ पीछे मुड़कर देखना भय की अवस्था में स्वाभाविक ही है। अब जरा डार्विन का वर्णन पढ़िए—

The frightened man at first stands like a statue motionless, breathless and crouches dowu as if instinctively to escape observation (तन-गोपन) for the skin instantly becomes pale as during implicit faintness (मूर्छा और वैवर्ण्य), That the skin is much affected under the sense of great fear, we see in the marvellous and in explicable manner in which perspiration exudes from it (स्वेद)

One of the best symptoms is the trembling (कम्प) of all the muscles. From this cause the dryness of the mouth (मुखशोषन, गीता में भी इस अनुभाव का उल्लेख है 'मुखं च परिशुष्यति') The Voice becomes husky or indistinct or may altogether ail (गद्गद् स्वर) The uncovered and protiudiug eye balls are fixed on the object of terror as they roll from side to side.

भरत मुनि ने जो भय की दृष्टि बतलायी है उसमें यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है—

विस्फारितोभयपुटा भयकम्पिततारका:।
निष्क्रान्तमध्यादृष्टिस्तु भयभावे भयान्विता:॥

भयभीत मनुष्य की आँखें खूब खुली रहती हैं। उसकी पुतलियाँ इधर-उधर घूमती है और दृष्टि मध्य मे नहीं रहती, यानी वह सामने नहीं देखता। भयभीत मनुष्य की गति बतलाते हुए भी भरत मुनि ने यही बात कही है—

विस्फारिते चले नेत्रे विधुतं च शिरस्तथा।
भयसंयुक्तया दृष्ट्या पार्श्वयोश्च विलोकनैः॥

साधारण अनुभावों के साथ सात्विक भाव भी माने गये हैं, जो हैं तो अनुभाव ही किन्तु साधारण से भिन्न हैं। पाश्चात्य आचार्यों ने अनुभावों के दो प्रकार माने हैं। एक तो वे जो बिलकुल बाह्य और प्रत्यक्ष क्रियाओं से सम्बन्ध रखते हैं, जैसे भागना-दौड़ना, लोटना आदि इनका अभिनय सहज में हो जाता है; दूसरे वे हैं जो शरीर के भीतर के अवयवों से सम्बन्ध रखते हैं—जैसे रुधिर की शिराओं के संकुचित हो जाने से मुंह पीला पड़ जाना, मुख का सूख जाना। ये अपने आप हो जाते हैं, इन पर हमारा अधिक वश नहीं होता—जैसे स्वेद। ऐसे ही अनुभावों को अलग करके उनको सात्विक भाव का नाम दिया है। इनका सम्बन्ध प्रायः Vaso motor या sympathetic nerves स्वतः चालित संस्थानों (automatic systems) से है। वैवर्ण्य उत्पन्न करने के लिए भरतमुनि नाड़ियों का पीड़न या दबाना बतलाया है। 'मुखवर्णपरावृत्या नाड़ीपीड़नयोगतः'। आजकल के लोग भी नाड़ियों का सकोच ही को इसका कारण मानते हैं:—

"This paleness of the surface however, is probably in large part or exclusively due to the Vaso motor centre being affected in such a manner as to cause the contraction of the small arteries of the skin."

सात्विक भाव के सम्बन्ध में आचार्यों का मतभेद है। साहित्य-दर्पणकार ने इनका सम्बन्ध सत्व नाम के आत्मा में विश्राम को प्राप्त होने वाले रस के प्रकाशक आन्तरिक धर्म से माना है। (सत्त्वं नाम स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी कश्चनान्तरो धर्मः), दश-रूपक का भी ऐसा ही मत है। सत्त्व का अर्थ प्राण का भी है। सात्विक का अर्थ प्राण जीवन क्रिया से सम्बन्ध रखने वाले भावों का लगाया जाय तो उनका अलग उल्लेख होना सार्थक हो जाता है। रस-तरंगिणी का यही मत मालूम होता है। "सत्त्वं जीव शरीरं तस्य धर्माः सात्विकाः।"

५-भिन्न-भिन्न मानसिक दशाओं में मनोवेग के रूप—इस सम्बन्ध में हमारे यहाँ अधिक नहीं लिखा गया है। बालकों में क्रोध या भय जो रूप धारण करता है वह प्रौढ़ में नहीं। इस विषय में रस-सिद्धान्त को विशेष गति देने की आवश्यकता है। हमारे यहाँ रसों का विभाजन प्रकृतियों के अनुकूल अवश्य है किन्तु एक ही रस का भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में विविध रूप नहीं बतलाया गया है। मनोवेगों का सापेक्षत्व मानना पड़ेगा, इसके व्यावहारिक उदाहरण हमको साहित्य में मिलते हैं। भर्तृहरि ने शृङ्गार-शतक में जिन बातों की प्रशंसा की है वैराग्य में उनकी बुराई की है। जो बात साधारण मनुष्य के लिए भयानक है वीर के लिए नहीं। भयानक की स्वल्प मात्रा में हमको साहस का आनन्द मिलता है।

हमारे यहाँ रसों के औचित्य-अनौचित्य का प्रश्न उठाकर भी बहुत महत्व का कार्य किया गया है। बड़ों की हँसी करना और कमजोर पर वीरता दिखाना रसाभास माना गया है। मनोवेगों के विवेचन में यह बड़ी देन है।

रस और सहज प्रवृत्तियाँ—मेकडूगैल ने मनोवेगों का मूल सहज प्रवृत्तियों (Instincts) में माना है। मनोवेग स्वाभाविक प्रवृत्तियों के भावात्मक पक्ष हैं। इन प्रवृत्तियों की संख्या में मतभेद है। हमारे यहाँ के नौ या दश रसों के स्थायी भावों का सम्बन्ध भी इन सहज प्रवृत्तियों से दिखाया जा सकता है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि इन स्थायी भावों की संख्या किसी विशेष सूची के अनुकूल है। फिर भी सभी स्थायी भाव किसी न किसी सहज प्रवृत्ति से सम्बन्धित हैं।

हमारे यहाँ जो संचारी भाव माने गये हैं उनमें से कुछ तो इन स्वाभाविक प्रवृत्तियो से सम्बन्धित हैं किन्तु अधिकाँश उनसे बाहर हैं। यही अन्तर स्थायी भाव और संचारी भावों में है। सञ्चारी भावों का सम्बन्ध इन नैसर्गिक प्रवृत्तियों या प्रारम्भिक आवश्यकताओं से सीधा नहीं है। स्थायी भावों का सम्बन्ध सीधा आत्मरक्षा से है।

नीचे की सूची में रसों के स्थायी भावों का सम्बन्ध सहज प्रवृत्तियों से दिखाया जाता है।

१—शृङ्गार का सम्बन्ध प्रजनन (Pairing) और सामाजिक

या एक साथ रहने की प्रवृत्ति (Social and gregarious instincts) से है।

२—हास्य का सम्बन्ध हास्य (Laughter) से है।

३—करुण के स्थायी शोक का सम्बन्ध आर्त्तप्रार्थना (Appeal) और अधीनता (Submission) से है।

४—रौद्र का सम्बन्ध लड़ाई की प्रवृत्ति (Instinct of Combat) से है।

५—वीर का सम्बन्ध अस्तित्व-स्थापन (assertive) और प्राप्तीच्छा (Acquisition) से है।

६—भयानक का सम्बन्ध भागने की प्रवृत्ति (Instinct of escape) से है।

७—अद्भुत का सम्बन्ध औत्सुक्य (Curiosity) से है।

८—वीभत्स का सम्बन्ध विकर्षण (Repulsion) से है।

९—वात्सल्य का सन्बन्ध सन्तान-स्नेह (Parental-Instinct) से है।

नोट—शान्त रस में कोई प्रवृत्ति नहीं होती, यदि हो सकती है तो अधीनता (Submission) की प्रवृत्ति। शायद इसीलिए शान्त को नाट्य रसों में नहीं माना है और वात्सल्य को स्वतन्त्र रस माना है।

सञ्चारी भाव—हमने सञ्चारी भावों के विषय में बहुत कम कहा है, किन्तु इनका विशेष महत्व है। इनको व्यभिचारी भाव भी कहते हैं। इनकी परिभाषा साहित्यदर्पण में इस प्रकार दी है —

> विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः।
> स्थायिन्युन्मग्ननिमग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्विदाः॥

विशेष रूप से अर्थात् मुख्यता के साथ, चलने के कारण व्यभिचारी कहलाते हैं। ये स्थायी भाव में आविर्भूत और तिरोभूत होते रहते हैं। स्थायीभाव स्थिर रहता है और ये आते और जाते रहते हैं व्यभिचारी मनुष्य भी व्यभिचारी इसीलिए कहलाता है कि वह विशेष रूप से आता-जाता रहता है या विविध स्थानों में आता-जाता

है। व्यभिचारी भाव भी विविध रसों में आते जाते हैं। आचार्य केशवदासजी ने राम-राज्य मे इन्हीं व्यभिचारियों का अस्तित्व माना है। वहाँ मनुष्य कोई व्यभिचारी नहीं था, भाव ही व्यभिचारी थे--'भावै जहाँ व्यभिचारी।'

स्थायी भाव—स्थायी भाव दबता नहीं है। सञ्चारी डूबते उछलते रहते हैं, देखिए साहित्य दर्पणकार क्या कहते है.—

अविरूद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसो भावः स्थायीति समतः॥

अविरुद्ध या विरुद्ध भाव जिसको दबाने मे असमर्थ रहते हैं आस्वाद अर्थात् रस रूपी अंकुर का जो कन्द (जड़) है वह स्थायी भाव कहलाता है। हमारे यहाँ के आचार्यों ने मनोवेगों को टकसाली रुपयों की भाँति विलकुल अलग-अलग नहीं माना है। हर एक स्थायी भाव एक समुद्र के समान है जिसमे सञ्चारी भावों की लहरें-सी उठती रहती हैं। 'कल्लोला इव वरिधौ'। मनोवेग (Emotion) गतिमान संस्थान है। सञ्चारी भाव उसकी गति के पद हैं किन्तु इनके बदलते हुए भी मनोवेग का एक व्यक्तित्व रहता है, वही स्थायी भाव का स्थायित्व है। सञ्चारी भावों के कारण ही कभी-कभी रस की पहचान की जा सकती है, जैसे वीर और रौद्र में आलम्बन और उद्दीपन प्रायः एक होते हैं किन्तु उनके सञ्चारी अलग होते हैं। वीर में धृति (धैर्य) और हर्ष होते हैं; रौद्र में मद, उग्रता, चपलता आदि सञ्चारी रहते हैं।

स्थायी भाव कब सञ्चारी होता है—हमारे यहाँ के आचार्यों की यह विशेषता रही है कि न तो उन्होने बाहरी कारणों में विच्छेद-बुद्धि से काम लिया न मानसिक दशाओं में। बाहरी कारण भी उद्दीपनो से मिलकर एक संश्लिष्ट संस्थान का रूप धारण कर लेते है और स्थायी भाव और सञ्चारी भाव भी मिलकर एक संस्थान बनते हैं। मनोवेग चाहे जितना मुख्य क्या न हो अमिश्रित होना उसकी हीनता का चिह्न है। परिवर्तन जीवन का लक्षण है। केवल स्थायी भाव ही रहे तो जी ऊब उठे। सौन्दर्य के लिए भी तो नवीनता की आवश्यकत रहती है, सञ्चारी भाव स्थायी भाव को यही सजीवता देते रहते हैं। शृङ्गार रस के रसराजत्व का एक यह भी कारण है कि उसमे अधिक-से-अधिक सञ्चारी भाव आ जाते है। रसों में सञ्चारी-ही सञ्चारी नहीं

होते वरन् दूसरे रस के स्थायी भी गौण होकर सञ्चारी बन जाते है:—

जैसे शृङ्गार और वीर में हास, वीर मे क्रोध और शान्त में वीभत्स (इसी प्रकार अन्य रसों का भी हो सकता है)।

रसों को मैत्री और शत्रुता—भारतीय आचार्यों ने रसों की शत्रुता और मैत्री पर ध्यान दिलाकर हमको यह बतलाया है कि कौन रस किस से मेल खा सकते हैं। हास्य के साथ करुण का योग नहीं हो सकता, न शृङ्गार के साथ वीभत्स का। कुछ रस ऐसे हैं जिनका एक आलम्बन में योग नहीं हो सकता, कुछ का एक आश्रय मे। शृङ्गार और वीर का एक आलम्बन मे योग नहीं हो सकता। जिसके प्रति प्रेम दिखाया जाय उसके प्रति वीरता के भाव नहीं दिखाये जा सकते, जैसा रावण ने किया था। एक ही आश्रय (भावों के अनुभव-कर्त्ता) मे वीर और भयानक का योग नहीं हो सकता।

रस-शास्त्र के आचार्यों ने यह भी विवेचन किया है कि दो साथ-साथ न आने वाले रसों को किस प्रकार साथ लाया जा सकता है। इस बात का व्यावहारिक उदाहरण हमको शकुन्तला में मिलता है। महाराज दुष्यन्त शकुन्तला के वियोग मे दुःखित बैठे थे। इन्द्र की ओर से मातलि उन को सहायता माँगने के लिए आता है। वह दुष्यन्त के सखा और विदूषक माधव्य को पीटता है। यद्यपि दुष्यन्त अन्यमनस्क थे फिर भी सखा के आर्तनाद से उन का क्रोध जाग उठा और वे इन्द्रलोक जाने को तैयार हो गये।

पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुकूल रस-सिद्धान्त की पूरी-पूरी व्याख्या नहीं हो सकती है। रस-सिद्धान्त हमारे देश की उपज है और वह हमारे यहाँ के दार्शनिक विचारों से प्रभावित है। रस उस आत्म-तत्व पर अवलम्बित है जिसका सहज गुण आनन्द है। यह चिन्मय, अखण्ड और स्वप्रकाशमय और वेद्यान्तरशून्य है अर्थात् उस समय दूसरी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता है। यह अवस्था केवल मन को मानने वालों की कल्पना में नहीं आ सकती। आजकल का मनोविज्ञान (Psyonology), अर्थात् साइक (Psyche) यानी आत्मा का विज्ञान कहलाता है किन्तु उसमे आत्मा के उसी प्रकार दर्शन नहीं होते जिस प्रकार कि दूकान के मालिक की मृत्यु के पश्चात् उसके नाम पर चलती हुई और विज्ञापित दुकान मे उसका पता नहीं चलता।

रस-निष्पत्तिः

भरत मुनि—नाट्य-शास्त्र के रचयिता ख्यातनामा भरत मुनि रस-सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक माने गये हैं। उनका ग्रन्थ अपने क्षेत्र मे अद्वितीय है किन्तु उन्होंने रस के सम्बन्ध में जो बतलाया है वह ऐसा गोल-मटोल है कि उसके वास्तविक आकार के सम्बन्ध में मनचाही कल्पना की जा सकती है। भरत मुनि का मूल सूत्र इस प्रकार है:—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति.'

अर्थात् विभाव (नायक नायिका आदि आलम्बन और वीणा वाद्य, चन्द्र-ज्योत्स्ना, मलय-समीर आदि उद्दीपन) अनुभाव (अश्रु, स्वेद, कम्पादि भाव-सूचक शारीरिक विकार और चेष्टाएँ) व्यभिचारी भाव (हर्ष, मद, उत्कण्ठा, असूया आदि रति शोक, उत्साह आदि स्थायी भावो के सहचारी भाव) के संयोग से रस की प्राप्ति होती है। इसमें संयोग और निष्पत्ति शब्द-विवाद के विशेष विषय रहे हैं। यह सूत्र आचार्यों के मस्तिष्क के लिए व्यायाम-शाला बन गया है। इसकी व्याख्या करने वालों में चार आचार्य मुख्य हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) भट्ट लोल्लट, (२) श्रीशङ्कुक, (३) भट्टनायक, (४) अभिनवगुप्ताचार्य। इनके मतों का पृथक्-पृथक् संक्षेप मे विवेचन किया जायगा।

भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद—इस सूत्र के प्रथम व्याख्याता हैं भट्ट लोल्लट। ये मीमांसा-सिद्धान्त के मानने वाले थे। उनका मत है कि रसादि स्थायी भाव नायिकादि विभावो द्वारा उत्पन्न होकर तथा उद्यान चन्द्र-ज्योत्स्नादि उद्दीपनो द्वारा उद्दीप्त होकर (जैसे जलाई हुई आग घी से और तेज हो जाती है) एवं कटाक्ष, भुजक्षेप, अश्रु, रोमाञ्चादि अनुभावो अर्थात् बाह्य व्यञ्जको द्वारा प्रतीतियोग्य अर्थात् जानने योग्य बनकर (व्यक्त होकर) और उत्कण्ठादि व्यभिचारियो द्वारा पुष्ट होकर दुष्यन्त रामादि अनुकार्यों मे (उन मूल पात्रो में जिनका कि नट अनुकरण करते है) रस रूप से रहता है। रूप की समानता के कारण नट में वह रस आरोपित होकर सामाजिको

(दर्शकों को) को उनके (नटों के) अभिनय-कौशल द्वारा चमत्कृत कर देता है, अर्थात् उनको प्रसन्न कर देता है:—

'ललनादिभिरालम्बनविभावैः, स्थायी रत्यादिको जनितः उद्यानादिभिरुद्दीपनविभावैरुद्दीपितः, अनुभावैः कटाक्षभुजक्षेपणादिभिः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिरुत्कण्ठादिभिः परिपोषितो रामादावनुकार्ये रसः। नटे तु तुल्यरूपतानुसंधानवशादारोप्यमाणः सामाजिकाना चमत्कारहेतुः—काव्यप्रदीप।

यह मत काव्यप्रकाश के वर्णन से मिलता-जुलता है किन्तु काव्यप्रकाश में भट्टलोल्लट की व्याख्या में अनुकार्य के नीचे अनुकर्त्ता नट तक का उल्लेख है—"मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः"। इसलिए काव्यप्रकाश के टीकाकार लिख दिया करते हैं 'सामाजिकैरिति शेषः'। सामाजिक का स्पष्ट उल्लेख काव्यप्रकाश में नहीं है किन्तु व्यञ्जित अवश्य है। व्यङ्ग्यार्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए ही काव्यप्रकाश का उद्धरण न देकर काव्यप्रदीप का उद्धरण दिया गया है। जो लोग भट्ट लोल्लट के मत को नट से आगे नहीं ले जाते वे गलत नहीं हैं। वे काव्यप्रकाश के शब्द के आगे नहीं जाना चाहते।

अभिनवभारती के और काव्यप्रकाश के निरूपण में एक यह विशेष अन्तर है कि उसके अनुकूल भट्ट लोल्लट अनुभावों को रस की उत्पत्ति का श्रेय देते हैं। अनुभाव का अर्थ है विभावों से उत्पन्न, अभिनव के मत से वह सञ्चारी का विशेष-स्वरूप है।

सारांश—इस मत में निम्नोल्लिखित बातों की विशेषता है:—

(१) स्थायी भाव का सूत्र में उल्लेख नहीं है किन्तु इस मत में उसका रस के मूल रूप से पृथक् उल्लेख हुआ है। स्थायी भाव के साथ संयोग माना गया है।

(२) यह स्थायी भाव आलम्बन, विभावों से उत्पन्न होता है (इसी से इसको उत्पत्तिवाद कहते हैं) एवं व्यभिचारी भावों से पुष्ट होकर अनुभावों द्वारा व्यक्त होकर अनुकार्य में रस रूप से रहता है। निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति है।

(३) नट में यह रहता नहीं है वरन् रूप की समानता के कारण उसमें इसका आरोप होता है, इसीलिए इसको आरोपवाद भी

कहते हैं। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने ऐसा ही कहा है।

(४) अभिनय की कुशलता से आरोपित स्थायी भाव सामाजिकों में चमत्कार का कारण बन जाता है।

भट्ट लोल्लट के अनुसार रस की मूल रूप से रामादि अनुकार्यों में उत्पाद्योत्पादक वा कार्यकारण भाव से उत्पत्ति होती है। नट की अनुकृति की सफलता से उत्पन्न सामाजिक के मन में चमत्कार जन्य आनन्द रस बन जाता है।

लोल्लट के मत की समीक्षा—भट्टलोल्लट की व्याख्या में एक दोष तो यह निकाला गया है कि स्थायी भाव का उल्लेख भरत के सूत्र में नहीं है। उन्होंने स्थायी भाव को रस से पृथक नहीं माना है, इसीलिए उन्होंने अपने सूत्र में उसका उल्लेख नहीं किया है। यह ऐसी वस्तु भी नहीं है जो पहले अपुष्ट रूप से रहती हो और पीछे से पुष्ट होकर रस का रूप धारण करे। विभावादि के बिना मूल आश्रय में स्थायी भाव हो ही नहीं सकता, फिर उनसे उसकी पुष्टि कैसी?

इस सम्बन्ध में दूसरी आपत्ति यह उठाई गई है कि स्थायी भाव कार्य नहीं। यदि यह कार्य माना जाय तो विभावादि को निमित्त कारण माना जायगा। निमित्त कारण (जैसे कुम्हार) के नष्ट होने पर कार्य बना रहता है किन्तु विभावादि के नष्ट होने पर रस भी नहीं रहता है। विभावादि कारक वा जनक कारण नहीं हो सकते और न वे ज्ञापक कारण ही हो सकते हैं। ज्ञापक कारण (जैसे अँधेरे में रक्खे हुए घट का दीपक) तो तभी हो सकता है जबकि ज्ञाप्य पहले वर्तमान हो। भट्टलोल्लट तो उत्पत्ति मानते हैं। यदि मान भी लिया जाय कि रस उत्पन्न होता है तो भी यह प्रश्न रहता है कि वह दर्शक में किस प्रकार संक्रमित होता है। वास्तव में बात यह है कि जहाँ रति होगी वहाँ रस होगा, रति यदि दुष्यन्त आदि में है तो सामाजिक में रस कहाँ से आ सकता है? यदि यह कहा जाय कि अनुकरण की सफलता से आता है तो अनुकार्य को देखे बिना अनुकरण को सफल या विफल किस प्रकार कहा जा सकता है? अनुकार्य हमारी पहुँच से परे है। अनुकर्त्ता में उसका आरोप होता है। आरोपित रस दर्शकों मे भी जिस चमत्कार को उत्पन्न करेगा उसमें आधार के मिथ्यात्व की कसक

रहेगी। साहित्य दर्पणकार ने अनुकार्य में रस मानने में दोष बतलाते हुए कहा है कि अनुकार्य का रस उसी में सीमित रहेगा और वह लौकिक होगा। उसके द्वारा दुःख से सुख की व्याख्या नहीं हो सकती रोहिताश्व के मरने पर शैव्या को वास्तविक ही शोक हुआ होगा। उस स्थिति में आनन्द कहाँ ?

श्रीशङ्कुक का अनुमितिवाद—इन आपत्तियों से बचने के लिए श्रीशङ्कुक ने अपना अनुमितिवाद निकाला। वे नैयायिक थे। उन्होंने रस की निष्पत्ति गम्य गमक भाव से मानी है। नट जब नाटकादि में रामादि अनुकार्यों के भावों का ज्ञान प्राप्त कर अपनी शिक्षा और अभिनय के अभ्यास द्वारा रङ्गमञ्च पर कारण (विभाव) कार्य (अनुभाव) सहचारी (सञ्चारी भाव) को अपनी कला में प्रदर्शित करता है तब वे (विभाव, अनुभाव) कृत्रिम होते हुए भी ऐसे नहीं माने जाते और इन नामों से पुकारे भी जाते हैं, अर्थात् नट को रामादि विभाव कहते हैं और उसके भुजक्षेप, अश्रु आदि अनुभावों को राम के ही अनुभाव कहते हैं। (कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः) उन्हीं विभावादि के संयोग से, अर्थात् गम्य-गमक भाव से अथवा अनुमेयानुमापक भाव से (विभावादि गमक या अनुमान कराने वाले हैं और रत्यादि स्थायी भाव गम्य है अर्थात् उनका अनुमान किया जाता है) स्थायी भाव का अनुमान किया जाता है (अर्थात् नट के अभिनय को देखकर दर्शक अनुमान करते हैं कि उसमें रति या क्रोध वा उत्साह है) यद्यपि रत्यादि भाव अनुमित मात्र हैं और वास्तव में वे नट में होते भी नहीं हैं तथापि वे सामाजिकों की वासना (पूर्वानुभवजन्य संस्कारों) द्वारा चर्व्यमाण होकर सामाजिकों में रस का रूप धारण कर लेते हैं।

सामाजिकों के अनुमान का आधार मिथ्या होता है, किन्तु वह नितान्त निरर्थक नहीं होता है। उसमें अर्थक्रियाकारित्व (व्यावहारिक उपयोगिता) रहता है। रज्जु के सर्प को देखकर भी भय उत्पन्न हो जाता है और कभी-कभी भयवश मृत्यु भी हो जाती है। कुज्झटिका अर्थात् कुहरे को धुआँ समझकर आग का अनुमान कर लिया जाता है (चाहे पीछे से अनुमाता को अपनी भूल पर लज्जित होना

पड़े)। सामाजिक लोग चित्रतुरङ्गन्याय (तसवीर के घोड़े की भाँति जो कागज होते हुए भी घोड़ा कहा जाता है और घोड़ा न होते हुए भी उसके घोड़ेपन से इन्कार नहीं किया जा सकता है) नट को राम, दुष्यन्त आदि मानने लगते हैं। उनकी यह प्रतीति विलक्षण होती है; न तो यह राम को राम कहने का सा सम्यक् ज्ञान है, न यह राम को राम न समझकर कृष्ण समझने का सा मिथ्या ज्ञान है; न 'यह राम है, अथवा राम नहीं' का सा संशय ज्ञान है और न 'यह राम का सा है,' ऐसा सादृश्य ज्ञान है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि जब चित्रतुरङ्गन्याय का ज्ञान चारों प्रकार के किसी ज्ञान में नहीं आता तो उसकी सम्भावना ही क्या ? तो उसका उत्तर यह दिया जायगा कि जो चीज होती है वह यदि किसी शास्त्र की व्याख्या में न आय तो शास्त्र की ही कमी है। 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्'। यद्यपि साधारणतया अनुमान मात्र से सुख-दुख की प्रतीति नहीं होती (अग्नि के अनुमान से चाहे आशा बँध जाय किन्तु ठंड दूर नहीं होती) तथापि नाटक में नट की कला के सौन्दर्य के कारण (सौन्दर्यबलात्) और सामाजिकों के पूर्वानुभवजन्य संस्कारों के कारण (सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रसः) वह अनुमान भी रस की कोटि को पहुँच जाता है। अभिनवगुप्त द्वारा अभिनवभारती मे अनुमान की अपेक्षा अनुकरण पर अधिक बल दिया गया है। उन्होंने सामाजिको के चर्वण को भी मानसिक अनुकरण का ही रूप माना है।

मत का सारांश—काव्यप्रकाश के अनुकूल श्रीशंकुक के मत का सारांश इस प्रकार है:—

१—वास्तविक रूप से अनुकार्यों—(दुष्यन्त, शकुन्तला, रामादि) को ही विभाव कह सकते हैं, उनके ही अनुभावो और सञ्चारियों को अनुभाव और सञ्चारी कहेंगे।

२—नट इनका अनुकरण करता है। सामाजिक लोग चित्र-तुरङ्गन्याय से नट को ही अनुकार्य समझकर उसके अनुभावादि (क्रोध में दाँत पीसकर मुट्ठी दिखाना, शोकावेग मे बाल नोचना, छाती ठोकना, जमीन पर गिर पड़ना आदि) द्वारा उसमे स्थायी भाव का अनुमान कर लेते हैं।

३—यद्यपि अनुमान का आधार कृत्रिम होता है तथापि नट की कला के कौशल से पूर्वानुभव के संस्कारों से युक्त सामाजिकों के मन में वह स्थायी भाव का अनुमान ही रस बन जाता है।

इस मत के, अनुसार नट का चित्रतुरङ्गन्याय दुष्यन्त से तादात्म्य कर उनके अनुभावादि द्वारा गम्य गमक वा अनुमाप्य-अनुमापक भाव से सामाजिकों द्वारा रस की अनुमिति होती है।

श्रीशंकुक-मत-समीक्षा—श्रीशङ्कुक ने दो बातों पर जोर दिया है, एक अनुकरण दूसरा अनुमान। विवेचन करने पर श्रीशङ्कुक की दोनों ही आधार-शिलाएँ बालुका-निर्मित प्रतीत हो लगती हैं। पहली बात तो यह है कि न स्थायी भाव का और न सहचारियों का ही अनुकरण हो सकता है, यदि अनुकरण हो सकता है तो वेश-भूषा और अनुभावों का। अनुकार्य के अभाव में यह वेश-भूषा और अनुभावों का अनुकरण किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं होता है और यदि होता है तो किसी दूसरे समान व्यक्ति का। समुद्रोल्लङ्घन आदि के उत्साह का मानसिक प्रत्यक्ष तो साधारण मनुष्य को हो भी नहीं सकता। वास्तव मे नट अपनी वेष-भूषा में उस स्थिति के नायक का साधारण रूप धारण करता है। (शायद इसी तरह की विचारधारा भट्टनायक को साधारणीकरण की ओर ले गई हो) अनुकरण का कौशल भी दर्शक अपने अनुभव से ही जाँच सकता है।

अनुमान के सम्बन्ध में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि मिथ्या के आधार पर सत्य की प्रतीति नहीं हो सकती। सत्य का तो एक ही रूप होता है, असत्य के अनेक रूप हो सकते हैं। मिथ्या या भ्रम के आधार का अनुभव अनुभव नहीं कहा जा सकता। चित्रतुरङ्ग-न्याय से चित्र के घोड़े को घोड़ा अवश्य कहेंगे किन्तु जब तक हम फिर तीन बरस के बालक न बन जॉय, 'चल रे घोड़े सरपट चाल' कहकर उस पर चढ़ने का साहस न करेंगे। मृग-तृष्णा के जल से कोई स्नान नहीं कर सकता है।

दूसरी कठिनाई यह है कि अनुमान बुद्धि का विषय है और व्यवहित (Indirect) होता है। हम धुआँ ही देखते हैं, अग्नि नहीं देखते हैं और यह धुआँ भी मिथ्या हो तब तो वास्तविकता से दो

श्रेणी पीछे हट जाते हैं। रस या भाव सीधे प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर व्यञ्जना द्वारा भावना के विषय बनते हैं। सामाजिकों की वासना तो अनुभव को रङ्ग देगी किन्तु अनुमान अनुमान ही रहेगा।

इन बातों के अतिरिक्त दो बातों की कठिनाई और है। इस मत से न तो इस बात की व्याख्या होती है कि दूसरों की रति सामाजिकों की रति किस प्रकार हो सकती है? सीता आदि पूज्य पात्रों के प्रति सामाजिकों की रति हो ही नहीं सकती, और न इस बात की व्याख्या होती है कि दुःखात्मक अनुभवों से (जैसे भय और क्रोध में) भयानक और रौद्ररस की प्रतीति किस प्रकार हो सकती है, विशेष कर जब रस आनन्द रूप माना गया है।

भट्ट नायक का भुक्तिवाद—भट्टनायक का कथन है कि रस की न तो प्रतीति (अनुमिति) होती है (जैसा श्रीशङ्कुक ने माना है) न उत्पत्ति होती है (जैसा भट्टलोल्लट ने कहा है) और न अभिव्यक्ति (जैसा कि अभिनवगुप्त ने उसके पीछे माना है) होती है। अनुभव और स्मृति के बिना रस-प्रतीति नहीं हो सकती।

दर्शक या पाठक एक उभयतोपाश में पड़ जाता है। यदि वह अनुकार्यों से तादात्म्य करता है तो उसे शायद औचित्य की सीमा का उल्लङ्घन कर लज्जा का सामना करना पड़े और यदि अपने को भिन्न समझता है तो यह प्रश्न होता है कि दूसरों की रति से उसे क्या प्रयोजन? 'द्वाभ्यां तृतीयो' बनने का अस्पृहणीय मूर्ख पद वह क्यों ग्रहण करे?

भट्टनायक ने काव्यादि द्वारा रस-निष्पत्ति में तीन व्यापार माने हैं। पहला अभिधा जिसके द्वारा शब्दार्थ का ज्ञान होता है, दूसरा भावकत्व व्यापार जिसके द्वारा विभावादि तथा रत्यादि स्थायीभाव साधारणीकृत होकर मेरे वा पराये, शत्रु के वा मित्र के ऐसे बन्धनों से मुक्त होकर उपभोग योग्य बन जाते हैं। सीता जनकतनया या राम-कान्ता न रह कर रमणी मात्र बन जाती है। भट्टनायक के अनुकूल साधारणीकृत स्थायीभाव का उपभोग होता है। भोग के व्यापार को भट्टनायक ने भोजकत्व कहा है। काव्य में तीनों व्यापार होते हैं किन्तु नाटक में पिछले दो व्यापार ही रहते हैं। भोजकत्व में (रजो-

गुण और तमोगुण का नाश होकर जो दुःख और मोह के कारण होते हैं शुद्ध सतोगुण का उद्रेक होने लगता है और चित्त-वृत्तियों के शांत हो जाने से वही आनन्द का कारण होता है। यह मत सांख्य मत के अनुकूल है। भट्टनायक ने संयोग का अर्थ भोज्य-भोजक भाव लिया है और निष्पत्ति का अर्थ भुक्ति माना है।

तस्माद्विभावादिभिः संयोगाद्भोज्यभोजकभावसम्बन्धाद्रसस्यनिष्पत्तिःभुक्तिरितिसूत्रार्थः।—काव्यप्रदीप।

भट्टनायक के मत के व्याख्याताओं में से किसी-किसी ने संयोग का अर्थ साधारणीकृत विभावादि के साथ सम्यक योग लिया है।

मत का सार—भट्टनायक की विशेषता यही है कि उन्होंने दुःख से सुख क्यों और सामाजिक के नायिकादि विभावों में आनन्द लेने की समस्या को हल करने के लिए अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व तीन व्यापार माने हैं। भावकत्व द्वारा अपने और पराये के भेद को दूर करके उसके भोग की समस्या को हल किया है।

इस मत के अनुसार काव्य नाटक के विभावादि अभिधा द्वारा बोधगम्य होते हैं। उसके पश्चात् विभावादि भावकत्व द्वारा मेरे-पराये के बन्धनों से मुक्त होकर अर्थात् साधारणीकृत होकर सहृदय के उपभोग योग्य बनते हैं। रस विभावादि की भोज्य-भोजक भाव से भुक्ति है।

समीक्षा—भट्टनायक के सम्बन्ध में अभिनव ने इतना ही कहा है कि उन्होंने काव्य में ऐसे दो नये व्यापारों को स्थान दिया है जिनका कि शास्त्र में कोई प्रमाण नहीं है। भावना वा साधारणीकरण को मानते हुए भी अभिनव ने कहा है कि उसका काम व्यञ्जना या चर्वणा से पूरा हो जाता है और भोजकत्व स्वयं रस-निष्पत्ति ही है। एक तरह से दोनों को ही ध्वनन का व्यापार अर्थात् व्यञ्जना के अन्तर्गत माना है—

त्र्यंशायामपि भावनायां कारणांशे ध्वननमेव निपतति।
भोगोऽपि""""लोकोत्तरो ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः॥

—ध्वन्यालोक की टीका

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद—अभिनवगुप्त के अनुकूल रति आदि स्थायी भाव सहृदय सामाजिकों के अन्तःकरण में वासना या संस्कार रूप से अव्यक्त दशा में वर्तमान रहते हैं। काव्य में वर्णित विभावादि के पठन-श्रवण से अथवा नाटकादि के दर्शन से वे संस्काररूप स्थायी भाव उद्बुद्ध अवस्था को प्राप्त होकर वा अभिव्यक्त होकर विघ्नों के (जैसे वर्ण्य वस्तु की असम्भावना, वैयक्तिक भावों का प्राधान्य आदि) अभाव में सहृदयों के आनन्द का कारण होता है। सतोगुण के प्रभाव को अभिनवगुप्त ने भी माना है। इस प्रकार अभिनवगुप्त भी भट्टनायक की भाँति इस अंश में सांख्यवादी हैं क्योंकि वेदान्त भी जो अभिनवगुप्त का दार्शनिकवाद है किसी अंश तक सांख्य की मान्यताओं को स्वीकार करता है। अभिनवगुप्त ने वासना को विशेष महत्व दिया है। वासना के अस्तित्व से काव्य-नाटक के आनन्दास्वादन की ग्राहकता आती है। वासनाशून्य मनुष्यों को तो साहित्य दर्पणकार ने लकड़ी के कुन्दों वा पत्थरों के समान संवेदनाशून्य कहा है। सामाजिक को ही रसास्वाद होता है, देखिए:—

सवासनानां सभ्यानां रसास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः ॥

अभिनव के मत का सार:—

१—अभिनवगुप्त रस की निष्पत्ति सामाजिक में मानते हैं।

२—सामाजिकों में स्थायीभाव वासना वा संस्कार रूप से स्थित रहते हैं।

३—वे साधारणीकृत विभावादि द्वारा उद्बुद्ध हो जाते हैं। वे विभावादि के संयोग के कारण अव्यक्त रूप से अभिव्यक्त हो जाते हैं, करीब-करीब उसी तरह जिस तरह कि जल के छींटे पड़ने से मिट्टी की अव्यक्त गंध व्यक्त हो जाती है।

४—काव्यादि का पाठ या नाटकों का अभिनय सहृदयों के स्थायी भावों की जाग्रति का साधन होता है। पाठकों और दर्शकों को अपने ही उद्बुद्ध स्थायी भावों का शुद्ध रूप में तन्मयता के

कारण चित्त की वृत्तियों के एकाग्र हो जाने से ब्रह्मानन्द-सहोदर अखण्ड रस का आनन्द मिलने लग जाता है।

५—अभिनवगुप्त के मत से संयोग का अर्थ व्यङ्ग्य-व्यञ्जक है और निष्पत्ति का अर्थ है अभिव्यक्ति। इस मत के अनुसार सामाजिकों के हृदय में वासना रूप में स्थित स्थायी भाव विभावादि द्वारा व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव से अभिव्यक्त हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार मिट्टी की अव्यक्त गन्ध जल के छींटे पड़ने से व्यक्त हो उठती है।

धनञ्जय का मत—अभिनवगुप्त के मत को उनके अनुवर्ती आचार्यों में से अधिकांश ने माना है। धनञ्जय का मत एक प्रकार से उनके ही मत का स्पष्टीकरण है—

विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः॥

अर्थात् स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारी भावों द्वारा आस्वाद्य होकर रस बन जाता है।

आगे चलकर यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि रस सामाजिक को ही प्राप्त होता है क्योंकि वह वर्तमान है। न वह अनुकार्यों मे रहता है क्योंकि वह वर्तमान नहीं रहते हैं अर्थात् मर-मुलतान चले जाते हैं और न वह कृति (काव्यादि) मे रहता है क्योंकि उसका वह उद्देश्य नहीं है। उसका उद्देश्य तो विभावादि को सामने लाना है जिनके द्वारा स्थायी भाव प्रकाश में आता है। न रस द्रष्टा द्वारा अनुकर्ताओं के अनुभव की प्रतीति है क्योंकि जैसा कि लौकिक व्यवहार मे होता है कि दूसरो की रति देखने से लज्जा, ईर्ष्या आदि भिन्न-भिन्न भावों की उत्पत्ति होगी। वास्तव में दर्शक की अवस्था उस बालक की सी होती है जो मिट्टी के हाथी से खेलता हुआ अपने ही उत्साह का आनन्द लेता है। उसी प्रकार अर्जुन आदि का वर्णन पढ़कर या अभिनय देखकर पाठक वा दर्शक अपने ही हृदयस्थ स्थायी भावो का आनन्दस्वादन करते हैं, देखिए:—

क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः ।
स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः ॥
—दशरूपक ४-४१

धनञ्जय का अभिनव गुप्तपादाचार्य से केवल इतना ही अन्तर है कि धनञ्जय ने व्यञ्जना को नहीं माना है। तात्पर्य वृत्ति से ही काम चलाया है। अभिनवगुप्त ने व्यञ्जना को मुख्यता दी है।

कुछ विषयान्तर—दशरूपककार, ने नाटक के आठ ही रस माने हैं। उनमें शृङ्गार, वीर, वीभत्स और रौद्र को मुख्य माना है। और इनसे क्रमशः उत्पन्न हुए हास्य, अद्भुत, भयानक और करुण को गौण कहा है। इन चार प्रधान रसों की चार मानसिक वृत्तियाँ भी मानी हैं। ये ही मनोवृत्तियाँ उनसे उत्पन्न गौण रसों में रहती हैं। इस प्रकार शृङ्गार और हास्य में विकास (जैसे कली खिल जाती है,) वीर और अद्भुत में विस्तार (फैलाव,जैसे धुआँ या हवा फैल जाती है, वीर अपनी सत्ता व्याप्त कर देना चाहता है, अद्भुत में द्रष्टा का चित्त आलम्बन की महत्ता से व्याप्त हो जाता है),वीभत्स और भयानक में क्षोभ (जैसे पानी उबल उठता है, वीर रौद्र तथा करुण में विक्षेप (इधर से उधर होना) की मनोवृत्तियाँ रहती हैं। यद्यपि एक रस से दूसरे के निकालने की बात बहुत वैज्ञानिक नहीं है तथापि इसमें दो बातें विशेष मूल्य रखती हैं, एक तो यह स्पष्ट है कि शृङ्गार और वीर का अनुभव विकास और विस्तार के कारण सुखद है और वीभत्स और रौद्र का क्षोभ और विक्षेप के कारण दुखद है। इन रसों के विश्लेषण मे एक बात और देखी जा सकती है। इन जोड़ों में से एक में आश्रय की प्रधानता और दूसरे में दीनता रहती है। शृङ्गार में आश्रय की दीतता अवश्य रहती है किन्तु पूर्ण प्रसन्नता के साथ। हास्य में आश्रय की प्रधानता रहती है। वीर में आश्रय अपनी श्रेष्ठता का अनुभव करता है, अद्भुत मे आश्रय अपनी हीनता के साथ आलम्बन की श्रेष्ठता की मानसिक स्वीकृति देता है। वीभत्स में भी आश्रय की श्रेष्ठता रहती है, वह आलम्बन को नीचा और हेय समझता है। भयानक में आश्रय अपनी हीनता को स्वीकार करता हुआ उससे भागता है। वीभत्स से भी लोग भागते हैं किन्तु अपनी श्रेष्ठता के साथ। रौद्र में आश्रय अपने को बड़ा समझता

रस-निष्पत्तिः

आचार्य	दार्शनिक मत	वाद	रस की स्थिति	संयोग का अर्थ	निष्पत्ति का अर्थ
१—भट्टलोल्लट	मीमांसक	उत्पत्तिवाद	मूलरूप से अनुकार्यों में रहता है। नटादि अनुकर्त्ताओं में आरोप होता है। गौण रूप से सामाजिकों में अनुकरण के चमत्कार से।	कार्य-कारण भाव	उत्पत्ति
२—श्रीशङ्कुक	नैयायिक	अनुमितिवाद	नट के अनुभावादि द्वारा अनुकार्यों में अनुमेय, गौण रूप से सामाजिकों में अनुकरण के चमत्कार से। नट और अनुकार्य का चित्र-तुरङ्गन्याय तादात्म्य मानते हैं।	गम्य-गमक भाव अथवा अनुमाप्य अनुमापक भाव।	अनुमिति
३—भट्टनायक	सांख्यवादी	भुक्तिवाद	अभिधा, भावकत्व द्वारा आलम्बनादि साधारणीकृत होकर सामाजिक के भोग का विषय बनते हैं। (भोजकत्व)	भोज्य-भोजक भाव	भुक्ति (आस्वाद)
४—अभिनवगुप्त	वेदान्ती	अभिव्यक्तिवाद	व्यञ्जना वृत्ति द्वारा (भावकत्व और भोजकत्व अनावश्यक हैं,) सहृदय सामाजिक में स्थायी भावों के संस्कारों की विभावादि के योग से अभिव्यक्ति जिस प्रकार जल के योग से मिट्टी की अव्यक्त गंध व्यक्त हो जाती है।	व्यंग्य-व्यञ्जक भाव	अभिव्यक्ति

है। करुण में वह दीन हो जाता है। यह बात सञ्चारियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जायगी। पाठक इस विषयान्तर को क्षमा करेंगे।

अन्य मत—रसगंगाधर में इन मतों के अतिरिक्त कई और मतों का उल्लेख किया गया है, उनमें से एक जो संसार को रज्जु के साँप की भाँति मिथ्या मानने वाले शाङ्कर वेदान्त से सम्बन्ध रखता है विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रस की यह व्याख्या शुक्ति (सीप) में रजत (चाँदी) की भ्रान्त अनुभूति के आधार पर चलती है। सीप को जब हम चाँदी समझते हैं तब एक विशेष दोष के कारण सीप के सीपपने पर पर्दा सा पड़ जाता है और रजत का उस पर आरोप हो जाता है, अर्थात् हमारी चित्तवृत्ति रजतप्रधान हो जाती है। वह अनुभव सदसत् से विलक्षण अनिर्वचनीय होती है। हम जब वास्तविक दुष्यन्त और शकुन्तला की रति का वर्णन पढ़ते हैं या नाटक में उसका अभिनय देखदे हैं तब उसमें वास्तविक दुष्यन्त-शकुन्तला की रति पर पर्दा पड़ जाता है और एक नई परन्तु अनिर्वचनीय रति की सृष्टि होती है जो हमारे चित्त को व्याप्त कर लेती है। आत्मा का प्रकाश पड़ने से वह रसरूप हो जाती है।

मतों की तुलना और देन—(चारों आचार्यों के मत का संक्षेप सामने की सारिणी में देखिए) भट्टलोल्लट और श्रीशङ्कुक दोनों ही अनुकार्यों को महत्व देते हैं। काव्यप्रकाश में जो भट्टलोल्लट का मत दिया है उससे यह प्रतीत होता है कि भट्टलोल्लट नट में रस का आरोप तो करते हैं किन्तु ये सामाजिक को चमत्कृत करने की बात को स्पष्ट न कर अनुमेय रखते हैं। काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने उसे स्पष्ट कर दिया है। श्रीशङ्कुक के मत मे (वह भी काव्यप्रकाश मे वर्णित) सामाजिक स्पष्ट रूप से आ जाता है और कुछ अधखुली सी जबान से उसकी वासना का भी (जो पीछे से अभिनवगुप्त के मत को आधार-शिला बनती है) उल्लेख हो जाता है। भट्टलोल्लट के मत के मत के अनुसार नट में दुष्यन्तादि की रति का अरोप किया जाता है। श्रीशङ्कुक के अनुसार उसमें अनुमान किया जाता है। अरोप निराधार भी हो सकता है किन्तु अनुमान में निश्चित आधार रहता है। इन दोनों की देन इतनी

ही है कि ये लोग कल्पना को नितान्त निराधार होने से बचाये रखते हैं वे आजकल के उपन्यासो के कल्पित पात्रों की व्याख्या कुछ कठिनाई ही से कर सकते हैं। कल्पना का जो वास्तविक आधार होता है उसकी ओर ये संकेत अवश्य कर देते हैं।

यद्यपि साधारणीकरण की मूल भावना की क्षीण 'झलक नट के अनुकरण में (नट दुष्यन्त का साधारण राजा रूप से ही अनुकरण करता है, दुष्यन्त को तो वह जानता नहीं) रहती है तथ पि इस सिद्धान्त को पूर्ण विकास देने का श्रेय भट्टनायक को ही है। भोजकत्व में सामाजिक के कर्तव्य की ओर संकेत रहता है और उनके रस के मूल अर्थ आस्वादकत्व की भी सार्थकता हो जाती है किन्तु उन्होने सामाजिक में ऐसे किसी गुण का संकेत नहीं किया जिसके कारण सामाजिक में भोजकत्व की सम्भावना रहती है। इस कमी को अभिनव गुप्त ने पूरा किया है। उसने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि समाजिक अपनी रतिका अस्वाद लेता है, विभावादि का वर्णन उसे जाग्रत करता है। रस मे व्यञ्जना-व्यापार की प्रधानता बतलाकर अभिनव ने कृति और पाठक दोनों को महत्व दिया है। व्यङ्ग्यार्थ उसके बोधक की अपेक्षा रखता है।

काव्य का रस न तो नालियों में बहा फिरता है और न वह ऊख के रस की भाँति निष्पीड़ित होता है, जैसा कि कभी-कभी केशवादि के काव्य में वह तो काव्यगत विभावादि द्वारा उद्‌बोधित एवं रजोगुण,-तमोगुण-विमुक्त, सतोगुण-प्रधान आत्मप्रकाश से जगमगाते हुए सहृदय के वासनागत स्थायी भाव का अस्वादजन्य आनन्द है। व्यक्तिगत संस्कार सधारणीकृत होकर टाइप या साँचे बन जाते हैं। टाइप व्यक्ति और साधारण के बीच की चीज है। इन साँचों से मिलने के कारण अखण्ड चिन्मय आत्मप्रकाश में भी वीर, शृङ्गारादि के भेद दिखाई पड़ते हैं। वह आनन्द फैलता है, चित्त को व्याप्त कर लेता है, इसी कारण रस कहलाता है।

———

साधारणीकरण

मूल प्रवृत्ति—हमारा लौकिक अनुभव क्षणिक और देशकाल से आबद्ध होता है किन्तु हम उससे संतुष्ट न रहकर उसे व्यापक और स्थायी बनाना चाहते हैं। देश के सम्बन्ध में व्यापकता और काल के सम्बन्ध में शाश्वतता हमारी आत्मा की सहज प्रवृत्ति है। विज्ञान में निरीक्षण और परीक्षण द्वारा मनुष्य अपने क्षणिक अनुभवों को नियम का रूप देकर उन्हें देश-काल के बन्धनों से मुक्त कर देता है। इसी प्रकार साहित्य में भी वह अपने हृद्गत क्षणिक उद्वेगों और उद्गारों में शाश्वत वासनाओं से सम्बद्ध रसों की झाँकी देखता है। उसकी आत्मा का सहज आनन्द दुखद अनुभवों में भी सुख का अनुभव करता है किन्तु इस आनन्दानुभव का उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिए हमको व्यक्तित्व के बन्धनों से ऊँचा उठना पड़ता है। हमारा अहंकार और ममत्व दुःख की अनुभूति का कारण होता है। अहंकार ही में दुःख रूप ईर्ष्या का मूल है। वही दूसरे के सुख में सुखी होने में बाधक होता है। इसी ममत्व-परत्व की भावना को दूर करने के लिए भारतीय समीक्षा-क्षेत्र में साधारणीकरण के सिद्धान्त का उदय हुआ है। साधारणीकरण के सम्बन्ध मे विभिन्न आचार्य एकमत नहीं है। कोई तो विभावों का साधारणीकरण और आश्रय से तादात्म्य मानते हैं, तो कोई सम्बन्धो से स्वतन्त्रता को महत्व देते हैं। कोई-कोई विद्वान पाठक के हृदय में ही रस-रहस्य निहित बतलाते हैं।

भट्टनायक का मत १—ये विभावों के पूर्ण साधारणीकरण के साथ स्थायी भावों के विशिष्ट सम्बन्धों से मुक्त होने को साधारणीकरण मानते हैं। भट्टनायक का मत काव्यप्रकाश की टीका काव्यप्रदीप में इस प्रकार बतलाया गया है:—

> भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणं चैतदेव यत्सीतादिविशेषाणा कामनीत्वादि-सामान्येनोपस्थितिः। स्थाय्यनुभावादींना च संम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन।

अर्थात् भावकत्व साधारणीकरण है। उस व्यापार से विभावादि और स्थायी का भी साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण क्या

है ? सीतादि विशेषों का कामनीरूप से उपस्थित होना। सीता सीता नहीं वरन् कामिनी-मात्र रह जाती है। स्थायी और अनुभावों के साधारणीकरण का अर्थ है—सम्बन्ध-विशेष से स्वतन्त्र होना अर्थात् मेरे या पराये के बन्धन से मुक्त होना। अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है:—

निविडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः।

इसमें बतलाया गया है कि भावकत्व द्वारा भाव्यमान होकर अर्थात् आस्वादयोग्य बनाया जाकर रस की निष्पत्ति होती है। भावकत्व को अभिधा के बाद का द्वितीय व्यापार कहा है और अपनी संकीर्णता निवारण करने वाले विभावादि के साधारणीकरण को ही भावकत्व की आत्मा कहा है। साधारणीकरण और भावकत्व एक ही वस्तु हैं। विभावादि मे अनुभव, सञ्चारी, स्थायी सभी आ जाते हैं।

साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद—के सम्बन्ध में जो समस्या आचार्य शुक्लजी ने उठाई है उसका वास्तविक महत्व है। वह साधरणीकरण के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक है। उन्होने बतलाया हैं कि "क्रोचे" के मत के अनुसार काव्य का काम है—कल्पना में बिम्ब (Images) या मूर्त्त भावना का उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं (तर्क, दर्शन, विज्ञान हमारे सामने बोध उपस्थित करते हैं), कल्पना मे जो कुछ उपस्थित होगा वह व्यक्ति या वस्तु-विशेष ही होगा। सामन्य या जाति की तो मूर्त्त भावना हो ही नहीं सकती। इसका समाधान शुक्लजी नीचे के शब्दों में करते हैं:—'साधारणीकरण' का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होता वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन होता ही है .... तात्पर्य यह है कि आलम्बन-रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण, सब के भावों का आलम्बन होजाता है।" इस सम्बन्ध मे मेरा इतना ही विनम्र निवेदन है कि व्यक्ति कुछ समान धर्मों की ही प्रतिष्ठा के कारण नहीं वरन् अपने पूर्ण

व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा में सहृदयों का आलम्बन बनता है। साधारण धर्म (पतिव्रत) की प्रतिष्ठा तो सीता और डेज़डीमोना (Desdimona) में कुछ-कुछ एक-सी है किन्तु उनका व्यक्तित्व भिन्न है। कृष्ण की अनन्यता के साधारण धर्म में सूर और नन्ददास की गोपियाँ एक-सी हैं, किन्तु ऊधो के साथ बात-चीत में तथा व्यवहार में वे भिन्न हैं। अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ वे हमारी रसानुभूति का विषय बनती हैं। हमारी समस्या इस बात को है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व बनाये रखते हुए हम उसे किस प्रकार रसानुभूति का विषय बना सकते हैं। साहित्य में चाहे वह पाश्चात्य हो और चाहे भारतीय, व्यक्तित्व का विशेष मान है। दमयन्ती नल को ही वरण करना चाहती है देवताओं को नहीं। व्यक्तित्व को खोकर साधारण गुणों मात्र से काम नहीं चलता है किन्तु हाँ भोजकत्व के लिए अपने पराये के सम्बन्ध से मुक्त होना आवश्यक है।

विशेष—अति सामान्यीकरण की प्रवृत्ति का दोष आचार्य शुक्लजी ने साहित्य में न्याय के प्रभाव पर लादा है। न्याय में शब्द का संकेत ग्रहण (अर्थ) जाति का ही माना गया है, यह कहना न्याय-शास्त्र के कर्ता और विशेषकर वार्तिककार के साथ अन्याय करना है। न्यायसूत्र के निम्नोल्लिखित सूत्र में पदार्थ के सम्बन्ध में व्यक्ति आकृति और जाति तीनों को महत्व दिया गया है।

व्यक्तियाकृतिजतयस्तु पदार्थः

इसकी व्याख्या मे बतलाया गया है कि जब सामान्य गुणों के सम्बन्ध में कहा जाता है जैसे 'गाय सीधा जानवर है' शब्द जाति का बोधक होता है। जब हम कहते हैं 'गाय लाओ' तब वह शब्द डित्थ आदि व्यक्ति का परिचायक होता है। जब हम कहते हैं कि 'मिट्टी की गाय बनाओ' तब आकृति का द्योतक होता है।

अभिनवगुप्त का मत—

१—विभावादि लोक में प्रमदा (स्त्री) उद्यान आदि कहलाते हैं, काव्य में वे विभावादि कहलाते हैं।

२—साधारणीकृत हो जाने के कारण इनके सम्बन्ध में न मेरे हैं वा शत्रु के हैं अथवा उदासीन के हैं ऐसी सम्बन्ध-स्वीकृति रहती

है और न मेरे नहीं हैं, शत्रु के नहीं हैं वा उदासीन के नहीं, ऐसी सम्बन्ध की अस्वीकृति रहती है, "ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इतिसम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहार-नियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीवैरभिव्यक्तः" संक्षेप में ममत्व परत्व के सम्बन्ध से स्वतन्त्र होना ही साधारणीकरण है।

३—उनके द्वारा सामाजिकों के वासनागत स्थायीभाव जाग्रत हो उठते हैं। उस समय वे व्यक्ति के होते हुए भी व्यक्ति के नहीं रहते और अपने आकार से भिन्न भी नहीं होते अर्थात् अपना निजत्व नहीं खोते हैं।

४—सामाजिक का मन उस समय वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य होता है और उसका सीमित या संकुचित प्रमाताभाव अर्थात् ज्ञाता होने का भाव जाता रहता है "तत्कालविगलितपरमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरमितभावेन।"

५—वह भाव सकल सहृदयों के अनुभव का एकसा विषय होता है (सकलसहृदय-संवादभाजा)।

६—वह चर्व्यमाण होकर अर्थात् आस्वादित होकर रसरूप हो जाता है। रस का अनुभव अखण्ड और प्रपानक रस (पन्ने) की भाँति अपनी निर्माण-सामग्री (पन्ने के सम्बन्ध में खटाई, इलाची, मिश्री, काली मिर्च आदि और रस के सम्बन्ध में विभावानुभावादि) से स्वतन्त्र होता है।

नोट—इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य की बात नहीं आती वरन् पाठक का सब सहृदयों से समान भाव बतलाया है। इसमें सभी चीजों का साधारणीकरण माना गया है। साधारणीकरण का अर्थ है सम्बन्धों का साधारणीकरण। जिस प्रकार तर्कशास्त्र में धूम और अग्नि को साथ-साथ देखकर उसको देश-काल के बन्धनों से मुक्त करके, सार्वकालिक बना लेते हैं कि जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ अग्नि है, वैसे ही साधारणीकरण में भयादि और कम्पादि के सम्बन्ध को व्यक्तियों के सम्बन्ध से मुक्तकर सार्वदेशिक और सार्वकालिक बना लेते हैं। अभिनवगुप्त कहते हैं 'तत एव न परमितमेव साधारण्यमपितु विततं व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योर्भयकम्पयोरेव वा'—इससे लेख के पहले पैरे में दिये हुए मेरे इस कथन की कि विज्ञान के नियम निर्माण और साहित्य के साधारणीकरण में एक ही प्रवृत्ति है, पुष्टि हो जाती है।

मम्मट का मत अभिनवगुप्त के मत से भिन्न नहीं मालूम पड़ता है।

विश्वनाथ का मत—साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने विभावों के साधारणीकरण के साथ उसके फल-स्वरूप पाठक या दर्शक आश्रय के साथ तादात्म्य माना है:—

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।
तत्प्रभावेण यस्यासन्पाथोधिप्लवनादयः॥
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।

अर्थात विभावादि का जो साधारणीकरण व्यपार है उसके प्रभाव से प्रमाता समुद्रलङ्घन आदि के उत्साह का अनुभव जो उसमें नहीं होता है, हनुमानादि के साथ अभेद रूप से अपने में कर लेता है। इसमें विभावों के साधारणीकरण के साथ आश्रय के साथ तादात्म्य की बात आजाती है। साहित्यदर्पणकार ने आगे चलकर जो स्पष्टीकरण किया है वह अभिनवगुप्त के मत के अनुकूल है, देखिए:—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते॥

अर्थात रसानुभूति मे विभावादिकों के सम्बन्ध में ये मेरे हैं अथवा मेरे नहीं हैं, दूसरे के हैं अथवा दूसरे के नहीं हैं, इस प्रकार का विशेषीकरण नहीं होता है। इस व्याख्या मे दर्शक या पाठक को ही मुख्यता मिल जाती है। इसमें तादात्म्य और अतादात्म्य का भी प्रश्न नहीं रहता है।

नोट—विश्वनाथ ने विभावन को तो जैसा भट्टनायक ने माना है वैसा ही माना है किन्तु उन्होंने इसके अतिरिक्त अनुभावन और संचारण नाम के दो और व्यापार माने है।

रसादि को आस्वाद योग्य बनाना विभावन है, यही भट्टनायक का भावकत्व है।

इस प्रकार विभावन किये हुए रत्यादि को रस रूप में लाना अनुभावन है, उनका सम्यक् रूप से चारण करना संचारण कहलाता है।

लेकिन इसमें यह समझना कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारियों के नाम इसी आधार पर रखे गये हैं ठीक न होगा। हाँ, इससे एक बात अवश्य प्रकट होती है कि विश्वनाथ ने स्थायी भावों को भी उतनी ही मुख्यता दी है। इस प्रकार साहित्यदर्पण में आलम्बन, आश्रय, स्थायी आदि और पाठक सबका ही साधारणीकरण होता दिखाई पड़ता है।

डा० श्यामसुन्दरदासजी का मत—बाबूजी ने आचार्य केशवप्रसाद मिश्र का अनुकरण करते हुए साधारणीकरण का सम्बन्ध योग की **मधुमती भूमिका** से, जिसमें कि परप्रत्यक्ष होता है, लगाया है। उस दशा में वितर्क नहीं रहता। इन शब्दों की व्याख्या के लिए बाबूजी के उद्धरण से कुछ अंश देना आवश्यक है:—

'शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दों मे वस्तु, वस्तु का सम्बन्ध और वस्तु के सम्बन्धी इन तीनों भेदों का अनुभव करना वितर्क ....इस पार्थक्यानुभव को अपर प्रत्यक्ष भी कहते हैं। जिस अवस्था मे सम्बन्ध और सम्बन्धी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तुमात्र का आभास मिलता है उसे परप्रत्यक्ष या निर्वितर्क सम्पत्ति कहते हैं जैसे पुत्र का केवल पुत्र के रूप में प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलम्बन हो सकता है।'

व्यास भाष्य का उद्धरण देते हुए वे लिखते हैं कि 'मधुमती भूमिका का साक्षात्कार करते ही साधक की शुद्ध सात्विकता देखकर देवता अपने-अपने स्थान से उसे बुलाने लगते हैं—"इधर आइए, यहाँ रहिए, इस भोग के लिए लोग तरसा करते हैं। देखिए कैसी सुन्दर कन्या है।' आगे चलकर बाबूजी लिखते हैं—

'योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमती भूमिका तक होती है उस भूमिका तक प्रतिभाज्ञान-सम्पन्न सत्कवि की पहुँच स्वभावतः हुआ करता है'। इस सम्बन्ध में एक विनोद की बात लिख देना चाहता हूँ (यद्यपि मुझे इसके लिखने में संकोच अवश्य होता है क्योंकि अपनों से बड़े और विशेषतः स्वार्गीय लोगों की बात के सम्बध में विनोद करना हास्यरसाभास है) कि मधुमती भूमिका को प्राप्त

कवियों और सहृदयों के लिए यह निमन्त्रण देवताओं की ओर से अब नहीं आता, नहीं तो वे देह का भी मोह छोड़दें। यह विनोद की बात है किन्तु वास्तव बात यह है कि कवि का सृजनानन्द और सहृदय का काव्यरसास्वाद स्वर्गभोग से कम नहीं है। इसके लिए स्वर्ग जाने का भी कष्ट नहीं करना पड़ता। बाबूजी कवि और पाठक की चित्त की वृत्तियों का एकतान एकलय होजाना ही साधारणीकरण मानते हैं। कवि के समान हृदयालु सहृदय भी आजकल समीक्षक, समालोचक या (Critic) (और मैं कहूँगा साधारण पाठक भी) जब उसी भूमिका (मधुमती भूमिका) का स्पर्श करता है, तब उसकी भी वृत्तियाँ उसी प्रकार एकतान एकलय हो जाती हैं, जिसके लिए पारिभाषिक शब्द साधारणीकरण है और उसे भी वही संगीत सुनाई पड़ने लगता है—उसी आनन्द की झलक मिलती है। इस साधारण अवस्था में पहुँचने की शक्ति उसे कुछ तो कवि की दृष्टि की विशेषता और कुछ अपने संस्कार दोनो ही याथातथ्य प्रदान करते हैं। इस प्रकार बाबूजी कवि और पाठक दोनो के ही हृदय का साधारणीकरण मानते हैं, जैसाकि उन्होंने शुक्लजी से मतभेद प्रगट करते हुए लिखा है।

आवश्यक समाधान—इस सम्बन्ध में कुछ बातों के लिए सतर्क कर देना आवश्यक है। पहली बात तो मधुमती भूमिका की इतनी प्रशंसा से यह न समझ लेना चाहिए कि वह योग की बहुत ऊँची अवस्था है। यह दूसरी ही श्रेणी है। इसके आगे दो श्रेणियाँ और हैं। मधुमती भूमिका के प्रलोभनों को बचाने के लिए ही उनका संकेत किया गया है। योगी उनमें नहीं पड़ता है। दूसरी बात यह है कि इस भूमिका के लिए पूर्वजन्म के संस्कारों के अतिरिक्त कवि के लिए भी कुछ अभ्यास और साधनों की अपेक्षा है। यद्यपि वह योग की साधना नहीं होती। रसदशा, रससृष्टि या रसास्वाद के समय ही रहती है (इस बात की ओर बाबूजी ने भी संकेत कर दिया है कि योगी इस अवस्था को मन चाहे जितनी देर ठहरा सकता है)। तीसरी बात यह है कि यह अवस्था मधुमती भूमिका के सदृश हो सकती है, मधुमती भूमिका नहीं (माधुर्य गुण का मधुमती भूमिका से कोई सम्बन्ध नहीं है, उससे ओज का भी उतना ही सम्बन्ध है)। असली

बात यह है कि कवि की रसदशा और योगी की मधुमती भूमिका के कारण भिन्न है, इस लिए दोनों कार्य भी एक नहीं हो सकते।

शुक्लजी से मतभेद—साधारणीकरण के सम्बन्ध से 'बड़े महत्व के भ्रम' शीर्षक देकर बाबूजी कहते हैं:—

"एक दूसरे विद्वान् (शुक्लजी, शिष्टतावश उनका नाम बाबूजी ने नहीं लिखा है) लिखते हैं— 'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन को पूर्ण शक्ति नहीं आती। इस रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण कहलाता है'।"

—(चिंतामणि पृष्ठ ३०८)

इस पर आलोचना करते हुए बाबूजी हैं—

'साधारणीकरण से यहाँ यह अर्थ लिया है कि विभाव अनुभाव को साधारण रूप करके लाया जाय। पर साधारणीकरण तो कवि या भावक की चित्तवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। चित्त के साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है। अतः यह मत भी ठीक नहीं है। यह उद्धृत मत भट्टनायक का माना जाता है, पर आचार्यों का अन्तिम सिद्धान्त तो यही है जो हमने माना है। हमारा हृदय साधारणीकरण करता है।'

इस सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। शुक्लजी के मत को 'महत्व का भ्रम' कहना उचित नहीं है जबकि बाबूजी स्वयं स्वीकार करते है कि यह भट्टनायक के मत के अनुकूल है। इसके अतिरिक्त— 'साधारण रूप करके लाया जाय'—यह कार्य तो कवि द्वारा ही होता है और जब वे लिखते है कि साधारण अवस्था में पहूँचने की शक्ति कुछ तो कवि दृष्टि की विशेषता और कुछ अपने संस्कार दोनों यथातथ्य प्रदान करते है, तब वे कवि के कार्य को तो स्वीकार करते ही है। कवि का प्रभाव तो हम तक उसकी कृति द्वारा ही आता है। वास्तविक बात यह है कि शुक्लजी के इस सिद्धान्त के निरूपण मे उनके मन में बसे हुए तुलसीदासजी के राम झाँकते हुए दिखाई पड़ते है जो सब के एक समान आलम्बन होते है। ऐसा ज्ञात होता है कि वे आलम्बन का साधारणीकरण नहीं चाहते वरन् वे ऐसा आलम्बन ही चाहते है जो सबका आश्रय बन सके। शुक्लजी की प्रतिभा विषयगत है। बाबूजी विषयी (यहाँ विषयी का अर्थ कामी नहीं है) के हृदय

को साधारणीकरण का श्रेय देते हैं। शुक्लजी का मत अभिनवगुप्त के सिद्धान्त से भी ज्यादा दूर नहीं है। 'सकल सहृदयसंवादभाजा' (अभिनवगुप्त के शब्द है। 'हृदयसंवादात्मक सहृदयत्वात्') का भी यही अर्थ है। अभिनवगुप्त भी विभावों का साधारणीकरण कम से कम सम्बन्धों से स्वतन्त्रता के रूप मे मानते हैं।

आचार्य शुक्लजी का मत—भट्टनायक के मत की विवेचना करते हुए हम शुक्लजी के मत का उल्लेख कर चुके हैं। आलम्बन के साधारणीकरण का अर्थ उन्होंने आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण लिया है अर्थात् आलम्बन ऐसा हो जाता है कि वह समान रूप से सबका आलम्बन बन सके। यह अभिनवगुप्त के मत के अनुकूल है किन्तु वे साहित्यदर्पणकार के मत का भी मोह छोड़ने को तैयार नहीं हैं। दोनों मतों से प्रभावित शुक्लजी के उद्धरण नीचे दिये जाते हैं—

क—**अभिनवगुप्त से प्रभावित**—व्यक्ति तो विशेष ही रहता है पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन मे एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता।

ख—**साहित्यदर्पण से प्रभावित**—साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन मे जो व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेष आती है वह जैसे काव्य मे वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।

साहित्यदर्पण के मत का ही आश्रय लेकर वे आगे लिखते हैं:—

साधारणीकरण के प्रतिपादन मे पुराने आचार्यों ने (अभिनवगुप्त ने नहीं) श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भावव्यञ्जना करने वाले पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है।

क और ख मे इस बात का अन्तर हो जाता है कि 'क' के अनुसार पाठक या श्रोता काव्य के आश्रय के साथ नहीं बाँधा जाता। उसका सब सहृदयों के साथ भावसाम्य होता है। 'ख' मे उसे काव्य के आश्रय के साथ बँध जाना पड़ता है। यदि आश्रय के साथ तादात्म्य हो जाता है तो प्रायः सब लोगों के साथ भी उसका तादात्म्य हो जाता है किन्तु शुक्लजी ने दिखलाया है कि ऐसी भी अवस्थाएँ होती हैं जहाँ आश्रय के साथ तादात्म्य नहीं हो सकता है वरन् कवि वा अन्य सहृदयों के साथ उसका भाव-सादृश्य हो जाता है। उदाहरणार्थ सीता

की भर्त्सना करते हुए रावण के साथ किसी का तादात्म्य नहीं हो सकेगा और न परशुराम के साथ कोई लक्ष्मण पर क्रोध कर सकेगा। ऐसी अवस्था में पाठक का कवि के व्यक्त वा अव्यक्त भाव से या शीलद्रष्टा के रूप मे सब सहृदयो के साथ तादात्म्य हो जाता है।

ऐसी भी अवस्थाएं होती है जहाँ कोई आश्रय नहीं होता है, जैसे, पाठकजी के काश्मीर-सुषमा वर्णन मे, किन्तु इनमे कवि ही आश्रय होता है और इसमे कोई विशेष कठिनाई भी नहीं पड़ती है। रावण या परशुराम वाले उदाहरणों में भी अगर हम दूसरे पक्ष अर्थात् सीता या लक्ष्मण से तादात्म्य करें तो समस्या इतनी उग्र नहीं रहती। (आश्रय और आलम्बन तो सापेक्ष शब्द हैं) यह दूसरी बात है कि हमारा पुरुष-गौरव स्त्री के साथ तादात्म्य करना न स्वीकार करे। स्त्रियाँ तो उस दशा मे सीता के साथ भावतादात्म्य करती ही होंगी। अभिनवगुप्त के मत मे इस कठिनाई की कम गुञ्जाइश रह जाती है क्योंकि उसमे कवि के आश्रय के साथ पाठक को नहीं बाँधा जाता। स्वयं शुक्लजी का निजी मत भी इसके अनुकूल है। वे भी सम्बन्धों का ही साधारणीकरण मानते हैं, देखिए—'रसमग्न पाठक के हृदय मे यह भेद-भाव नहीं रहता है कि यह आलम्बन मेरा है या दूसरे का है'—किन्तु वे आलम्बन में ऐसे गुणों की विषयगत सत्ता (Objective existence) चाहते मालूम पड़ते है जिनके कारण वह सबका आलम्बन बन सके।

कवि की देन—लौकिक सामग्री को आस्वादयोग्य बनाने मे कवि को बहुत-कुछ काट-छाँट करना पड़ती है और गाँठ का भी नमक-मिर्च-मसाला मिलाने की आवश्यकता होती है। (यह भी एक प्रकार का साधारणीकरण है) किन्तु इसकी मात्रा मे आचार्यों का मत-भेद है। राजशेखर कवि को ही महत्ता देते हैं, उनका कथन है कि चित्रकार के अनुकूल ही चित्र बनाता है, देखिए:—

स यत्स्वभावः कविस्तदनुरूपं काव्यं।
यादृशाकारश्चित्रकारस्तदाकार तस्य चित्रम् ॥*

* सितम्बर १९४५ के साहित्य-सन्देश में साधारणीकरण के सम्बन्ध में श्री नगेन्द्रजी के एक लेख छपा है उसमें कवि की भावना को प्रधानता देते हुये उसे ही साधारणीकरक का विषय बनाया गया है।

किन्तु एक दूसरे आचार्य (भोज) पात्र को प्रधानता देते है। उनका कथन है कि कवि की वाणी का थोड़ा-सा चमत्कार यदि वह लोकोत्तर नायक का वर्णन करता है, तो वह विद्वानों के कानों का आभूषण बन जाता है।

कवेरल्पापि वाग्वृत्तिर्विद्वत्कर्णावतंसति।
नायको यदि वर्ण्येत लोकोत्तरगुणोत्तरः॥

प्रातःस्मरणीय गोस्वामी जी ने भी अपनी कृति की श्रेष्ठता के लिए नायक को ही महत्ता दी है।

एहि मँह रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥
× × × ×
भणित भदेस वस्तु भल बरणी। राम कथा जग मङ्गल करणी॥

यह मात्रा का प्रश्न है, इसमे अन्तर होना स्वाभाविक है। कवि की कृति चाहे कितनी ही काल्पनिक क्यों न हो उसके लौकिक आधार की विषयगत सत्ता को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। इसके साथ यह भी स्वीकार करना होगा कि कवि अपने ही चश्मे से संसार को देखता है। वह कच्चा सामान संसार से लेता है, और उसे पकाकर आस्वादयोग्य बना पाठक को देता है।

पाश्चात्य समीक्षक और साधारणीकरण—

साधारणीकरण के सम्बन्ध मे हमारे यहाँ के आचार्यों ने थोड़े-बहुत अन्तर के साथ तीन बातों पर बल दिया है। (१) विभावादि को का (जिनमे स्थायी भाव भी शामिल है) साधारणीकरण (२) पाठक का आश्रय वा कवि के साथ तादात्म्य (३ सब पाठकों का समान रूप से प्रभावित होना। इन तीनों ही बातों का पारस्परिक सम्बन्ध है।

पाश्चात्य समीक्षकों के सम्बन्ध मे मेरा ज्ञान सीमित है (इसका यह अर्थ नही कि भारतीय समीक्षकों के सम्बन्ध मे सीमित नहीं है) किन्तु मेरा ख्याल है कि उन्होंने विभावादि के साधारणीकरण की अपेक्षा तादात्म्य पर अधिक ध्यान दिया है। इसमे आश्रय और कवि दोनों के साथ तादात्म्य की बात आ जाती है। सब पाठकों के समान रूप से प्रभावित होने का भी कहीं-कहीं उल्लेख है।

तादात्म्य का प्रश्न EMPATHY के रूप में आया है। इसको हिन्दी में भावतादात्म्य कह सकते है। सहानुभूति में सहृदय और भोक्ता के दो व्यक्तित्व रहते है। भावतादात्म्य मे थोड़े काल के लिए दोनों का व्यक्तित्व एक हो जाता है। यह शब्द मनोविज्ञान से लिया गया है। इसीलिए इसकी व्याख्या मे एक मनोविज्ञान की पुस्तक Psychology for every man and woman by A. E, Mander. का उद्धरण देना उचित समझता हूँ:—

Empathy connotes the state of the reader or spectator who has lost for a while his personal self-conciousness and is identifying himself with some character in the story or screen.

अर्थात् भावतादात्म्य या तदनुभूति पाठक वा दर्शक की वह मानसिक दशा है जिसमे कि वह थोड़ी देर के लिए अपनी वैयक्तिक आत्म-चेतना को भूलकर नाटक या सिनेमा (उपन्यास भी) के किसी पात्र के साथ अपना तादात्म्य कर लेता है। साहित्यदर्पणकार ने पाठक या दर्शक के आश्रय के साथ तादात्म्य को विभावादि के साधारणीकरण का फल माना है।

इस भावतादात्म्य से प्रसन्नता क्यों होती है ? इस सम्बन्ध मे उपर्युक्त लेखक (A. E. Mander) का कथन है कि तादात्म्य के द्वारा दर्शक की कोई प्रारम्भिक आवश्यकता जिसकी पूर्ति उसके वास्तविक जीवन मे नहीं होती (जैसे जङ्गल मे शेर मारना, दुश्मन को घुटने टिका देना, चोरी का पता लगा लेना आदि) पूर्ण हो जाती है। क्रोध, शोक और भय का अनुभव भी (यदि उसके साथ वैयक्तिक क्षति न हो) हमारी आवश्यकताओं मे से है ।

मनोवैज्ञानिकों ने वास्तुकला (भवन-निर्माण-कला) मे आनन्द लेने की बात की व्याख्या कुछ-कुछ इसी सिद्धान्त पर की है। अच्छे सुदृढ़ विशाल खम्भों मे हम इसलिए आनन्द लेने लगते हैं कि हम उनमें अपना प्रक्षेपण (Projection) कर उनके भार सम्हालने की शक्तिजन्य प्रसन्नता का अनुभव करने लग जाते हैं ।

कुछ समीक्षकों ने इस तदनुभूति को कल्पना का सर्वोत्तम रूप

किन्तु एक दूसरे आचार्य (भोज) पात्र को प्रधानता देते हैं। उनका कथन है कि कवि की वाणी का थोड़ा-सा चमत्कार यदि वह लोकोत्तर नायक का वर्णन करता है, तो वह विद्वानों के कानों का आभूषण बन जाता है।

> कवेरल्पापि वाग्वृत्तिर्विद्वत्कर्णावतंसति।
> नायको यदि वर्ण्येत लोकोत्तरगुणोत्तरः॥

प्रातःस्मरणीय गोस्वामी जी ने भी अपनी कृति की श्रेष्ठता के लिए नायक को ही महत्ता दी है।

> एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुराण श्रुति सारा॥
> × × × ×
> भणित भदेस वस्तु भल वरणी। राम कथा जग मङ्गल करणी॥

यह मात्रा का प्रश्न है, इसमे अन्तर होना स्वाभाविक है। कवि की कृति चाहे कितनी ही काल्पनिक क्यों न हो उसके लौकिक आधार की विषयगत सत्ता को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। इसके साथ यह भी स्वीकार करना होगा कि कवि अपने ही चश्मे से संसार को देखता है। वह कच्चा सामान संसार से लेता है, और उसे पकाकर आस्वादयोग्य बना पाठक को देता है।

पाश्चात्य समीक्षक और साधारणीकरण—

साधारणीकरण के सम्बन्ध मे हमारे यहाँ के आचार्यों ने थोड़े-बहुत अन्तर के साथ तीन बातों पर बल दिया है। (१) विभावादिकों का (जिनमे स्थायी भाव भी शामिल है) साधारणीकरण (२) पाठक का आश्रय वा कवि के साथ तादात्म्य (३) सब पाठकों का समान रूप से प्रभावित होना। इन तीनों ही बातों का पारस्परिक सम्बन्ध है।

पाश्चात्य समीक्षकों के सम्बन्ध मे मेरा ज्ञान सीमित है (इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय समीक्षकों के सम्बन्ध मे सीमित नहीं है) किन्तु मेरा ख्याल है कि उन्होने विभावादि के साधारणीकरण की अपेक्षा तादात्म्य पर अधिक ध्यान दिया है। इसमे आश्रय और कवि दोनों के साथ तादात्म्य की बात आ जाती है। सब पाठकों के समान रूप से प्रभावित होने का भी कहीं-कहीं उल्लेख है।

तादात्म्य का प्रश्न EMPATHY के रूप में आया है। इसको हिन्दी मे भावतादात्म्य कह सकते है। सहानुभूति मे सहृदय और भोक्ता के दो व्यक्तित्व रहते है। भावतादात्म्य मे थोड़े काल के लिए दोनो का व्यक्तित्व एक हो जाता है। यह शब्द मनोविज्ञान से लिया गया है। इसीलिए इसकी व्याख्या मे एक मनोविज्ञान की पुस्तक Psychology for every man and woman by A. E, Mander. का उद्धरण देना उचित समझता हूँ:—

Empathy connotes the state of the reader or spectator who has lost for a while his personal self-conciousness and is identifying himself with some character in the story or screen.

अर्थात् भावतादात्म्य या तदनुभूति पाठक वा दर्शक को वह मानसिक दशा है जिसमे कि वह थाड़ा दर के लिए अपनी वैयक्तिक आत्म-चेतना को भूलकर नाटक या सिनेमा (उपन्यास भी) के किसी पात्र के साथ अपना तादात्म्य कर लेता है। साहित्यदर्पणकार ने पाठक या दर्शक के आश्रय के साथ तादात्म्य को विभावादि के साधारणीकरण का फल माना है।

इस भावतादात्म्य से प्रसन्नता क्यो होती है ? इस सम्बन्ध मे उपर्युक्त लेखक (A. E. Mander) का कथन है कि तादात्म्य के द्वारा दर्शक की कोई प्रारम्भिक आवश्यकता जिसका पूर्ति उसके वास्तविक जोवन मे नहीं होती (जैसे जङ्गल मे शेर मारना, दुश्मन को घुटने टिका देना, चारी का पता लगा लेना आदि) पूर्ण हो जाती है। क्रोध, शाक और भय का अनुभव भो (यदि उसके साथ वैयक्तिक क्षति न हो) हमारी आवश्यकताओं मे से है ।

मनोवैज्ञानिकों ने वास्तुकला (भवन-निर्माण-कला) मे आनन्द लेने की बात की व्याख्या कुछ-कुछ इसी सिद्धान्त पर की है। अच्छे सुदृढ़ विशाल खम्भो मे हम इसलिए आनन्द लेने लगते हैं कि हम उनमें अपना प्रक्षेपण (Projection) कर उनके भार सम्हालने की शक्तिजन्य प्रसन्नता का अनुभव करने लग जाते है ।

कुछ समीक्षकों ने इस तदनुभूति को कल्पना का सर्वोत्तम रूप

माना है। "We have only one way of imagining things from the inside and that is putting our selves inside them"-अर्थात् वस्तुओं की भीतरी कल्पना का एक ही मार्ग है और वह है अपने को उनमें रख देना। छायावाद का प्रकृति-वर्णन कुछ-कुछ इसी प्रकार का है।

आई० ए० रिचार्ड्स (I. A Richards) अपनी पुस्तक (Principles of literary criticism) के दो अध्यायों में A theory communication अर्थात् भाव-प्रेषण की एक कल्पना और The normality of the artist अर्थात् कलाकार की सर्वसाधारणानुकूलता, मे साधारणीकरण की समस्या के बहुत निकट पहुँच गये हैं। वे इस बात को मानकर चलते हैं कि मनुष्य की (अर्थात् कहने वाले और सुनने वाले दोनों की ही) प्रवृत्तियाँ प्रायः एकसी होती हैं। इसी कारण कवि समान भावों की जाग्रति करने में समर्थ होता है। जहाँ पर कवि का अनुभव पाठक के अनुभव के साथ ऐक्य नहीं रखता (शुक्लजी का दिया हुआ उदाहरण दुहराते हुए हम कहेंगे, जैसे कोई कवि किसी कुरूप और फूहड़ स्त्री को प्यार करे) वहाँ पर उसको सफलता न मिलेगी। इसमें अनुभवों के पूर्ण तादात्म्य की आवश्यकता नहीं। वे कहते हैं—छोटी-मोटी विषमताएँ कल्पना के बल से दूर की जा सकती हैं। कलाकार को यथासम्भव विलक्षण मनोवृत्ति को (Eccentric) न होना चाहिए। इसके साथ उन्होंने यह भी बतलाया है कि किस हद तक कवि विलक्षण हो सकता है। उनका कहना है कि जिन बातों मे अधिकाँश लोग एकमत है उनमें उसे अनुकूलता प्राप्त करनी चाहिए और जिनपे एकता न हो उनमे वह भी थोड़ी स्वतन्त्रता ले सकता है। जिन बातों में लोग उसकी विलक्षणता से अपनी प्रवृत्तियों में विशेष उथल-पुथल न पाकर उनमे सामञ्जस्य की सम्भावना देखते हैं, उनमे लोग उसका अनुकरण करने लग जाते हैं। इसीलिए कवियों को समानधर्मा सहृदय पाठकों की आवश्यकता रहती है। क्रान्तिकारी कवियों को धीरे-धीरे ही जनता के हृदय में प्रवेश करना पड़ता है। जनता की मनोवृत्ति बदलती अवश्य है, किन्तु क्रमशः।

क्रान्ति में सफल वही कवि होता है जो जनता के हृदय की

ध्रुव धारणाओं के साथ मिली हुई कुछ अस्थिर भावनाओं की पहचान रखता है। उनके साथ वह ध्रुव धारणाओं को भी थोड़ा-बहुत स्पर्श कर लेता है। अछूतोद्धार के लिए लोग शबरी, निषाद, वाल्मीकि का सहारा पकड़ते है। श्रीरामचन्द्र की बुराई के लिए भवभूति ने ताड़का-बध, और केशव ने विभीषण का उदाहरण लिया है। तुलसी ने भी दबी जबान से बालि-बध की निन्दा की है। किन्तु यदि कोई श्री रामचन्द्र जी के पावन चरित्र में सोलह आना दूषण दिखाने की कोशिश करे (जैसा माइकिल मधुसूदनदत्त ने किया) तो उसके साथ भावतादात्म्य कठिनाई से ही हो सकेगा जब तक कि कवि का कबीर का सा विशेष जोरदार व्यक्तित्व न हो।

क्रोचे ने भी कवि और पाठक के तादात्म्य की समस्या उठाई है। उनका कथन है कि डान्टे (Dante) का रसास्वाद करने के लिए हमको उसके ही धरातल तक पहुँचना चाहिए। इसीलिए उसने कवि के दो व्यक्तित्व माने हैं—एक लौकिक और दूसरा आदर्श-मूलक, लौकिक व्यक्तित्व में कवि और पाठक का भिन्न व्यक्तित्व रहता है और कलाकार के आदर्श व्यक्तित्व में कवि और पाठक का तादात्म्य हो जाता है। इस विषय से सम्बन्धित क्रोचे का उद्धरण अभिव्यञ्जनावाद शीर्षक लेख मे आगे देखिए।

सारांश—संक्षेप मे हम यह कह सकते है कि साधारणीकरण व्यक्ति का नहीं (उसकी मुख्य विशेषताओं को सम्पन्नता अक्षुण्ण रहती है) वरन् उसके सम्बन्धों का होता है। जल, वायु, नीलाकाश की भाँति उस पर किसी का विशेषाधिकार नहीं रहता। उसमे न ममत्वजन्य दुःख और न परत्वजन्य ईर्ष्यादि भावों की गुञ्जाइश रहती है। कवि भी अपने निजी व्यक्तित्व से ऊँचा उठकर साधारणीकृत हो जाता है। वह लोक का प्रतिनिधि होकर (जब वह निजी भावों की अभिव्यक्ति करता है तब वह भी लोक मे शामिल हो जाता है) भावाभिव्यक्ति करता है। पाठक का साधारणीकरण इस अर्थ मे होता है कि वह अपने व्यक्तित्व के क्षुद्र बन्धनों को तोड़कर लोकसामान्य की भाव-भूमि मे आ जाता है, उसका हृदय कवि और लोक-हृदय (जिसमे विशेष परिस्थितियों को छोड़कर काव्य का

आश्रय भी आ जाता है) के साथ प्रतिस्पन्दित होने लगता है। अपने व्यक्तित्व की अनुभूति रसास्वाद मे बाधा मानी गई है।

भावों का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि उनसे भी 'अयं निजः परो वा' की भावना जाती रहती है और इस कारण उनमें लौकिक अनुभव की स्थूलता, कटुता, तीक्ष्णता और रूक्षता नहीं रहती है। एकात्मवाद के अधिक प्रचार के कारण भारतीय मनोवृत्ति सामान्य की ओर अधिक झुकी हुई है। एकात्मवाद के कारण अनुभवों और प्रवृत्तियों की एकता और भावों के तादात्म्य को दृढ़ भित्ति मिल जाती है किन्तु साधारणीकरण के प्रवाह में वैयक्तिक विशेषताओं को न बहा देना चाहिए। कवि की विशेषताएं ही जनता की मनोवृत्ति बदलती हैं। पाश्चात्य देशों मे व्यक्ति का मान है। हमको भी उसे भूलना न चाहिए।

प्राचीन आदर्शों और वर्तमान आदर्शों मे इस बात का अन्तर हो गया है कि पहले नायक प्रख्यात और उच्चकुलोद्भव होता था और अब होरी किसान भी उपन्यास का नायक बन जाता है। पहले प्रख्यात नायक इसीलिए रहता था जिससे कि सहृदय पाठकों का सहज मे तादात्म्य हो जाय, अब लोगो की मनोवृत्तियाँ कुछ बदल गई हैं। आभिजात्य का अब उतना मान नहीं रहा है। इसीलिए होरी के सम्बन्ध मे पाठको का सहज मे ही तादात्म्य हो जाता है। पात्र के कल्पित होने से भी उसके साधारणीकरण मे बाधा नहीं पड़ती क्योकि वह प्रायः अपनी जाति का प्रतिनिधि होता है।

उपयोगिता—साधारणीकरण की उपयोगिता काव्यानुशीलन की उपयोगिता है। उसके द्वारा हमारी सहानुभूति विस्तृत हो जाती है। हम दूसरे से साथ भावतादात्म्य करना सीखते हैं। हमारे भावों का परिष्कार होकर उनका पारस्परिक सामञ्जस्य भी होने लगता है। शृङ्गार, जो लौकिक अनुभव मे विषयानन्द का रूप धारण कर लेता है, काव्य में परिष्कृत हो आत्मानन्द के निकट पहुँच जाता है। काव्यानुशीलन करने वाले की रति भी सात्विकोन्मुखी हो जाती है। काव्य के अनुशीलन से व्यक्ति ऊँचा उठ जाता है और उसके जीवन मे सन्तुलन आ जाता है।

कवि और पाठक के त्रयात्मक व्यक्तित्व

संस्कृत के आचार्यों ने रसानुभूति अधिकांश में सहृदय पाठक या दर्शक में मानी है। लोकमत भी कुछ ऐसा ही है। 'कविः करोति काव्यानि रसं जानाति पंडितः'। यद्यपि यह बात किसी अंश में ठीक है कि हमारे यहाँ कवि के हृदयगत रस का विवेचन बहुत कम हुआ है तथापि हमारे देश के मनीषी इससे नितान्त उदासीन नहीं थे। गोस्वामीजी का 'स्वान्तः सुखाय' कवि के हृदयगत रस का ही पर्याय है। नाट्यशास्त्र के कर्ता भरत मुनि भाव की व्याख्या करते हुए इस प्रकार लिखते हैं:—

वागङ्गमुखरागेन सत्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतः भावं भावयन् भाव इत्युच्यते ॥

अर्थात् कवि के अन्तर्गत भाव को जो वाचिक, आङ्गिक, मुखरागादि तथा सात्विक अभिनय द्वारा आस्वादयोग्य बनाता है वह भाव कहलाता है। इस सम्बन्ध में भारतीय परम्परा में कविता के आरम्भ पर विचार कर लेना आवश्यक है।

महर्षि वाल्मीकि का 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः' वाला भारतीय काव्य का आदि श्लोक कवि के शोक से द्रवीभूत हृदय का ही तो श्लोक रूप है। 'क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः'। कविवर पंतजी ने भी कहा है 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान।' अब प्रश्न यह होता है कि क्या कवि अपने दुःखात्मक अनुभवों को सीधा रस-रूप में प्रवाहित कर देता है? क्या कवि का अनुभव लौकिक ही रहता है? या उसका अनुभव भी साधारणीकृत होकर आस्वादयोग्य बनता है? ऊपर उद्धृत किये हुए श्लोक पर अभिनवगुप्त की टीका के एक उद्धरण से जो सुप्रसिद्ध दार्शनिक डाक्टर एस० एन० दासगुप्त के बङ्गाली भाषा में लिखे हुए 'काव्य-विचार' नाम के ग्रंथ में उद्धृत है यह स्पष्ट है, कि अभिनवगुप्ताचार्य, कवि के हृदयगत भाव का भी साधारणीकरण बतलाते हैं। वे कवि के लौकिक अनुभव को आस्वाद का विषय नहीं मानते। उनके मत में पाठक की भाँति कवि के हृदयगत तत्सम्बन्धी संस्कारों को देशकाल के बन्धन से मुक्त कर आस्वादयोग्य बनाया जाता है। देखिए:—

वागङ्गमुखरागात्मनाभिनयेन सत्वलक्षणेन चाभिनयेन करणेन कवेः साधारणं — कृत्वापि, कलनानिपुणस्य यः, अन्तर्गतोऽनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमनयो न तु लौकिक विषयजः रागान्ते एव देशकालादिभेदाभावात् सर्वसाधारणीभावेन आस्वादयोग्यः तं भावयन् आस्वादयोग्यी कुर्वन् भावक्षितिः लक्षण एवं उच्यते।

अभिनवगुप्त के इस कथन से यह स्पष्ट है कि कवि अपने लौकिक अनुभव को नहीं देता है, वह नट के अभिनय द्वारा साधारणीकृत हो आस्वादयोग्य बनता है। प्रश्न यह है कि क्या वियोगी कवि की आह सीधी ही आती है अथवा साधारणीकृत होकर? वाल्मीकि का क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थित शोक किस प्रकार श्लोक बना?

वास्तव में कवि के दो व्यक्ति होते हैं—एक लौकिक और दूसरा साधारणीकृत सहानुभूतिपूर्ण कलाकार का व्यक्तित्व। इसके अतिरिक्त उसका भावक का तीसरा व्यक्तित्व भी होता है। लौकिक व्यक्तित्व में वह साधारण मनुष्य की भाँति सुख में हँसता है और दुःख में रोता है किन्तु उसका कलाकार का व्यक्तित्व उनके रोने में भी एक सुरीला राग भर देता है। उसके निजी व्यक्तित्व का सुख-दुःख कलाकार को बल अवश्य दे देता है किन्तु कलाकार का व्यक्तित्व—'अयं निजः परो वा'—की लघु चेतना से ऊँचा होता है। लौकिक व्यक्तित्व में देश-काल का परिच्छेद रहता है और उसके अनुभव में उपादेयता, हेयता, आकर्षण, विकर्षण की निजी भावना रहती है। उसके साथ यह विचार रहता है कि यह अनुभव कुछ काल और बना रहे या क्षण भर भी न रहे। कलाकार का व्यक्तित्व साधारणीकृत है। वह अपने अनुभव को निजत्व और परत्व से परे पाता है। उसमें वह उसको शुद्ध रूप में आस्वाद करता है। वह आनन्दित होता है और अपने आनन्द का परिप्रेक्षण करता है।

क्रोचे ने भी कलाकार के दो व्यक्तित्व (एक लौकिक और दूसरा आदर्श) माने हैं। देखिए अभिव्यञ्जनावाद शीर्षक लेख।

मैं अपना उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। पाठक इस आत्म-विज्ञापन को क्षमा करें। १६२६ की बाढ़ में जब मेरा घर जल से परिवेष्टित हो गया था और मुझे उसके भावी अस्तित्व में शंका होने लगी थी उस समय में हँसने का प्रयास भी नहीं कर सकता था किन्तु थोड़ी देर बाद जब वह शङ्का मेरे मन से

मनुष्य के रोने में अन्तर था। उसका व्यक्तिगत शोक मित्रता के सम्बन्धों और मृत्युजन्य शोक की साधारण भावना प्रकट करने का एक अवसर बन गया था। कवि की आह व्यक्ति की आह नहीं होती वरन् कवि की कल्पना से अनुरञ्जित समाज की आह होती है। कवि की आह से गान ही निकलता है, रुदन नहीं। कवि अपने तीसरे व्यक्तित्व में अपनी कृति का भी आस्वाद लेता है।

इसी प्रकार पाठक या दर्शक के भी तीन व्यक्तित्व होते हैं। एक तो उसका लौकिक व्यक्तित्व जिसमें वह अपने निजी सुख-दुःख, शारीरिक चिन्ताओं आदि का अनुभव करता रहता है। दूसरा रसास्वादन का साधारणीकृत व्यक्तित्व जो देश-काल के क्षुद्र बन्धनों से परे होता है। रसिक भूखा रहकर भी काव्यास्वाद में कुछ काल तक के लिए अवश्य (मेरे प्रगतिशील भाई मुझे क्षमा करें) मग्न रह सकता है। रसिक अपने लौकिक अनुभव में भी कभी-कभी रसास्वाद कर सकता है किन्तु वह तभी होता है जब कि उसमें सात्विकता का प्राधान्य होता है। ममत्व और अहङ्कार से परे होना ही सात्विकता है।

साहसी लोगों को भय आदि के स्थलों में भी आनन्द आता है। उस समय वे निजी व्यक्तित्व और शारीरिक कुशल-क्षेम का ध्यान छोड़ देते हैं किन्तु यह सब लौकिक आनन्द ही है। ऐसे लौकिक आनन्द में व्यक्ति के लिए उपादेयता का भाव लगा रहता है। यह लौकिक और रसानुभूति की बीच की दशा है। काव्यानन्द इनसे भिन्न होता है। ऐसे ही बीच की दशा नाटक देखते समय उपस्थित हो जाती है जब कि नाटक के पात्रों को दर्शक वास्तविक समझ लेता है। कहा जाता है कि जब 'नील-दर्पण' नाटक का पहले-पहल अभिनय हुआ था तब एक सज्जन नाटक में प्रदर्शित गोरों के अत्याचार से इतने दुःखित हुए कि वे अपना निजी व्यक्तित्व भूलकर और नाटक को असलियत मानकर स्टेट पर जूता लेकर पहुँच गये और अत्याचारी को मारने लगे। यह तादात्म्य की पराकाष्ठा है किन्तु साधारणतया भी दर्शक में आश्रय-के से अश्रु, रोमाञ्चादि अनुभाव प्रकट हो जाते हैं। यह बीच की ही दशा है। वास्तविक रसानुभूति की दशा कुछ ऊँची है। उसमें पाठक या दर्शक का साधारणीकृत व्यक्तित्व ही रहता है।

———

काव्य के विभिन्न रूप

पाश्चात्य परम्परा—काव्य के कई प्रकार के भेद किये गये हैं। जहाँ मनुष्य के स्वभाव और वृत्तियाँ में भेद है वहाँ काव्य में भी जो उसकी भावप्रधान-प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति है, भेद होना आवश्यक है। भेद के कई आधार हैं। योरोप वालों ने व्यक्ति और संसार को अलग करके काव्य के दो भेद किये हैं—एक विषयीगत (Sudjective) जिसमें कवि को प्रधानता मिलती है और दूसरा विषयगत (Objective) जिसमें कवि के अतिरिक्त सृष्टि को मुख्यता दी जाती है। पहले प्रकार के काव्य को लिरिक (Lyric) अर्थात् वैणिक गीत अथवा भावप्रधान कहा गया है और दूसरे प्रकार को अनुकृत (महाकाव्य जिसका प्रतिनिधिरूप है) या प्रकथन त्मक (Narrative) कहा गया है। यह विभाजन प्रायः कविता (पद्य) का है। गद्य का भी ऐसा विभाजन किया जा सकता है। गद्यकाव्य को हम भावप्रधान कहें और शेष को अनुकृत या वर्णनात्मक किन्तु गद्य में विचारात्मक सामग्री का वही अंश लेंगे जिसे वास्तव मे काव्य कह सकें।

काव्य का यह विभाग युङ्ग के बतलाये हुए अन्तर्मुखी (Introvert) और वहिर्मुखी ((Extrovert) प्रकारों के अनुकूल बैठता है। अन्तर्मुखी वे लोग होते हैं जो अपने को ही मुख्यता देकर संसार से उदासीन रहते है और वहिर्मुखी वे लोग होते हैं जो अपनी अपेक्षा संसार की अधिक परवाह करते हैं। अन्तर्मुखी गीतकाव्य अधिक लिखते हैं और वहिर्मुखी अनुकृत काव्य की ओर प्रवृत्त होते हैं।

यद्यपि यह विभाजन मनोवैज्ञानिक है तथापि सदोष है। गेय तो अनुकृत काव्य भी हो सकता है (जैसे रामायण)। मुख्यता वैयक्तिक भावना की है। इस विभाग के बीच की रेखा निधारित करना बहुत कठिन है। कोई अनुकृत काव्य ऐसा नहीं जिसमें वैयक्तिक भावनाओं को प्रधानता न मिली हो और कोई ऐसा गीतकाव्य नहीं जिसका वाह्य संसार से सम्बन्ध न हो और जिसमे प्रकथन का थोड़ा-बहुत आधार न हो। फिर भी हम यह कह सकते है कि जिस काव्य में जिस बात की प्रधानता हो उसो नाम से हम उस काव्य को

पुकारेंगे। नाटक को प्राय: बीच का स्थान दिया जाता है। वह विषय-प्रधान तो है ही और उसमें कवि के तो नहीं किन्तु पात्रों के भाव महा-काव्य की अपेक्षा अधिक रहते हैं।

भारतीय परम्परा— भारतीय परम्परा में काव्य का कई आधारों पर विभाजन किया गया है। पहला आधार इन्द्रियों को प्रभावित करने का है। जो काव्य अभिनीत होकर देखा जाय वह दृश्यकाव्य है, जो कानों द्वारा सुना जाय वह श्रव्यकाव्य कहलाता है। यद्यपि श्रव्यकाव्य पढ़े भी जाते थे, (वाल्मीकि रामायण के लिए कहा गया है कि वह पढ़ने और गाने दोनों में मधुर है—'पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्') तथापि उनका प्रचार प्राय: गायन द्वारा ही हुआ करता था। वाल्मीकि रामायण के गेय गुण की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है—'मध्येसभंसमीपस्थाविदं काव्यमगाय-ताम्। तच्छ्रुत्वामुनय: सर्वे वाष्पपर्याकुलेक्षणा:'— ऐसा मालूम पड़ता है कि प्राचीन काल में काव्य के प्रचार के दो ही साधन अधिक प्रचलित थे, एक तो मूर्त्त अभिनय द्वारा जिसमें नेत्र और श्रवण दोनों को प्रभावित करना और दूसरा श्रोताओं के मन तक केवल श्रवणेन्द्रिय द्वारा पहुंच करना। उस समय वैयक्तिक जीवन इतना बढ़ा हुआ नहीं था कि लोग काव्य का आस्वाद कमरे मे बैठकर ही करें। उन दिनों काव्य की सामाजिकता बढ़ी हुई थी।

दृश्य-काव्य—दृश्यकाव्य मे जनसाधारण भी आनन्द ले सकते थे, श्रव्यकाव्य पठित समाज के लिए ही था। इसीलिए उसको पाँचवा वेद कहा है जिसमे कि शूद्र अर्थात् अल्प बुद्धि के लोग भी भाग ले सकें:—

न वेद व्यवहारोऽयं संश्राव्य: शूद्रजातिषु।
तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्॥

कालिदास ने मालविकाग्निमित्र मे आचार्य गणदास से कह-लाया है कि नाटक सब प्रकार की बुद्धि और रुचि के लोगों के अनु-कूल होता है—'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकंसमाराधनम्'—दृश्यकाव्य में देखने वाले को कल्पना पर अधिक जोर नहीं देना पड़ता। उसमें भूत भी वर्तमान की भाँति घटित होता हुआ दिखाई देता है। महाकाव्य, उपन्यास, विषय-प्रधान श्रव्यकाव्यों आदि में

भूत का वर्णन भूतकाल के रूप में ही किया जाता है। दृश्य-काव्य में कवि परमात्मा की भाँति अपनी सृष्टि मे अनुमेय रहता है, वह प्रत्यक्ष नहीं होता। श्रव्यकाव्य में पाठक और श्रोता का सीधा सम्बन्ध रहता है। दृश्यकाव्य में द्रष्टा और नाटक के पात्रों के बीच में कोई व्यवधान नहीं रहता। दृश्यकाव्य मे सृष्टि की अनुकृति जीते-जागते पात्रों द्वारा होती है। उसमें गीत, वाद्य, दृश्य-विधान काव्य के प्रभाव को बढ़ाने में एक विशेष उद्दीपन का काम करते हैं। वहाँ पर शब्दों को पात्रो की भावभङ्गी और चेष्टाओं द्वारा अधिक अर्थ-व्यक्ति प्राप्त होजाती है। श्रव्यकाव्य में शब्द ही मानसिक चित्र उपस्थित करते हैं, इसलिए उसमें ग्राहक-कल्पना का अधिक काम पड़ता है। श्रव्यकाव्य में वर्णन और प्रकथन (Narration) का प्रधान्य रहता है, दृश्य में कथोपकथन और क्रिया-कलाप का। श्रव्यकाव्य मे भी कथोपकथन रहता है किन्तु अपेक्षाकृत कम। दृश्यकाव्य में आजकल के बढ़ते हुए मञ्च के संकेत श्रव्यकाव्य के वर्णन का स्थान लेते जा रहे है।

नाटक में कवि एक प्रमुख अङ्ग अवश्य है किन्तु उसकी सफलता में उसके अतिरिक्त नट, नाटक, व्यवस्थापक, गायक, वाद्य, मञ्च-दृश्य और दर्शक भी योग देते हैं। नाटक एक बड़ी संकुल कला है। कवि को इन सब का ध्यान रखना पड़ता है। वह दर्शको के समय, अवधान-शक्ति और रुचि से बँधा रहता है, उसे पहले से ही इन सब अङ्गों की कल्पना कर लेनी पड़ती है। नाटक में जहाँ द्रष्टा की कल्पना पर कम बल पड़ता है वहाँ स्रष्टा की कल्पना पर अधिक भार रहता है।

कुछ लोग नाटक के लिए अभिनय को आवश्यक नहीं मानते। वे कहते हैं कि जिस प्रकार धन एक उत्तेजक वस्तु है (कवि के लिए धन की लालसा आवश्यक नहीं-) उसी प्रकार अभिनेयता भी एक उत्ते-जना-मात्र है। नाटक में भी कवि को अभिव्यक्ति का ही प्राधान्य है, मञ्च तो एक उपकरण-मात्र है। इस कथन से नाटक को श्रव्य से पृथक काव्य की विधा स्वीकार करने मे बाधा नहीं पड़ती है। उसमें जो कार्य-कलाप दृष्टिगोचर हो सकता है उसका वर्णन नहीं होता है। नाटक का जब अभिनय नहीं होता तब पाठकों की कल्पना पर अधिक

बल रहता है। यद्यपि बहुत से ऐसे नाटक हैं जो कक्ष नाटक (closet Dramas) कहे जा सकते हैं तथापि नाटक की पूर्णता अभिनय में ही है। नाटक शब्द का अर्थ भी नट से सम्बन्ध रखने वाला है। रूपक जो नाटक के लिए व्यापक शब्द है वह भी अभिनय से ही सम्बन्ध रखता है। 'रूपारोपात्तु रूपकम्'—साहित्यदर्पण। रूप के आरोप के कारण रूपक कहलाता है। जो वस्तु जिसमें न हो उसमें देखना ही आरोप कहलाता है।

गद्य और पद्य— आकार के आधार पर श्रव्य के पद्य, गद्य और मिश्रित (जिसका चम्पू एक भेद है) तीन विभाग किये गये हैं। गद्य की अपेक्षा पद्य में संगीत और आकार-सम्बन्धी भेद में अभेद की मात्रा अधिक रहती है। पद्य में आज-कल नियम और नाप-तोल का उतना मान नहीं रहा जितना श्रवण-सुखदाता का। छन्द लय के ढाँचे मात्र हैं। वे सर्व-सुलभ हैं। निराला, पन्त जैसे कुशल कवि छन्द के बिना भी लय की साधना करते हैं। यह भेद नितान्त आकार का ही नहीं वरन् भाव का भी है। पद्य मे गद्य की अपेक्षा भाव का प्राधान्य रहता है, गद्य का सम्बन्ध गद् धातु से है, वह बोल-चाल की स्वाभाविक भाषा है। पद्य का सम्बन्ध पद से है। इसलिए उसमें नृत्त-की-सी गति रहती है। वह भाव की गति और शक्ति के साथ बहती है।

प्रबन्ध और मुक्तक—बन्ध के आधार पर प्रबंध और मुक्तक नाम के दो विभाग किये गये हैं। प्रबन्ध में तारतम्य और पूर्वापर सम्बन्ध रहता है। मुक्तक काव्य के छन्द स्वतःपूर्ण होते हैं, वे एक दूसरे की अपेक्षा नहीं करते। प्रबन्धकाव्य में वर्णन, प्रकथन, पारस्परिक सम्बन्ध और सामूहिक प्रभाव का प्राधान्य रहता है। मुक्तक में एक-एक छन्द की साज-सम्हार पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

महाकाव्य और खण्डकाव्य—जीवन की अनेकरूपता और एकपक्षता के आधार पर महाकाव्य और खण्डकाव्य नाम के दो भेद किये गये हैं। महाकाव्य में एक निश्चित आकार के अतिरिक्त विषय की भी महानता और उदात्तता रहती है। उसका नायक व्यक्ति की अपेक्षा जाति का प्रतिनिधि अधिक रहता है। रघुवंश मे रघुवंशी राजाओं के गुण बतलाये गये हैं वे भारतीय मनोवृत्ति के साररूप हैं। खण्डकाव्य

में जीवन के एक ही पहलू या एक ही घटना को महत्ता दी जाती है। महाकाव्य के आकार सम्बन्धी नियम, (आठ सर्ग से अधिक होना, एक सर्ग मे एक ही छन्द का होना, प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगामी सर्ग की कथा की सूचना होना) उसकी महत्ता, प्रवन्ध-सुष्ठुता और सम्बद्धता का द्योतक है। महाकाव्य के रस (श्रृङ्गार, वीर, शान्त) और उसके नेता की श्रेष्ठता उसमें उदात्त भावों की व्यञ्जना करती हैं।

मुक्तक काव्य भी कई प्रकार का होता है। आकार की दृष्टि से दो भेद हैं—एक पाठ्य और दूसरा गेय जिसको प्रगीत भी कहते हैं, गेय मे पाठ्य की अपेक्षा वैयक्तिकता, भावात्मकता और आत्म-निवेदन का पक्ष अधिक रहता है, जहाँ वर्णन संगीतमय और हृदय के वैयक्तिक उल्लास के साथ होता है वहाँ वर्णनात्मक छन्द भी प्रगीत काव्य भी कोटि में आते हैं। सूरदास के लीला-सम्बन्धी पद इसके उदाहरण हैं। उनमे 'सूर के प्रभु' आदि छाप लगाकर सूरदासजी अपना निजी सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। तुलसीदासजी की विनयपत्रिका, महादेवी, निराला आदि के गीत इसी कोटि मे आयेंगे। कुछ मुक्तकों मे, जैसे गीतावली, विनयपत्रिका आदि में सिलसिला रहता है किन्तु प्रत्येक पद स्वतन्त्र होने के कारण ये भी मुक्तक की कोटि में आते हैं। इस युग में प्रबन्धकाव्य की अपेक्षा मुक्तक का अधिक मान है। इसका मूल कारण है, वैयक्तिकता का प्राधान्य। पिछले युग का कवि अपने व्यक्तित्व को अपने उपास्य के व्यक्तित्व मे समाविष्ट कर सकता था, आजकल का कवि अपने को प्राधान्य देता है।

गद्य के रूप—यद्यपि प्रबन्ध और मुक्तक का विभाग प्रधानतया पद्य का है तथापि गद्य में भी यह विभाजन लागू हो सकता है। उपन्यास महाकाव्य का स्थानापन्न होकर और कहानी खण्डकाव्य के रूप मे, गद्य के प्रबन्धकाव्य कहे जा सकते हैं। महाकाव्य उपन्यास की अपेक्षा इतिहास के अधिक निकट है। उसमें व्यक्ति को जाति के सम्बन्ध में ही देखा जाता है। इतिहास में जाति की प्रधानता रहती है। महाकाव्य मे व्यक्ति को महत्व मिलता है किन्तु जाति के प्रतिनिधि के रूप में। नाटक और उपन्यास मे व्यक्तियो को स्वयं उनके ही कारण मुख्यता मिलती है। इतिहास मे कार्यकलाप पर अधिक ध्यान रक्खा जाता है किन्तु उपन्यास और नाटकों मे वाह्य कार्यकलाप के

अतिरिक्त उनके प्रेरक आन्तरिक भावों पर भी बल दिया जाता है। गद्यकाव्य तो मुक्तक है ही, पत्र भी मुक्तक की कोटि मे आयेंगे। उनकी स्थिति निबन्ध और जीवनी की बीच-की-सी है। समस्त संग्रह की दृष्टि से एक-एक निबन्ध मुक्तक कहा जा सकता है किन्तु निबन्ध के भीतर एक विशेष बन्ध रहता है (यद्यपि उसमे निजीपन और स्वच्छन्दता भी रहती है)। वैयक्तिक तत्व की दृष्टि से गद्य के विभागों को हम इस प्रकार श्रेणीबद्ध कर सकते हैं, उपन्यास, कहानी (काव्य के इस रूप में उपन्यास की अपेक्षा काव्यत्व और निजी दृष्टिकोण अधिक रहता है), जीवनी (यह इतिहास और उपन्यास के बीच की चीज है, इसका नायक वास्तविक होने के कारण अधिक व्यक्तित्व-पूर्ण होता है। निबन्ध (इसमें विषय की वस्तुगतता (objectivity) के साथ वर्णन की वैयक्तिकता रहती है), पत्र (इनमें दृष्टिकोण नितान्त निजी होता है। ये व्यक्ति के होते हैं और व्यक्ति के लिए ही लिखे जाते है। इनको पढ़े चाहे कोई), गद्यकाव्य (इसमें विषय की अपेक्षा भावना का आधिक्य रहता है) गद्यकाव्य के तो ये सभी रूप है किन्तु गद्यकाव्य विशेष रूप से गद्यकाव्य है। इन विधाओं का पूर्ण विवरण इसके दूसरे भाग 'काव्य के रूप' में पढ़ सकते है। नीचे के चक्र से उपयुक्त विभाजन स्पष्ट हो जायगा :—
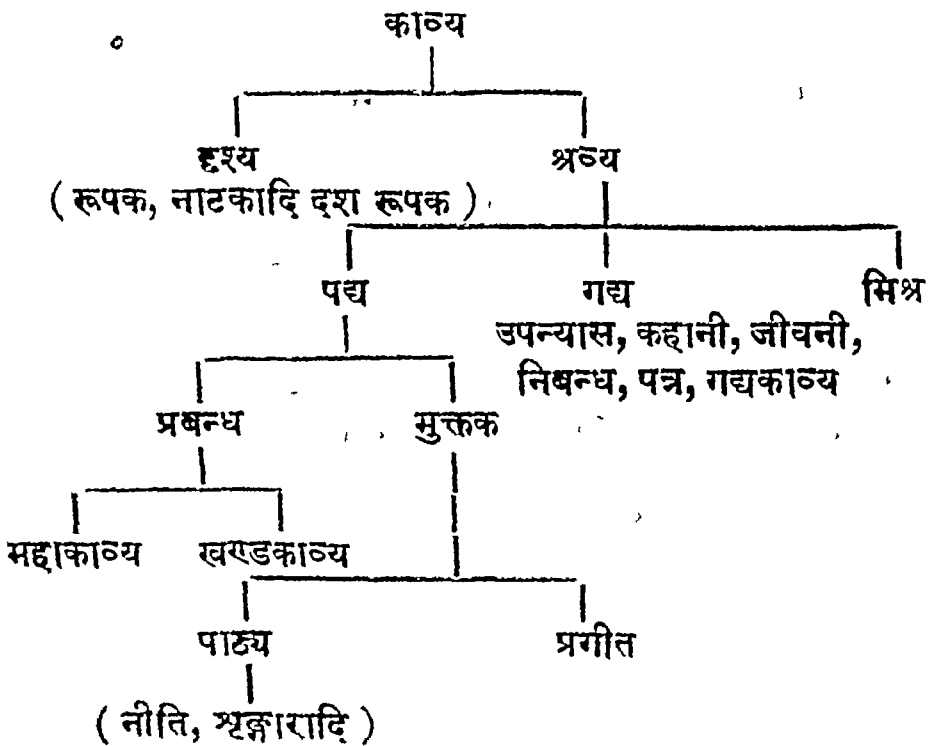
काव्य का कलापक्ष
(शैली के शास्त्रीय आधार स्तम्भ)

अभिव्यक्ति की आवश्यकता—आत्माभिव्यक्ति की इच्छा मनुष्य में स्वाभाविक है। यह उसकी सामाजिकता का परिणाम है। वह अपने हृदय के आनन्द को दूसरों तक पहुँचाकर उसका मिल-बाँटकर उपभोग करना चाहता है। यदि दूसरे साथी न भी हों तो उसे अपने भावों और विचारों को मूर्तिमान होते हुए देखकर प्रसन्नता होती है। यही कलाओं की प्रेषणीयता (Communicability) है। मनुष्य के लिए अभिव्यक्ति उतनी ही आवश्यक है जितना कि पुष्प के लिए विकसित होना। इसीलिए (Creative necessity) सृजन की (अदम्य) आवश्यकता, कला की एक मूल प्रेरणाओं में मानी गई है। गूँगे के गुड़ की भाँति मन-ही-मन आनन्द लेने वाले कबीर और दादू भी अपने हृदय के उल्लास को अपने तक सीमित न रख सके, साधारण शब्दों ने काम न दिया तो रूपकों और अन्योक्तियों का सहारा लिया गया। गूँगा भी 'सैना-बैना' का प्रयोग किये बिना नहीं रह सकता। 'स्वान्तःसुखाय रघुनाथ-गाथा' ? के लिखने वाले गोस्वामी तुलसीदास जी को अपनी कृति के 'बुधजनो' में आदर पाने की तथा सुजनो को प्रसन्नता देने की गौण रूप से तो अवश्य चिन्ता रही*। उनका स्वान्तः सुख इस बात में था कि वे अपने इष्टदेव की मर्यादापूर्ण लीलाओं तथा उनकी विमल विरुदावली का गान करें और दूसरे लोग भी उनके साथ गा सकें। इसीलिए शैली की अपेक्षा वस्तु को अधिक महत्व देते हुए भी (कवित्त विवेक एक नहिं मोरे) उन्होंने अपने समय की प्रायः सभी प्रचलित शैलियो को अपनाया ही नहीं वरन् अलंकृत भी किया।

भाव-प्रेषण की समस्या—इस समस्या को आई० ए० रिचर्ड्स (I. A. Richards) ने अपनी 'प्रिन्सीपिल्स ऑफ क्रिटि-

---

* भाग छोट अभिलाषु बड़, करउँ एक विश्वास।
पैहहिं सुख सुनि सुजन सब, खल करिहहिं उपहास॥

सिज्म' नाम की पुस्तक में उठाया है। क्या एक व्यक्ति अपनी मनोदशा या प्रभाव को दूसरे में स्थानान्तरित कर सकता है? वैसे तो अपनी मनोदशा का ज्यों-का-त्यों दूसरे में पहुँचा देना कठिन कार्य है। हम यह भी नहीं कह सकते कि दो मनुष्यों के मन में लाल रंग का एक-सा विचार है किन्तु इसका व्यावहारिक प्रमाण यह है कि किसी वस्तु को जो लाल है सभी लाल कहते हैं। सूक्ष्म मनोदशाओं के सम्बन्ध में यह प्रश्न कुछ जटिल हो जाता है। आध्यात्मवादी वेदान्ती लोग चाहे सब जीवों की ब्रह्म में एकता माने किन्तु व्यवहार में भेद मानते हैं। सम्भव है कि किसी अलौकिक साधन से एक के भाव दूसरे में पहुँच जॉय किन्तु साधारण मनुष्यों के पास भाषा का ही साधन है। भाषा द्वारा हमारे भाव दूसरे के मन में उसी प्रकार पहुँच जाते हैं जिस प्रकार टेलीफोन की विद्युत तरङ्गों की मार्फत हमारी आवाज दूसरी जगह पहुँच जाती है या रेडियो द्वारा सब जगह पहुँच जाती है। ग्राहक यन्त्र चाहिए।

इस अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में आई० ए० रिचर्ड्स से प्रेरणा लेकर यह कहा जा सकता है कि जितना व्यक्ति का विचार सुगठित होगा जितनी भाषा में मूर्तिमत्ता होगी और जितनी कि पाठक की वर्णित विषयों की जानकारी होगी, उसी मात्रा में समान भावों के उत्पन्न करने में सफलता मिलेगी। इसीलिए हमारे यहाँ पाठक को सहृदय कहा गया है। पाठक की ग्राहकता पर तो बहुत-कुछ निर्भर ही है, किन्तु लेखक और कवि के भावों की स्पष्टता, तीव्रता, सुगठितता और उनको व्यक्त करने वाली भाषा की व्यञ्जना-शक्ति प्रेषण को सफल बनाने वाले कारणों में गिनी जाती है। जिस प्रकार हम अपने समाज विशेष में किसी जाने-पहचाने मनुष्य के सम्बन्ध में अपने प्रभावों को दूसरे तक सफलता से पहुँचा सकते हैं उसी प्रकार भाषा द्वारा ऐसे चित्रों को उपस्थित करके जिनसे सब लोग परिचित हों हम अपनी भावाभिव्यक्ति में अधिक सफल हो सकते हैं। इसीलिए साधारणीकरण की तथा सबको अपील करने वाले गुणों, रूपकों और व्यञ्जना की आवश्यकता होती है। यद्यपि जितने दो व्यक्तियों के हृदय एक-से संस्कृत होंगे उतना ही अच्छा भाव-प्रेषण होगा तथापि सफल कवि की सञ्जीवनी शक्ति मुर्दों को नहीं तो अधमरों को जीवित कर सकती।

जैसा कि हम कह सकते हैं, शैली का महत्व अपने प्रभावों को समान रूप से दूसरों तक पहुँचाने में है, यह पूरा-पूरा तो सम्भव नहीं किन्तु अधिकांश में अवश्य सम्भव है। जिस प्रकार एक कवि अपनी रचना के सृजन में तथा पीछे से उसको पढ़कर भाव-मग्न हो जाता है, वैसे ही उसकी कलम के जादू से पाठक भी भाव-लहरी में अवगाहन कर सकते हैं।

वस्तु और आकार—काव्य के लिए दो वस्तुएँ अपेक्षित हैं 'वस्तु' (Matter) और उसकी अभिव्यक्ति का 'प्रकार' (Manner), वस्तु की अभिव्यक्ति के प्रकार को ही शैली कहते हैं। अभिव्यक्ति के साधन बदलते रहते हैं। जिस प्रकार मनुष्य का व्यक्तित्व उसकी चाल-ढाल, वेश-भूषा और शारीरिक एवं बोल-चाल की विशेषताओं में निहित रहता है, उसी प्रकार वह उसकी लेखन-शैली में भी तिल में तेल की भाँति नहीं (क्योंकि तिलों को कोल्हू में निष्पीड़न करना पड़ता है) वरन् पुष्प में सौरभ की भाँति व्याप्त ही नहीं वरन् उसके द्वारा प्रकट होता रहता है, तभी तो कहा गया है—'Style is the man' अर्थात् शैली ही मनुष्य (व्यक्ति) है।

व्यक्ति के साथ ही शैली का अपने विषय से भी 'गिरा अर्थ-जल-बीचि सम' अटूट सम्बन्ध है। वस्तु और शैली का पार्थक्य उतना ही असम्भव है जितना कि 'म्याऊँ' की ध्वनि का बिल्ली से। 'म्याऊँ' बिल्ली की अभिव्यक्ति है और बिल्ली को 'म्याऊँ' के नाम से पुकारना व्यक्ति, विषय और अभिव्यक्ति की एकता का एक ज्वलन्त उदाहरण हैं। तलवार की धातु और उसका आकार-प्रकार जिसमें उसका स्थूलत्व भी शामिल है, अलग नहीं किया जा सकता है। यदि वस्तु (Matter) है तो उनका कोई-न-कोई आकार (Form) होगा और यदि आकार है तो वह किसी-न-किसी पदार्थ का होगा। वस्तु से भिन्न आकार रेखागणित की वस्तु चाहे हो किन्तु वास्तविक जगत में उसका अस्तित्व कठिन है।

सापेक्ष महत्व—यद्यपि वस्तु और आकार को एक दूसरे से पृथक् करने की असम्भवना को प्रायः सभी स्वीकार करते हैं तथापि उनके अपेक्षाकृत महत्व पर लोगों का मतभेद है। तुलसीदास-सदृश

कवि वर्ण्य वस्तु को ही महत्व देते हैं और केशव जैसे पण्डित अलङ्कार को काव्य का परम आवश्यक उपकरण मानते हैं। यह बात किसी अंश में मान्य हो सकती है कि रचना का कौशल नगण्य वस्तु को भी चमका दे सकता है तथापि यदि वस्तु महान हो तो उत्तम कलाकार के हाथ में रचना रामचरितमानस की भाँति मणि-काञ्चन-संयोग का उदाहरण बन जाती है।

शैली क्या है ?—शैली शब्द के दो तीन अर्थ है—एक तो वह अर्थ है जिसमे कि यह कहा जाता है कि शैली ही मनुष्य है (Style is the man यहाँ इस अर्थ में शैली अभिव्यक्ति का वैयक्तिक प्रकार है। दूसरे अर्थ में शैली अभिव्यक्ति के सामान्य प्रकारों को कहते हैं। भारतीय समीक्षा-शास्त्र की रीतियाँ इसी अर्थ में शैलियाँ हैं। तीसरे अर्थ में शैली वर्णन की उत्तमता को कहते हैं। जब हम किसी रचना के सम्बन्ध में कहते हैं 'यह है शैली' अथवा किसी की विगर्हणा करते हुए कहते हैं कि 'यह क्या शैली है ?' या 'वे क्या जाने कि शैली क्या है' ? तब हम उसको इसी अर्थ मे प्रयुक्त कहते हैं। शैली में न तो इतना निजीपन हो कि वह सनक की हद तक पहुँच जाय और न इतनी सामान्यता हो कि वह नीरस और निर्जीव हो जाय। शैली अभिव्यक्ति के उन गुणों को कहते हैं जिन्हें लेखक या कवि अपने मन के प्रभाव को समान रूप में दूसरो तक पहुँचाने के लिए अपनाता है।

शैली में व्यक्तित्व और सामान्यता—कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि भारतीय समीक्षकों ने वैयक्तिक शैली की ओर ध्यान नहीं दिया, उन्होंने सामान्य (टाइपों) का ही विवेचन किया है। यह धारणा मिथ्या है। वास्तव में उन्होंने वैयक्तिक शैली की अनेकता स्वीकार की है और उसका व्यक्ति के स्वभाव के साथ सम्बन्ध भी माना है। आचार्य दण्डी ने कहा है:—'अस्त्यनेको गिरां मार्गं सूक्ष्मभेदः परस्परम्।' व्यक्तियों की शैली अनेक होते हुए भी उनमे कुछ सामान्य गुण होते हैं। व्यक्ति भी वर्गों में बाँटे जा सकते हैं। इसी प्रकार शैलियों के भी वर्ग होते हैं। हर एक व्यक्ति में उनका पृथक रूप होता है किन्तु उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। दण्डी ने कहा है गन्ने, दूध और गुण मिठास में अन्तर अवश्य होता है किन्तु उसका

वर्णन स्वयं सरस्वती भी नहीं कर सकतीं देखिए:—

इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात् ।
तद्भेदास्तु न शक्यते वक्तुं प्रतिकविस्थताः ॥
इक्षुक्षीरगुडादीना माधुर्यस्यान्तरं महत् ।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते ॥.

आचार्य कुन्तक ने इस बात को स्पष्ट करते हुए इसका सम्बन्ध व्यक्ति के स्वभाव से स्थापित किया है—वे कहते हैं कि शक्तिमान और शक्ति का भेद नहीं किया जा सकता। व्यक्ति के सुकुमारादि स्वभाव के अनुकूल ही उसकी शैली होती है किन्तु वैयक्तिक शैली की भिन्नता के कारण उसका विभाजन नहीं हो सकता। इसलिए उसके तीन मोटे विभाग किये गये हैं— 'कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थानभेदः समञ्जसतां गाहते। सुकुमार स्वाभावस्य कवेः तथाविधैव सहजाशक्तिः समुद्भवति, शक्तिशक्तिमतोरभेदात् ..... यद्यपि कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वादनन्तभेदभिन्नत्वमनिवार्यं, तथापि परिसंख्यातुमशक्यत्वात् सामान्येन वैविध्यमेवोपपद्यते। Style is the man, अर्थात शैली ही मनुष्य है—यह सिद्धान्त कुन्तक के विवेचन पढ़ लेने के पश्चात् नया नहीं मालूम पड़ता।

विशेष—यह अवतरण वी० राघवन की Studies on some concepts of the Alankar Shastra से लिया गया है। मेरे पास जो 'वक्रोक्ति जीवित' है उसमे यह अवतरण नहीं है। 'वक्रोक्ति जीवित' एक खण्डित पुस्तक के आधार पर सम्पादित है। उनका संस्करण पीछे का होगा, जो किसी दूसरी हस्तलिखित पुस्तक के आधार पर सम्पादित किया गया होगा। मेरी प्रति में यह बतलाया गया है ? कि तीन मार्ग दिग्दर्शन के रूप से ही बतलाये गये हैं। सारे सत्कवियों के कौशल के प्रकार किसी की भी शक्ति नहीं है—'एवं मार्गत्रितयं लक्षणं दिङ्मात्रमेव प्रदर्शितम्। न पुनः साकल्येन सत्कवि कौशलप्रकाराणां केनचिदपि स्वरूपमभिधातुं पार्यते'। इसमें शैली के व्यक्तित्व की स्वीकृत है।

रस से सम्बन्ध—हमारे यहाँ के आचार्यों ने इस तत्व को यूरोप की अपेक्षा कुछ अधिक महत्व दिया है। कवि-कुल-गुरु

कालिदास ने वाक् और, अर्थ के मेल को (वागर्थाविव सम्पृक्तौ) पार्वती-परमेश्वर के मेल का उपमान बतलाया है। हमारे आचार्यों ने तो वाणी और अर्थ को काव्य का शरीर मानकर रस को उसकी आत्मा माना है, इसलिए उन्होने वैदर्भी, पाञ्चाली, गौड़ी आदि रीतियों को गुणों के आश्रित माना और गुणा को भी रस का धर्म मानकर उनका सम्बन्ध ठीक काव्य की आत्मा से स्थापित कर दिया। मम्मटाचार्य का कथन है कि जिस प्रकार शौर्यादि आत्मा के ही गुण है, आकार के नहीं, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण भी काव्य की आत्मा के हैं। 'आत्मन एवहि यथा शौर्यादयो नाकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम्'।

माधुर्य और ओज का वर्णों और पदो से भी उतना ही सम्बन्ध है जितना कि शूरता का एक सुगठित शरीर से। सुगठित शरीर शूरता का द्योतक अवश्य होता है किन्तु है वह मानसिक गुण। इसी प्रकार यद्यपि माधुर्य की अभिव्यक्ति 'ण' को छोड़ कर टवर्ग एवं महाप्राण-रहित स्पर्श तथा वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त-वर्णों वाली समासरहित अथवा अल्प समास वाली कोमलक-कान्त पदावली द्वारा होती है, ओज गुण का प्रकटीकरण टवर्गप्रधान एवं वर्ग के पहले, दूसरे और तीसरे चौथे वर्णों के संयुक्त वर्णों, जैसे—वरक्ख, भरत्थ, स्वच्छ, वग्घो, क्रुद्ध, युद्ध आदि, द्वित्त और महाप्राण एंव लम्बे लम्बे समास वाले पदों द्वारा होते हैं तथापि इनका सम्बन्ध पाठको और श्रोताओं और कुछ-कुछ लेखकों और कवियो की भी मनोवृत्ति से है। इस प्रकार शैली कोई ऊपरी चीज नहीं जिसकी छाप वस्तु के ऊपर लगा दी जाय। जिस प्रकार आत्मा की अभिव्यक्ति के लिए शरीर आवश्यक है उसी प्रकार रस की अभिव्यक्ति के लिए शैली आवश्यक है। शैली रस से संश्लिष्ट है, केवल अध्ययन के लिए पृथक की जा सकती है।

शैली का व्यापक गुण—भारतीय समीक्षा में शैली का सम्बन्ध केवल भाषा से ही नहीं है वरन् अर्थ से भी है। इसीलिए गुण-दोष, शब्द और अर्थ दोनों के ही माने गये हैं। अलङ्कारों में भी शब्द और अर्थ दोनो को ही महत्व दिया गया है। इसी दृष्टि से हम शैली के विभिन्न अङ्गों का अध्ययन करेंगे और उनके आधार पर शैली के गुणो एवं प्रकारो का विवेचन करने का उद्योग करेंगे। इस वर्णन

के पूर्व हम शैली के एक व्यापक गुण पर प्रकाश डाल देना उचित समझते हैं। वह है अनेकता में एकता और एकता में अनेकता। एकता के बिना अनेकता, विरोध, वैषम्य और अव्यवस्था का रूप धारण कर लेती है और बिना अनेकता के एकता रङ्क और दरिद्र है। अनेकता में एकता द्वारा सम्बद्धता और सुसंगठन के गुण द्योतित होते हैं और एकता मे अनेकता द्वारा सम्पन्नता प्रतिपादित होती है। सुसम्बद्ध सम्पन्नता अर्थात् थोड़े मे बहुत की व्यञ्जना शैली का मूल गुण है लेकिन वह हो प्रसादयुक्त क्योंकि अति गूढ़ व्यञ्जना का भी निषेध किया गया है। इसी लिए हमारे काव्य में ध्वनि और व्यञ्जना को विशेष महत्ता दी गई है। सुसमन्वित एवं सुसम्पन्न एकता अच्छी शैली का व्यापक आदर्श है। भगवान् भी 'एकाकी न रमते'।

अनेकता में एकता का सिद्धान्त शैली के सभी अङ्गों में दृष्टि-गोचर होता है। भाषा और भाव की अन्विति के साथ में भाव की भी अन्विति रहती है। अनेकता में एकता सौन्दर्य का लक्षण है।

शास्त्रीय आधार—भारतीय अलङ्कार-शास्त्र के मुख्य अङ्ग हैं—गुण एवं दोष जिनके आने से रस का क्रमशः उत्कर्ष और अपकर्ष होता है, रीति, अलंकार, वक्रोक्ति लक्षणा, व्यञ्जना आदि शब्द-शक्तियाँ। अब हम इनका संक्षेप में वर्णन करेंगे।

गुण—शौर्यादि की भाँति रस के उत्कर्ष हेतु रूप स्थायी धर्मों को गुण कहा गया है। अलङ्कार भी उत्कर्ष के हेतु हैं किन्तु अस्थायी हैं। गुण दोषों के अभाव मात्र नहीं हैं। उनका भावात्मक पक्ष भी है। इसीलिए इन दोनों का पृथक वर्णन किया गया है। जिस प्रकार दोषों का न होना मात्र सौन्दर्य नहीं उसी प्रकार दोषाभाव मात्र गुण नहीं। इस बात को अधिकांश आचार्यों ने स्वीकार किया है। काव्य की परिभाषा में मम्मट ने पहले 'अदोषौ' और फिर 'सगुणौ' कहा है। बहुत सी पुस्तकों में (काव्यप्रकाश वाग्भट्टालङ्कार आदि मे) पहले दोषों का वर्णन है फिर गुणों का। वाग्भट्ट ने तो स्पष्ट कह दिया है कि दोष न रहते हुए गुणों के बिना शब्द और अर्थ शोभा नहीं उत्पन्न कर पाते। 'अदोषावपि शब्दार्थौ प्रशस्येते न यैर्विना'।

गुणों की संख्या—भरत, वामन आदि आचार्यों ने शब्द और अर्थ के दश-दश गुण माने हैं और भोज ने तो उनकी संख्या

चौबीस तक पहुँचा दी है। किन्तु मम्मट ने इन दशों को माधुर्य, ओज, प्रसाद तीन के ही भीतर लाने का प्रयत्न किया है, यद्यपि इस प्रयत्न में उनको आंशिक ही सफलता मिली है। पहली बात तो यह है कि इन दश गुणों की व्याख्या के सम्बन्ध में धर्म के तत्त्व की भाँति यही कहा जा सकता है कि "नैको मुनिर्यस्यवचः प्रमाणम्" और मम्मट ने यदि वामन के बतलाये हुए दश गुणों की अन्विति तीन में करदी है तो उससे और आचार्यों के बतलाये हुए गुणों में नहीं होती। इसके अतिरिक्त इन दस या बीस गुणों मे हमको शैली के बहुत से तत्त्व और प्रकार मिल जाते है।

तीन गुण --मुख्य रूप से तीन गुण माने जाते हैं। माधुर्य ओज और प्रसाद, इनका सम्बन्ध चित्त की तीन वृत्तियों से है। (१) माधुर्य का द्रुति, द्रवणशीलता या पिघलाने से है, (२) ओज का दीप्ति से अर्थात् उत्तेजना से और (३) प्रसाद का विकास से अर्थात् चित्त को खिला देने से है। प्रसाद का अर्थ ही है प्रसन्नता। प्रसाद तो सभी रचनाओं के लिए आवश्यक गुण है। इसीलिए जहाँ माधुर्य और ओज का तीन-तीन रसों से सम्बन्ध माना है वहाँ प्रसाद का सभी रसों से माना है। सूखे ईंधन मे अग्नि के प्रकाश अथवा स्वच्छ कपड़े में जल की झलक की भाँति प्रसाद, गुण द्वारा चित्त मे एक साथ अर्थ का प्रकाश हो जाता है और चित्त को व्याप्त कर लेता है:—

शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥

प्रसाद का सम्बन्ध सब रसों के साथ मानना इस बात का द्योतक है कि अर्थ की स्पष्टता को शैली मे कितना महत्व दिया गया है। क्लिष्टत्व, अप्रसिद्ध व अप्रतीतत्व आदि दोष भी अर्थ की स्पष्टता से ही सम्बन्ध रखते हैं। ध्वनिवादियों ने रस को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि माना है। इसका भी यही अभिप्राय है कि रस में भी व्यङ्ग्यार्थ का शुष्क ईंधन में आग की भाँति एक साथ अभिव्यक्त होना अभीष्ट है। प्रसाद गुण माधुर्य और ओज दोनों के साथ रह सकता है इसीलिए उसके दो उपमान अग्नि और जल दिये गये हैं। अग्नि का सम्बन्ध ओज से है और जल का सम्बन्ध माधुर्य से। उसे (जल को)

रस भी कहते हैं, विरोध माधुर्य और ओज का है। एक का सम्बन्ध चित्त की कोमल वृत्तियों से और दूसरे का सम्बन्ध कठोर वृत्तियों से है। जैसा कि ऊपर बतलाया है इन वृत्तियों के अनुकूल इनका सम्बन्ध रसों से किया गया है। माधुर्य गुण—सम्भोग शृङ्गार, करुण विप्रलम्भ और शान्त में क्रमशः बढ़ता है और ओजगुण वीर, वीभत्स और रौद्र में क्रमशः उत्कर्ष को प्राप्त होता है।

मम्मटाचार्य ने वृत्तयों और रीतियां को एक माना है। 'एतास्तिस्रो वृत्तयःवामनादीनां मते वैदर्भीगौड़ीपाञ्चाल्याख्या रीतयो मताः' वृत्ति और रीति में साधारणतया तो भेद नहीं किया जाता किन्तु इनमे थोड़ा भेद अवश्य है। वृत्तियों का विभाजन रचना के गुण पर है और रीतियों का वर्गीकरण देश या प्रान्त के आधार पर है। रीतियों का सम्बन्ध यद्यपि गुणों से है तथापि उनमे रचना के वाह्य रूप पर अधिक बल दिया गया है। वृत्तियो में मानसिक पक्ष की ओर भी संकेत रहता है। इस भेद को रूय्यक ने अधिक स्पष्टता प्रदान की है।

वृत्तियां का सम्बन्ध अर्थ से है। नाटकों में भी वृत्तियाँ मानी गई हैं। उनमें भाषा के अतिरिक्त अभिनय सम्बन्धी सभी बातें आजाती हैं। नाटकों में चार-वृत्तियाँ मानी गई हैं इनका रसों से इस प्रकार सम्बन्ध माना गया है:—

१—कैशिकी—शृङ्गार और हास्य।
२—सात्वती—वीर, रौद्र और अद्भुत।
३—आरभटी—भयानक, वीभत्स, रौद्र।
४—भारती—करुण और अद्भुत।

शृङ्गारे चैव हास्ये च वृत्तिः स्याद् कैशिकीति सा।
सात्वती नाम साज्ञेया वीररौद्राद्भुताश्रया॥
भयानके च वीभत्से रौद्रेचारभटी भवेत्।
भारती चापि विज्ञेया करुणाद्भुतसंश्रया॥

—नाट्य शास्त्र

आचार्य राजशेखर ने प्रवृत्ति और रीति में इस प्रकार अन्तर किया है— 'तत्र वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः, वचन विन्यासक्रमो रीतिः'—प्रवृत्तियों का भेद वेश विन्यास पर निर्भर है। वृत्तियों का विभाजन विलास-विन्यास (नृत्यादि के

आधार पर है, और रीतियों का विभाजन कथन के ढङ्ग पर अवलम्बित है।

एक बात अवश्य है कि दोनों रीतियाँ और वृत्तियाँ शैलियों के वर्ग से सम्बन्ध रखती हैं। अंग्रेजी शब्द Style वर्ग और व्यक्ति दोनों की शैली के लिए आता है। यह बात रीतियों और वृत्तियों में नहीं है। व्यक्ति की शैली के लिए शैली शब्द का ही व्यवहार होगा। रीतियों और वृत्तियों के विभाजन को भामह ने कोई महत्व नहीं दिया। इस नाम-भेद करने को उसने बुद्धिहीनां को भेड़ियाधसान कहा है:—

गौडीयमेदमेतत्तुवैदर्भिमितिकिं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नामाख्येयमेधसाम् ॥

हमारे यहाँ के कुछ आचार्यों में भेदों के न मानने की आधुनिक प्रवृत्ति पाई जाती है।

दश गुण—वामन आदि द्वारा स्वीकृत शब्द और अर्थ के दश-दश गुणों का वर्गीकरण यद्यपि बहुत वैज्ञानिक नहीं है तथापि उसके द्वारा शैली के गुणों और प्रकारों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इन गुणों का क्रम और उनकी व्याख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप से की है। यहाँ पर "रसगंधर" के क्रम के अनुसार गणों के नाम दिया जाते हैं:—

श्लेष. प्रसाद. समतामाधुर्यसुकुमारता।
अर्थव्यक्ति उदारत्व ओजः कान्तिसमाधय. ॥

श्लेष के सम्बन्ध में कहा है कि यह वह गुण है जिसमें एक जाति के वर्ण पास रक्खे जायँ, प्रसाद वह गुण है जिसके द्वारा चुस्त और शिथिल रचनाएँ बारी-बारी से लाई जायँ, समता वह गुण है जिसके द्वारा एक ही प्रकार की रचना प्रारम्भ से अंत तक रहे। माधुर्य और सुकुमारता करीब-करीब माधुर्य गुण से मिलते हैं। अर्थव्यक्ति तीन गुण वाले 'प्रसाद' का नामान्तर है। उदारता और ओज ओज के अन्तरगत है। कान्ति शोभा का विशेष नाम है। यह एक प्रकार से शैली की पौलिश-सी है। प्रसाद गुण की भाँति समाधि में गाढ़ और शिथिल रचनाएँ बारी-बारी से आती हैं, केवल क्रम का

अन्तर है। प्रसाद में पहले शिथिल फिर गाढ़ और समाधि में पहले गाढ़त्व और फिर शिथिलता रहती है। गाढ़त्व और शिथिलता को आरोह और अवरोह भी कहते हैं।

शैलियों के विभिन्न प्रकार—इन गुणों से कम-से-कम छः प्रकार की शैलियों का पता चलता है। वे रचनाएँ जिनमें गाढ़त्व या शैथिल्य एक-सा रहता है अथवा जिनमें बारी-बारी से आता है, इसके दो प्रकार होते हैं—एक में पहले शैथिल्य और पीछे गाढ़त्व और दूसरी में पहले गाढ़त्व और पीछे शैथिल्य—कान्ति वाली शैली, ओज तथा प्रसाद और सरलता वाली शैली। काव्यप्रकाश से प्रौढ़ि नाम की एक शैली का पता चलता है जिसमे समास, सुगाढ़ (Compact) तथा व्यास अर्थात् फैली हुई शैली का मिश्रण रहता है। एक पद के अर्थ मे वाक्य की रचना करना व्यास शैली कहलाती है और वाक्य के अर्थ मे एक पद की रचना करना समास शैली कहलाती है। व्यास और समास आजकल के नाम नहीं हैं

पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढ़िर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च॥

अर्थ के सम्बन्ध में इन गुणों का विवेचन इतना लाभदायक न होगा किन्तु उनका भी अध्ययन निष्फल न जायगा।

दोष और शैली की आवश्यकताएँ—दोषों के विचार से हमको यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हमारे आचार्यों ने शैली के सम्बन्ध में अर्थ और शब्द की ओर पूरा-पूरा ध्यान दिया है। उसी के साथ औचित्य पर भी पूरा विचार किया है। यद्यपि वाक्य विचार की इकाई (Unit of Thought) है तथापि दोष शब्द और वाक्य दोनों के ही माने गये हैं।

इन दोषों के अध्ययन से हमको शैली-सम्बन्धी निम्नोल्लिखित तथ्य मिलते है। दोष इसलिए बताये गये हैं कि उनसे रचना को बचाया जाय। यहाँ दोनों के आधार पर कुछ नियम रचना-सम्बन्धी वाञ्छनीय तत्वों के रूप में दिये जाते है। नियमों के साथ ही उनके उल्लङ्घन से जो दोष उत्पन्न होते हैं उनका उल्लेख कोष्ठक मे किया गया है।

१—रचना का सरल और सुबोध होना (क्लिष्टत्व दोष) वाञ्छनीय है और उसमें ऐसे शब्दों का प्रयोग न होना चाहिए जो पारिभाषिक अर्थ में विषय के ज्ञाताओं द्वारा ही समझे जाँय (अप्रतीतत्व दोष) अथवा अप्रचलित हों (अप्रयुक्त दोष) रचना के लिए शब्दों की पूरी छान-बीन कर लेनी चाहिए कि वे अर्थव्यक्ति की सामर्थ्य रखते हैं या नहीं।

२—रचना का गौरव अश्लील शब्दों द्वारा (अश्लीलत्वदोष) या ग्रामीण शब्दों द्वारा (ग्राम्यत्व दोष) बिगाड़ना वाञ्छनीय नहीं हैं।

३—रचना चुस्त होनी चाहिए—न उसमे अधिक पद हों (अधिक पदत्व दोष) और न न्यून पद (न्यूनपदत्व दोष) हों।

४—रस के अनुकूल शब्दावली का प्रयोग होना चाहिए (विपरीत रचना दोष) शब्दों को साधारणतया भावानुकूल होना वाञ्छनीय है। शृङ्गार रस की रचनाओं में कठोर वर्णन आना चाहिए। (श्रुतिकटत्व दोष) किन्तु वीर और रौद्र रस मे श्रुतिकटु दोष भी गुण हो जाता है।

५—रचना को व्याकरण-सम्मत होना चाहिए (च्युति संस्कृति दोष) किन्तु व्याकरण की शुद्धता-मात्र को रचना का सौष्ठव समझ लेना ठीक न होगा।

६—वाक्य का अन्वय ठीक होना चाहिए (अभवन्मत् सम्बन्ध और दूरान्वय दोष) वाक्य के समाप्त हो जाने पर उसके सम्बन्ध की बात फिर न लाई जाय या उसके बीच में दूसरी बात न आ जाय (समाप्तपुनरात्तं, त्यक्तपुनःस्वीकृत और गर्भित दोष) यही बात अनुच्छेदों के सम्बन्ध में भी लागू हो सकती है। वाक्य के समाप्त हो जाने पर फिर उसमें पूँछ लगा देना उसे शिथिल वाक्य बना देता है।

७—वाक्य में संगति और क्रम होना चाहिए—किसी वस्तु की महत्ता दिखाकर उसकी हीनता न दिखाई जाय या उसके विपरीत न किया जाय (व्याहत) और उत्थान-पतन एक क्रम से हो। इस सम्बन्ध में अक्रमत्व और दुष्क्रमत्व आदि दोष अध्ययन करने योग्य हैं। 'राजन् मुझे घोड़ा दो न हो तो हाथी ही दो' (दुष्क्रमत्व)

अलङ्कार—अलङ्कार भी शैली की उत्कृष्टता में सहायक होते

है। वे इतने ऊपरी नहीं हैं जितने कि समझे जाते हैं। उनका भी रस से सम्बन्ध है। इनकी भी उत्पत्ति हृदय के उसी उल्लास से होती है जिससे कि काव्य-मात्र की। (नारी के भौतिक अलङ्कारों को धारण करने में भी एक मानसिक उल्लास रहता है। उसी उल्लास के अभाव में विधवा स्त्री अलङ्कार नहीं धारण करती।) इसीलिए हृदय का ओज या उल्लास अलङ्कारों के मूल में माना जायगा। अलङ्कार रसानुभूति में भी सहायक होते हैं। उपमा रूपक आदि मानसिक चित्रों द्वारा स्पष्टता ही प्रदान नहीं करते वरन् अर्थान्तरन्यास दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, उदाहरण आदि अलङ्कारों द्वारा विचार की पुष्टि भी करते हैं। भ्रान्ति, सन्देह, स्मरण, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों द्वारा सादृश्य को नाना रूपों में उपस्थित किया जाता है। इसी प्रकार क्रम वा यथासंख्य अलङ्कारों द्वारा रचना में क्रम उपस्थित करते हैं तथा व्यतिरेक, विभावना, असङ्गति, विषम, व्याघात, द्वारा विरोध का चमत्कार उत्पन्न किया जाता है और दिखाया जाता है कि ब्रह्मा की सृष्टि से कवि की सृष्टि में विलक्षणता है। अन्योक्ति, समासोक्ति, पर्यायोक्ति एवं सूक्ष्म, पिहित आदि द्वारा उक्तिवैचित्र्य और वचन-चातुर्य का चमत्कार दिखलाया जाता है। कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार आदि शृङ्खलामूलक अलङ्कारों द्वारा प्रभाव को बढ़ायाजाता है। लोकोक्ति द्वारा भाषा में एक सजीवता लाई जाती है। शब्दालङ्कारों द्वारा शब्दमाधुर्य की सृष्टि की जाती है।

वक्रोक्ति —(अलङ्कार नहीं) वक्रतापूर्ण प्रयोगों से कथन में एक विशेष विदग्धता आ जाती है। कुन्तक ने गुण, रीति, अलङ्कार आदि सभी को वक्रोक्ति के अन्तर्गत कर दिया है। वक्रता का अर्थ एक प्रकार का सौन्दर्य है। कुन्तक ने शब्द और अर्थ के तथा शब्द-शब्द के एवं अर्थ-अर्थ के सामञ्जस्य पर बहुत बल दिया है। साहित्य का अर्थ ही है सहित होना—साम्य होने का भाव।

तीन मार्ग—कुन्तक ने शैली के तीन मार्ग माने हैं। एक सुकुमार और दूसरा विचित्र (यह विभाजन देशों आदि पर निर्भर न रहकर गुणों पर ही निर्भर है) और तीसरा मध्यम मार्ग जो इन दोनों के बीच का है। सुकुमार मार्ग में रस और भाव की प्रधानता रहती है

और विचित्र मार्ग में उक्ति और अलङ्कारों को मुख्यता मिलती है। सुकुमार मार्ग में स्वल्प और मनोहर विभूषण होते हैं और वे यत्न-पूर्वक नहीं लाये जाते हैं। 'अयत्नविहित स्वल्पविभूषणा' इसका सौन्दर्य सहज होता है। इसमें माधुर्य गुण की प्रधानता रहती है जो समासरहित पदों द्वारा व्यञ्जित होता है। समास के कारण प्रसाद गुण में भी बाधा पड़ती है। इस मार्ग का दूसरा गुण है प्रसाद। इसके द्वारा अर्थबोध सहज ही में हो जाता है। उन्हीं अर्थों द्वारा रस व्यञ्जित होता है। प्रसाद के साथ वक्रता उसी मात्रा में रह सकती है जिसमें कि वह अर्थबोध में बाधक न हो। तीसरा गुण है लावण्य, इसका सम्बन्ध शब्दों और वर्णों से है। अनुप्रासादि अलङ्कार इस गुण को लाने में सहायक होते हैं। इस मार्ग का चौथा गुण है आभिजात्य। इसमें शब्दों की सुकुमारता और शालीनता के साथ गठन का भी सौष्ठव रहता है।

विचित्र मार्ग में अलङ्कारों का प्राधान्य होता है; एक अलङ्कार दूसरे से गुम्फित रहता है। सुकुमार शैली में स्वकीया का-सा सहज अलङ्करण होता है। विचित्र शैली में गणिका-का-सा कृत्रिम साज-शृङ्गार और अलङ्कारों का प्रदर्शन पाया जाता है। इन दोनों से मिलता-जुलता बीच का मार्ग मध्यम मार्ग कहलाता है।

इन तीनों शैलियों के उदाहरणों में बतलाया है कि कालिदास और सर्वसेन की रचनाएँ सुकुमार मार्ग की कही जायँगी। बाणभट्ट, भवभूति और राजशेखर को रचनाएँ दूसरे मार्ग (विचित्र मार्ग) की हैं और मातृगुप्त, मायूराज और मञ्जीर की रचनाएँ मध्यम मार्ग की उदाहरण कही जायँगी। हिन्दी में भी सूर, तुलसी सुकुमार मार्ग के कहे जायँगे और केशव, बिहारी आदि विचित्र मार्ग के समझे जायँगे।

विशेष—कुन्तक का यह विभाजन बहुत अच्छा है किन्तु पूर्ण नहीं कहा जा सकता है। यह दो प्रकार की मनोवृत्तियों का द्योतक है। वैसे तो सुकुमार मार्ग वैदर्भी से समानता रखता है और विचित्र मार्ग गौड़ी के अनुकूल है किन्तु ये समानताएँ पूरी-पूरी नहीं हैं। गौड़ी में ओज की मात्रा रहती है, वह विचित्र में आवश्यक नहीं है।

छन्द—भावमयी भाषा में जो स्वाभाविक गति आ जाती है

छन्द उसी का बाहरी आकार है। छन्द मे वर्ण नृत्य की भाँति ताल और लय के आश्रित रहते हैं। छन्द भाषा को भावानुकूल बनाकर पाठक में एक विशेष ग्राहकता उत्पन्न कर देते हैं। शब्दों की ध्वनि द्वारा ही (शब्दों के अर्थ जाने बिना भी) थोड़ी-बहुत अर्थव्यञ्जना हो जाती है। छन्दों द्वारा जो सौन्दर्य का उत्पादन होता है उसके मूल में भी अनेकता में एकता का सिद्धान्त है। छन्द में शब्दों और वर्णों के विभेद में स्वरो की या मात्राओ को गणना का (वर्णों के लघु-गुरु-क्रम होने मे, जैसे वर्णवृत्तों में होता है अथवा मात्राओं की समानता में, जैसे मात्रिक छन्दों मे) साम्य रहता है। भेद में अभेद उच्चारण और श्रवण-सम्बन्धी इन्द्रियों को भी सुखकर होता है। नियम लय का ही आकार है। मुक्तक छन्द मे जो नियमों से परे होते हैं बँधे हुए आकार के बिना ही लय की साधना होती है। तुक का अब इतना मान नहीं जितना पहले था। तुक स्मरण रखने मे सहायक होती थी। गद्य मे अधिक तुकबन्दी दोष ही हो जाता है। गद्य में गति और लय होती है किन्तु वह पद्य की भाँति पूर्णतया व्यक्त नहीं होती है।

वृत्तियों और रीतियों का विभाजन

यद्यपि मम्मट के मत से जिसको हमने पृष्ठ १६६ पर उद्धृत किया है रीतियो और वृत्तियों का विभाजन करना और उनको भिन्न-भिन्न नाम देना बुद्धि हीनो का ('अमेधसाम्') काम है तथापि रीतियों का शैली से विशेष सम्बन्ध होने के कारण उनका जान लेना आवश्यक है। उनमें बहुत-कुछ सार है गुणों के द्वारा रीतियों और वृत्तियो का रस से सम्बन्ध है। वे रस की उपकर्त्री मानी गई हैं। रस के अनुकूल ही उनका वर्ण-विन्यास रक्खा गया है। माधुर्य गुणव्यञ्जक वर्णों और पदों से सम्बन्ध रखने वाली वृत्ति को 'उपनागरिका' कहते हैं और ओज गुण के अभिव्यञ्जक वर्णों और पदों वाली रचना को 'परुषा' कहते हैं। इन दोनों से भिन्न वर्णों वाली वृत्ति को 'कोमला' कहते हैं। वामन के मत से इनको वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली कहते हैं। इनके अतिरिक्त लाट देश (गुजरात) की लाटी अवन्ति की आवन्ती और मगध की मागधी रीतियाँ भी मानी गई हैं साहित्य दर्पणकार ने पदों के संघटन या संयोजन को रीति कहा है। उन्होंने इनको 'अङ्गसंस्थाविशेषवत्' अर्थात् मुखादि

आकृति की विशेषता के समान बतलाकर रस की उपकार करने वाली कहा है और इनके चार भेद माने हैं:—

पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्था विशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीना सा पुनः स्याच्चतुर्विधाः ॥

साहित्य दर्पणकार कविराज विश्वनाथ की मानी हुई चार रीतियाँ इस प्रकार हैं:—

१ - वैदर्भी—माधुर्य व्यञ्जक वर्णों से युक्त तथा समासरहित या छोटे समास वाला ललित रचना ।

२—गौड़ी—ओज अर्थात् तेज को प्रकाश में लाने वाले-वर्णों से युक्त, बहुत से समास और अडम्बरों से बोझिल उत्कट रचना ।

३—पाञ्चाली—दोनों से बचे हुए वर्णों से युक्त, पाँच या छः पद के समासों वाली रचना—

४—लाटी—वैदर्भी और पाञ्चाली के बीच की रचना ।

अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना

हम पहले ही कह चुके हैं कि सामञ्जस्य ही शैली का प्राण है। लक्षणा और व्यञ्जना भाषा की ऐसी शक्तियाँ हैं ,जिनमें भाषा सप्राण हो जाती है। इनका सम्बन्ध अर्थ से है और इनके द्वारा अर्थ में चित्रोपमता और सजीवता आती है। भाषा की तीन शक्तियाँ मानी गई हैं—अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना। अभिधा से साधारण अर्थ व्यक्त होता है। लक्षणा द्वारा अर्थ के विस्तार से भाषा में रबड़ की भाँति खिंचकर बढ़ जाने की शक्ति आती है। बँधे-बँधाये अर्थों को कुछ विस्तार और भिन्नता देने में जो बाधा पड़ती है, उसका लक्षणा-द्वारा शमन हो जाता है और भाषा में एक विशेष प्रकार की गतिशीलता आ जाती है। शब्दों के अल्प व्यय से अर्थ-बाहुल्य में सुलभता होती और, वाग्-वैदग्ध्य आ जाता है। वाक्य में प्रस्तुत शब्दों के अभिधा से प्राप्त अर्थों में एक चमत्कार भी उत्पन्न हो जाता है। व्यञ्जना में शब्दों का आधार लक्षणा से भी कम हो जाता है और शब्द से संकेत पाकर अर्थ उमड़ पड़ता है। व्यञ्जना के सहारे निबन्ध में चमत्कार पैदा हो जाती है और शैली में प्राणों की स्वयं प्रतीति होने

लगती है। वह शक्ति वाक्य-रचना में ऐसा प्रभाव पैदा कर देती है कि पाठक लेखक से तादात्म्य अनुभव करने लगता है। व्यञ्जना मे यह बात अत्यन्त वाञ्छनीय है कि अर्थ व्यङ्ग्य रहते हुए भी शब्द कहीं दुरूह न हो जाँय। अपरिपक्व और अधूरे लेखक व्यञ्जना का यथार्थ प्रयोग नहीं कर सकते और जो इसका सहज प्रयोग कर सकते है वे अपने प्रत्येक वाक्य को सारगर्भित, प्राणवान और सशक्त बना देते हैं। आचार्यों ने इन प्रधान शक्तियो के भी कई विभेद किये हैं। शैली में इस प्रकार भाषा और भाव का सामञ्जस्य इन तीनों शक्तियो के द्वारा होता है। इनके विशेष विवरण के लिए शब्द-शक्ति वाला अध्याय पढ़िए।

पाश्चात्य आचार्यों के मत—यद्यपि ऊपर बताया हुआ एकता में अनेकता और अनेकता में एकता वाला शैली का व्यापक आदर्श पूर्व और पश्चिम में एक सा ही है तथापि उस आदर्श की पूर्ति के साधनों एवं रूपों का विवेचन भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ है। इसी कारण लोग पूर्वी और पाश्चात्य मतों का भेद कर देते हैं। शैली के सम्बन्ध में पाश्चात्य आचार्यों ने काफी सोचा है किन्तु वहाँ के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है कि 'नैकोमुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्'। यहाँ पर हम अङ्गरेजी के उद्धरण न देकर श्री करुणापति त्रिपाठी लिखित 'शैली' नाम की पुस्तक से दो मत उद्धृत करते हैं। एक मत के अनुसार जो पाठक के मस्तिष्क पर पड़े हुए प्रभाव को मुख्यता देता है शैली के गुण इस प्रकार दिये गये हैं:—

'व्याकरण से सम्बद्ध शुद्धता के अतिरिक्त स्पष्टता (पारस्पिक्टी) सजीवता (विवेसिटी) लालित्य (ऐलिगन्स) उल्लास (ऐनीमेशन) और लय (म्यूजिक) इन पाँचो गुणों का होना आवश्यक है।' दूसरा मत मिंटो का है। उस मत के अनुसार नीचे लिखे गुण आवश्यक हैं।

'सरलता (सिम्पिल्सिटी) स्वच्छता (क्लीयरनैस) प्रभावोत्पादकता (स्ट्रेंग्थ) मर्मस्पर्शिता (पैथोस) प्रसङ्ग-सम्बद्धता (हार्मनी) और स्वरलालित्य (मैलोडी)।

तत्त्वों के अनुकूल गुण—इस सम्बन्ध में शैली के बौद्धिक और रागात्मक गुणों का भी उल्लेख हुआ है। मेरी समझ में काव्य

के तत्वों को ध्यान में रखते हुए शैली के गुणों के चार विभाग कर लेना चाहिए।

(१) रागात्मक (२) बौद्धिक (३) कल्पना सम्बन्धी (४) भाषा-सम्बन्धी। पहले तीन आन्तरिक होंगे और चौथा वाह्य कहा जा सकता है। रागात्मक गुणों में प्रभावोत्पादकता, मर्मस्पर्शिता, सजीवता और उल्लास कहे जा सकते हैं। बौद्धिक गुणों में संगति, क्रम और सम्बद्धता स्थान पायेंगे। कल्पना सम्बन्धी गुणों में चित्रोपमता मुख्य है। भाषा या शैली में व्याकरण की शुद्धता, सरलता, स्पष्टता, स्वच्छता, लालित्य, लय, प्रवाह आदि गुण उल्लेखनीय हैं (यहाँ शैली से शैली के बाहरी रूप से अभिप्राय है) अच्छी शैली में प्रायः ये सभी गुण वाञ्छनीय हैं किन्तु इन का विषय के अनुकूल न्यूनाधिक्य हो जाता है।

शैली के आन्तरिक और वाह्य दोनो प्रकार के गुणों की आवश्यकता है। सब से पहले हृदय मे उल्लास चाहिए। उसके बिना तो शैली मे न गति आयगी और न लय तथा ओज और माधुर्य। उल्लास के साथ ही विचारों मे संगति, क्रम और सम्बद्धता आवश्यक है। तभी शैली मे स्वच्छता और स्पष्टता आयगी। यदि शैली मे बौद्धिक नियमो का पालन नहीं होता है तो उसमें प्रसाद गुण का अभाव रहेगा। विचारो की उलझन भव्य भाषा के आवरण मे ढकी नहीं जा सकती। सुन्दर शरीर आन्तरिक गुणों के बिना मन में उतना ही आकर्षण उपस्थित करता है जितना कि विषरस भरा कनक घट। अन्तर और वाह्यय का साम्य ही साहित्य शब्द को सार्थकता प्रदान करता है।

शब्द-शक्ति

शक्ति:—'शब्द,' शब्द अपने विस्तृत अर्थ मे पृथक शब्दो का ही द्योतक नहीं होता वरन् उसके अन्तर्गत वाणी का समस्त व्यापार आजाता है। इस दृष्टि से वाक्य भी शब्द के ही अङ्ग माने जायँगे। शब्द तथा वाक्या की सार्थकता उनके अर्थ में है। अर्थवान शब्द ही शब्द कहलाते हैं। जिस शक्ति या व्यापार द्वारा अर्थ का बोध होता है उसे शक्ति कहते हैं (शब्दार्थसम्बन्धः शक्तिः) जितने प्रकार के अर्थ होगे उतनो ही प्रकार की शक्तियाँ होगी। शब्द के प्राय: तीन प्रकार के अर्थ माने जाते है—(१)अभिधा। अर्थात् मूल अर्थ जो प्राय: कोषों मे मिलता है, जैसे 'अश्व' का अर्थ 'घोड़ा' अथवा 'गर्दभ' का अर्थ 'गधा', ये अर्थ किसी पदार्थ,भाव या क्रिया का ओर निश्चित संकेत करते हैं। (२) लाक्षणिक अर्थ जैसा किसी मनुष्य के लिए हम कहें 'यह गधा है' तो उसका अर्थ होगा कि 'वह मूर्ख है'। (३) व्यङ्ग्यार्थ जैसे, 'संध्या होगई' यह वाक्य एक भौतिक घटना की ओर तो संकेत करता ही है किन्तु इसका अन्य अर्थ भी ध्वनित होता है, अर्थात् विद्यार्थी के लिए पाठ बन्द कर देना चाहिए, अथवा गृह लक्ष्मी के लिए दीपक बाल देना चाहिए। इन्हीं तीनो अर्थों के अनुकूल शब्द की तीन शक्तियाँ मानी गई है—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। कोई-कोई आचार्य तात्पर्य नाम की एक चौथी शक्ति भी मानते हैं। यद्यपि अर्थ-ग्रहण मे वक्ता, श्रोता और शब्द तीनो का ही योग रहता है, (शब्द ही वक्ता और श्रोता का मानसिक सम्पर्क कराते हैं) तथापि ये शक्तियाँ शब्द की ही हैं।

अभिधा—अभिधा वृत्ति द्वारा ही शब्द का मूल या मुख्य अर्थ जाना जाता है। इसके द्वारा ही शब्द के वाचक अर्थ का अर्थात् उन वस्तुओं, भावो और क्रियाओं का, जो उससे द्योतित होती है, ज्ञान होता है। अब यह देखना है कि अभिधा द्वारा शब्द और अर्थ का सम्बन्ध किस प्रकार का है ? न्याय ने यह सम्बन्ध सांकेतिक माना है और इसे ईश्वरेच्छा पर निर्भर रक्खा है। 'अस्मात् पदात् अयमर्थो बोधव्य इति ईश्वरेच्छा शक्तिः'—इस पद से यह अर्थ लेना चाहिए, ऐसी

ईश्वर की इच्छा को शक्ति कहते हैं। नव्य न्याय ने इच्छा को व्यापक बनाकर ईश्वरेच्छा मे सीमित नहीं रक्खा, उसमे मनुष्येच्छा को भी शामिल किया है। न्याय के अनुकूल शब्द अनित्य है वैयाकरण और मीमांसक शब्द और अर्थ दोनो को नित्य मानते हैं*। व्यवहार में दोनो मतो मे (विशेषकर वैयाकरण और प्राचीन नैयायिकों मे) विशेष अन्तर नहीं है। नव्य न्याय ने मनुष्येच्छा को भी शामिल कर नये शब्दों के निर्माण की सम्भावना स्वीकार की है। इच्छा-मात्र को भी मानना आपत्ति से खाली नहीं क्योंकि शब्दो का निर्माण मनुष्यों के किसी समझौते पर नहीं निर्भर है। स्वाभाविक रूप से ही शब्द और अर्थ का मेल हो जाता है। जो लोग शब्द और अर्थ को नित्य मानते है वे लोग भाषा की परिवर्तनशीलता की उपेक्षा करते हैं। कालान्तर में शब्दों का अर्थ सङ्कोच (जैसे मृग पहले जानवरमात्र को कहते थे, जैसे शाखा-मृग, पीछे से एक जानवर विशेष के लिए प्रयुक्त होने लगा) और विस्तार (जैसे प्रवीण शब्द से पहले वीणा बजाने की निपुणता का बोध होता था, फिर उससे सब बात की निपुणता का बोध होने लगा) को प्राप्त हो जाता है और कभी-कभी बदल भी जाता है। आज कल जब हम 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' की बात कहते हैं तब हम शब्द की स्वाभाविक अर्थबोधकता पर ही ध्यान देते हैं। उसके नित्यत्व और अनित्यत्व का प्रश्न हमारे मन से बाहर रहता है। शब्द और अर्थ को हम नित्य इसी अर्थ मे कह सकते हैं कि मनुष्य मे शब्द बनाने और उसके द्वारा अर्थ घोषित करने की शक्ति स्वाभाविक है और वह कालक्रम मे विकसित हो जाती है।

शब्द किसका वाचक होता है?—अर्थबोध में किसकी ओर

*नित्यता के सम्बन्ध मे वैयाकरण और मीमासकों का पारस्परिक मत-भेद है। वैयाकरण लोग चार प्रकार की वाणी को मानते हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। वैखरी वह है जिसे हम बोलते हैं। मध्यमा, पश्यन्ती और परा उत्तरोत्तर अव्यक्त, सूक्ष्म और भीतरी होती जाती हैं। वैखरी में वैयक्तिक विभेद भी होते रहते हैं। वैयाकरण मध्यमा, पश्यन्ती और परा को ही नित्य मानते हैं, मीमासक वैखरी को भी नित्य मानते हैं। वैयाकरण स्फोट को मानते हैं। मीमांसक स्फोट नहीं मानते हैं।

संकेत किया है? यह प्रश्न विविध दर्शनों में मतभेद का विषय रहा है। मीमांसक लोग अर्थबोध-जाति का ही मानते हैं, उनका कथन है कि 'गौ' कहने से 'गौ' जाति का बोध होता है किन्तु जब हम कहते है कि 'गौ लाओ' तब जाति नहीं लाइ जाती, अथवा 'गौ को खूँटे से बाँधो,' उस समय भी जाति को खूँटे से नहीं बाँधते, किसी व्यक्ति को ही बाँधते। व्यक्ति के सम्बन्ध मे यह आपत्ति उठाई जाती है कि व्यक्ति अनन्त है, जब शब्द किसी एक व्यक्ति का वाचक होता है तब वह किसी दूसरे व्यक्ति का किस प्रकार वाचक हो सकता है और जब हम यह कहते हैं नाम की श्वेत गौ घास चर रही है'—तब 'श्वेत' भी यदि व्यक्ति के लिए ही आता है तब क्या डित्थ, श्वेत और गौ तीनो ही शब्द पर्यायवाची होकर एक ही व्यक्ति के लिए आते है?

एक व्यक्ति के लिए तीन शब्दों का प्रयोग लाघव के विरुद्ध है। न तो निरी जाति मानने से ही काम चलता है और न केवल व्यक्ति के मानने से अर्थ सिद्धि होती है, इसलिए न्याय ने जाति-विशिष्ट व्यक्ति मे संकेत ग्रहण किया है। अर्थात् शब्द जाति के आधार पर व्यक्ति विशेष की ओर संकेत करता है। इस मत में व्यक्ति और सामान्य का समन्वय हो जाता है। वैयाकरण लोगो ने सांकेतिक अर्थ जाति गुण, क्रिया और यदृच्छा चारों प्रकार का माना है। 'डित्थ नाम की श्वेत गौ चलती है' यहाँ 'डित्थ' यदृच्छा इच्छापूर्वक दिया हुआ व्यक्ति का नाम है, 'श्वेत' गुण है, 'गौ' जाति है और 'चलती है' क्रिया है। मीमांसक लोग तो डित्थ आदि व्यक्तिवाचक नामों को भी जातिवाचक मानते है। उनका कहना है कि जितने आदमी डित्थ शब्द का उच्चारण करते है उन विभिन्न प्रकार के उच्चरित शब्दो मे डित्थित्व रहता है। बौद्ध लोग गौ से गौ को पृथक करने वाले अभावात्मक गुणों का जिसे वे अपोह कहते है, संकेत मानते है। वास्तव मे शब्द का संकेत या तो जाति विशिष्ट व्यक्ति में मानना चाहिए या अवसर और प्रसङ्ग के अनुकूल व्यक्ति, जाति, आकृति, क्रिया, आदि में मानना ठीक होगा।

अभिधा की मुख्यता—देवजी ने इन तीनों वृत्तियो मे अभिधा को मुख्यता मानी है, देखिए:—

> अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन।
> अधम व्यञ्जना रस विरस, उलटी कहत नवीन॥

यह कथन केवल इसी अर्थ में सार्थक हो सकता है कि लक्षणा और व्यञ्जना, अभिधा पर ही आश्रित रहती हैं। लक्षणा में भी अभिधार्थ से योग रहता है और व्यञ्जना भी अभिधा के आधार पर ही चलती है, जो व्यञ्जना लक्षणामूला रहती है अथवा जो व्यञ्जना पर भी चलती है, वह भी अन्त में अभिधा के ही आश्रय में कही जायगी किन्तु चमत्कार की दृष्टि से व्यञ्जना ही मुख्य है। उसमें कवित्व की मात्रा अधिक रहती है। रस में भी उसका ही काम पड़ता है। कभी-कभी अभिधा में भी चमत्कार रहता है, किन्तु व्यञ्जना का अधिक महत्व है। उसमें थोड़े में बहुत की बात, जो सौन्दर्य का गुण है, आ जाती है। कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने तो साकेत में गङ्गा में घर की सहजवाचकता का ही चमत्कार दिखाया है:—

बैठी नाव निहार लक्षणा-व्यञ्जना,
'गङ्गा में गृह' वाक्य सहज वाचक बना।

कभी-कभी मुहावरे के लाक्षणिक प्रयोग के साथ अभिधार्थ मिल जाने से भी चमत्कार बढ़ जाता है, जैसे:—

आँख दिखावति मूड़ चढ़ी मटकावति चन्द्रिका चाव से पागी।
रोवति सौंसुरी पाँसुरी में यह बाँसुरी मोहन के मुख लागी॥

'आँख दिखावति, मूड़ चढ़ी, मुख लागी'—ये प्रयोग अभिधार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों में ही सार्थक हैं। यहाँ पर 'मुहँ लगी' में अर्थ का बोध तो नहीं होता, लेकिन रूढ़ि के आधार पर लाक्षणिक अर्थ भी लग जाता है। कविवर बिहारीलाल ने भी राधारानी की बन्दना में रंगों के मिश्रण के ज्ञान का परिचय देते हुए अभिधा और लक्षणा का बड़ा सुखद संमिश्रण किया है.—

मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई परे स्याम हरित दुति होइ॥

श्याम और पीला रङ्ग मिलकर हरा रङ्ग हो जाता है। हरा रङ्ग प्रसन्नता का भी द्योतक है।

कभी-कभी शुद्ध अभिधा के प्रयोग बड़े भावव्यञ्जक होते हैं। प्रेमचन्दजी ने घी के अभाव के लिए गोदान में लिखा था, घर में आँख में आँजने तक को भी घी न था। सूर की स्वभावोक्तियों में अभिधा का ही चमत्कार है, उसमें चाहे रस की अभिव्यक्ति में

व्यञ्जना का प्रयोग हो जाय—'संदेसो देवकी सों कहियो'–आदि पद इसके उदाहरण हैं। इसलिए न यह कहना ठीक है कि अभिधा में चमत्कार नहीं है या अभिधा निकृष्ट काव्य है और न देव और शुक्लजी के साथ यह कहना उचित है कि अभिधा ही उत्तम काव्य है और लक्षणा व्यञ्जना मध्यम और निकृष्ट काव्य हैं और आचार्य शुक्लजी के अनुकूल 'जी का हाय! पतङ्ग मरे क्यों' के व्यङ्गार्थ मे चाहे चमत्कार न हो किन्तु बिना व्यङ्गार्थ अभिधार्थ निरर्थक रहता है। वास्तव मे इनको श्रेणीबद्ध करना उचित नहीं है। अपने-अपने स्थान मे सभी महत्व रखतो है। तीनो प्रकार के अर्थों मे पूर्ण चमत्कार हो सकता है। ये चमत्कार के प्रकार है, दर्जे नहीं है। इतना ही तथ्य है कि व्यञ्जना द्वारा चमत्कार की अधिक सधना होती है। लक्षणा मे भी व्यञ्जना की कुछ मात्रा है ही। रस मे भी व्यञ्जना का काम पड़ता है (कुछ लोग रस को व्यङ्ग्य नहीं मानते है), रस के व्यङ्ग्य होने का यही अभिप्राय है कि कोरी अभिधा से रस-निष्पत्ति नहीं होती है। अभिधा, लक्षणा और स्वयं व्यञ्जना से भी रस की सामग्री मिलतो है। अभिधा आदि के अर्थ फूल की भाँति है, रस फूल के सौरभ की भाँति है जो व्यञ्जना को वायु से व्यक्त हाता है।

आचार्य शुक्लजी ने भी अभिधा को ही मुख्यता दी है। शाब्दिक चमत्कार तथा अभिव्यञ्जनावाद के वे कुछ खिलाफ थे। उसीका यह प्रभाव मालूम होता है। उन्होने वस्तु-व्यञ्जना और रस-व्यञ्जना का अलग-अलग व्यापार माना है। इनमे भेद अवश्य है किन्तु इतना ही जितना कि एक व्यापक वस्तु के दो प्रकारो मे होता है। इसीलिए संलक्ष्यक्रम और असंलक्ष्यक्रम दो भेद किये गये हैं। रस-व्यञ्जना, व्यञ्जना से बाहर की वस्तु नहीं बन जाती है। यद्यपि वस्तु-व्यञ्जना अनुमान के थोड़ा निकट आ जाती है, तथापि जैसा माना गया है वह अनुमान या उसका प्रसार नहीं है। अनुमान के साधन इसमे काम नहीं आते। इसमे व्याप्ति की गुञ्जाइश नहीं। इसमे साधारणीकृत होने पर भी एक विशेष से दूसरे विशेष का परिस्फुटन होता है।

वस्तु-व्यञ्जना और रस-व्यञ्जना मे कल्पना के प्रयोग की मात्रा का ही भेद है। रस-व्यञ्जना मे संस्कार अधिक काम करते हैं, वस्तु

व्यञ्जना मे परिस्थिति और कल्पना। यह मात्रा का ही प्रश्न है दोनों मे दोनों ही सहायकों (अर्थात् कल्पना और संस्कार) की आवश्यकता पड़ती है।

विशेष—जो पाठकगण व्यञ्जना और ध्वनि से परिचित न हों वे कृपया व्यञ्जना और ध्वनि को पढ़ लेने के बाद इसे दुबारा पढ़लें। शुक्लजी का मत समझने के लिए चिन्तामणि भाग २ पृष्ठ १८३ पढ़िए।

लक्षणा—शब्द का अर्थ अभिधा मे ही सीमित नहीं रहता। वह उसके आगे भी जाता है। जहाँ मुख्यार्थ के बाध होने पर उससे ही सम्बन्धित दूसरा अर्थ रूढ़ि या प्रयोजन के आधार पर लगाया जाता है, वहाँ वह अर्थ लक्ष्यार्थ कहलाता है और जहाँ मुख्यार्थ मे बाधा न होने पर या लक्षणा का कार्य पूरा हो जाने पर उसके अतिरिक्त दूसरा अर्थ भी ध्वनित होता है, वह व्यङ्ग्यार्थ होता है। जिस शक्ति द्वारा लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है, उसे लक्षणा कहते हैं। काव्यप्रकाश मे लक्षणा की व्याख्या इस प्रकार है:—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥

अर्थात् जहाँ अभिधा द्वारा अर्थ की सिद्धि मे बाधा होने पर किसी रूढ़ि या प्रयोजन के आश्रित मुख्यार्थ से सम्बन्धित दूसरा अर्थ (आरोपित अर्थ) ग्रहण कर अवरोध दूर किया जाता है, वहाँ लक्षणा का व्यापार समझना चाहिए। इस प्रकार लक्षणा के व्यापार मे तीन बातें होती हैं।

(१) मुख्यार्थ का बाध (२) मुख्यार्थ से सम्बन्धित दूसरा अर्थ (३) इस अर्थ का रूढ़ि या प्रयोजन के आधार पर लगाया जाना, जैसे.—

फूले-फूले फिरत हैं, आज हमारो ब्याउ।
तुलसी गाय बजाय कै, देत काठ मे पाँउ॥

ब्याह करने वाला वास्तव मे काठ मे पैर तो नहीं देता है, वह तो चलता-फिरता रहता है (यह मुख्यार्थ मे बाधा हुई) काठ मे पाँव देना बन्धन का द्योतक है। इसलिए काठ मे पाँव देना बन्धन मे पड़ने के अर्थ मे आता है। यह मुख्य अर्थ से सम्बन्ध हुआ, यह अर्थ रूढ़ि या चलन के आधार पर लगाया गया है। मुहावरों मे प्रायः

ऐसी ही चलन की बात रहती है। लाक्षणिक प्रयोगों में प्रायः मूर्तिमत्ता आ जाती है जिसके कारण प्रभाव अधिक पड़ता है। बन्धन मे पड़ने की अपेक्षा काठ मे पैर पड़ जाना विशेष सजीव और चित्रोपम है। कविवर भिखारीदास का उदाहरण लीजिए :—

फली सफल मनकामना, लूट्यो अगनित चैन।
आज अँचइ हरि रूप सखि, भये प्रफुल्लित नैन॥

इसमें सभी प्रयोग लाक्षणिक हैं। वृक्ष फलते है, मनोकामना नहीं फलती, किन्तु पूर्ण होने में वह चमत्कार नहीं जो फलने मे। इसमे कुछ समय पर्यन्त प्रतीक्षा की बात तथा बाहुल्य एवं पूर्णता के साथ सरसता, माधुर्य आदि के भाव भी व्यञ्जित हो जाते हैं, इसी प्रकार लूटने मे जो भाव है वह प्राप्त करने मे नहीं। लूटने में बाहुल्य, प्रसन्नता, उत्साह, शीघ्रता और लुटेरे का अनधिकार व्यञ्जित हो जाता है। 'अँचइ' में जो बात है वह देखने मे नहीं, उससे एक दम तृष्णा के साथ अन्तस्तल तक पहुँच जाने और तृप्ति की बात व्यञ्जित होती है। प्रफुल्लित में खिले हुए फूल द्वारा हर्ष का मूर्त्तिमान चित्र बन जाता है। लक्षणा का चमत्कार व्यञ्जना से ही निखरता है। लक्षणा अभिधा को दिवालिए से साहूकार बना देती है। किन्तु उसे व्यञ्जना के बैंक का ही सहारा लेना पड़ता है। लक्षणा का चमत्कार अभिधा के विरोध के दूर करने, उसकी सीमा बढ़ाने और उसको मूर्त्तता देने में है। भाषा के बहुत से शब्द और मुहाविरे लक्षणा के ऊपर ही आश्रित होते हैं, सुराही की गर्दन, आलू की आँख, दबा हुआ, मुँह लाल, अपने पैर खड़ा होना, आदि ऐसे ही प्रयोग हैं।

रोज के व्यवहार में भी लक्षणा का प्रयोग होता है। जब ताँगा वाला पूछता है 'बाबूजी सवारियाँ कहाँ हैं'? और उसके उत्तर मे कहा जाता है कि सवारियाँ अमुक मुहल्ले मे घर पर है, उस समय सवारी का अर्थ वाहन नहीं होता है। सवारी यदि घर पर ही हो तो बाहर से ताँगा ले जाने की आवश्यकता ही क्या? यह मुख्यार्थ मे बाधा हुई। इसका तात्पर्य सवारी मे बैठने वाली या वाले औरतें या आदमी हैं। यह मुख्यार्थ से सम्बन्धित अर्थ है। इसमें अधार-आधेय का सम्बन्ध है। आधार को ही आधेय मान लिया गया है। इस सम्बन्ध का आधार है, रूढ़ि या चलन।

कुशल शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है, कुश लाने में समर्थ। ('कुशंलातीति कुशल:'– कुश लाना योग्यता का द्योतक है) किन्तु जब हम कहते हैं कि ये चित्रकला में कुशल हैं तो वहाँ मुख्यार्थ में बाधा पड़ती है। किन्तु यहाँ लक्षणा द्वारा योग्यता या निपुणता का भाव लक्षित है, लक्षणा द्वारा मुख्यार्थ का बाध दूर किया गया है। आचार्य विश्वनाथ कुशल शब्द मे लक्षणा न मानने के पक्ष में प्रतीत होते हैं। उन्होने कुशल शब्द मे लक्षणा मानने वालो का मत देकर उस पक्ष के विरोधी लोगों का भो मत देदिया है। उनका कहना है कि यों तो गौ मे भी लक्षणा आ जायगी। गो का अर्थ है चलने वाली। फिर 'गौ:शेते' मे भी लक्षणा हो जायगी। कालान्तर मे लाक्षणिक अर्थ रूढ़ हो जाते हैं।

निरुढ़ा और प्रयोजनवती—रूढ़ि और प्रयोजनवती रूप से लक्षणा के दो प्रकार तो उसकी परिभाषा मे ही आ जाते हैं। जो लक्षणा रूढ़ि के आधार पर लगाई जाय, वह रूढ़िलक्षणा कहलती है और जो प्रयोजन के आधार पर लगाई जाय वह प्रयोजनवती कहलाती है। जब हम कहते है–'गंगायां घोष:'–तो गङ्गा में गाँव की बात वास्तविक अर्थ में असम्भव हो जाती है, क्योंकि गङ्गा के प्रवाह मे गाँव ठहर नहीं सकता किन्तु लक्षणा द्वारा सामीप्य-सम्बन्ध से इसका अर्थ होता है—गङ्गा के निकट गॉव। गङ्गा के समीप न कहकर गङ्गा में कहने का प्रयोजन यह है कि गॉव की पवित्रता और शीतलता पर बल दिया जा सके। गङ्गा के भीतर कहने मे गङ्गा के गुणो का अधिक सम्पर्क हो जाता है। 'गांधीजी डेढ़ पसली के आदमी थे'—आदमी डेढ़ पसली का तो नहीं होता है, गाधीजी के भी और मनुष्यो की भॉति २४ पसलियॉ होगी किन्तु डेढ़ पसली कहने से शरीर की क्षीणता और हलकेपन का द्योतन करना प्रयोजनीय है। कालिङ्ग साहसी होते हैं ये कालिङ्ग का रूढ़ अर्थ है कालिङ्ग बासी। यहाँ रूढ़ लक्षणा।

गौणी और शुद्धा—यह विभाजन मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध पर निर्भर है। जहाँ यह सम्बन्ध सादृश्य का होता है वहाँ लक्षणा गौणी (अर्थात् सादृश्य गुण से सम्बन्ध रखने वाली) कहलाती है और जहाँ सादृश्य के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध होता है, जैसे आधार-आधेय वा अङ्गी और अङ्ग का सम्बन्ध होता है, वहाँ

वह शुद्धा कहलाती है। चन्द्र-मुख में जो लक्षणा है वह सादृश्य के आधार पर होने के कारण गौणी है किन्तु—'मञ्चाःक्रोशन्ति'—मञ्च चिल्ला रहे हैं, अथवा लाठियाँ जा रही है, इनमे सादृश्य का सम्बन्ध नहीं है। इसलिए ये उदाहरण शुद्धा लक्षणा के कहे जायँगे।

उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा

यह विभाजन मुख्यार्थ के बनाये रखने या छोड़ने के आधार पर है। जहाँ पर मुख्यार्थ बना रहकर अपनी सिद्धि के लिए और दूसरी वस्तुओं को भी लेता है, वहाँ उपादान लक्षणा होती है। उपादान का अर्थ है सामग्री। जहाँ पर मुख्यार्थ लक्ष्यार्थ-सामग्री के रूप में ग्रहण कर लिया जाता है - 'यष्टयः प्रविशन्ति' लाठियाँ आती है—यहाँ लाठी के साथ ही लाठी को ग्रहण करने वाले लोग भी सम्मिलित कर अर्थ की पूर्ति कर ली जाती है। द्वार रखाये रहना, यहाँ पर द्वार से अभिप्राय केवल द्वार से ही नहीं, द्वार से सम्बन्धित मकान भी है। द्वार रखने का यह अर्थ नहीं है कि केवल द्वार की रक्षा की जाय और सारे घर की परवाह न की जाय। यहाँ पर द्वार रखाये रहने का अर्थ विद्यमान है ही किन्तु इस अर्थ की पूर्ति के लिए और घर-बार भी ले लिया गया है, इस लिए यहाँ पर उपादान लक्षणा है। इसको अजहत् स्वार्था (अर्थात् जिसने नहीं त्यागा है अपना अर्थ) लक्षणा भी कहते हैं।

जहाँ मुख्यार्थ लक्ष्यार्थ की सिद्धि के लिए अपने को समर्पण कर देता है वहाँ लक्षित अर्थ का ही प्राधान्य होता है। मुख्यार्थ का उपयोग नहीं होता है। इसीलिए उसे जहतस्वार्था भी कहते। 'अंचइ हाररूप' में 'अँचइ' अपना 'पीना' अर्थ का बलिदान कर अर्थ की स्पष्टता के लिए सक्रिय रूप से देखने और आस्वाद लेने के अर्थ को स्वीकार करता है। कभी-कभी अर्थ बिलकुल पलट भी जाता है। जैसे किसी मूर्ख से कहें कि आप तो साक्षात् बृहस्पति है तो बृहस्पति का अर्थ मूर्ख ही होगा। घनानन्द मे 'विश्वासी' का प्रयोग 'विश्वास करने के अयोग्य' के अर्थ में हुआ है।

सारोपा और साध्यवसाना—यह भेद इस बात पर निर्भर है कि उपमेय पर जो उपमान का आरोप होता है, उसमे उपमेय और उपमान दोनों रहते हैं, अथवा केवल उपमान से ही काम चलाया

जाता है, अर्थात् वही उपमेय का स्थान ले लेता है। जब हम श्याम की चपलता द्योतित करने के लिए यह कहें कि श्याम नाम का लड़का बिजली है, तब इस वाक्य में श्याम भी है जिस पर आरोप किया गया है और बिजली भी है, जो शब्द श्याम पर आरोपित हुआ है। यहाँ पर सारोपा लक्षणा होगी किन्तु यदि हम यह कहें कि बिजली जा रही है, तब वह साध्यवसाना लक्षणा हो जायगी। रूपकातिशयोक्तियों में (जैसे कमल पर दो खञ्जन बैठे हैं, कमल मुख के लिए आया और खञ्जन नेत्रों के लिए अथवा सूर के 'अद्भुत एक अनूपम बाग' वाले पद में) साध्यवसाना लक्षणा ही लगती है।

गूढ़ व्यङ्ग्या, अगूढ़ व्यङ्ग्यादि और भी भेद हैं, किन्तु वे गौण हैं। यह भेद तो व्यङ्ग्य की गूढ़ता पर आश्रित हैं। यहाँ पर मात्रा का प्रश्न आ जाता है और यह बात सुनने वाले की शिक्षा-दीक्षा पर भी निर्भर रहती है। मूर्ख के लिए अगूढ़ व्यङ्ग्या भी गूढ़ हो जायगी। रूढ़ शब्द भी सापेक्ष है। कालान्तर में प्रयोजनवती भी रूढ़ बन जाती है। आग लगाना अब मुहावरा होगया है। इन प्रकारों के योग से लक्षणा के कई प्रकार हो जाते हैं। इन योगों के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। कुछ लोग तो रूढ़ा या निरूढ़ा और प्रयोजनवती में बराबर के प्रकार मानते हैं। कुछ प्रयोजनवती में अधिक मानते हैं। रूढ़ा में गूढ़ और अगूढ़ व्यङ्ग्य का भेद नहीं होगा क्योंकि रूढ़ में व्यङ्ग्य रहता भी नहीं है। किन्हीं-किन्हीं ने गौणी में उपादान और लक्षण-लक्षणा का भेद नहीं माना है। मोटे तौर से लक्षणा के भेद नीचे के चक्र में दिये जाते हैं:—
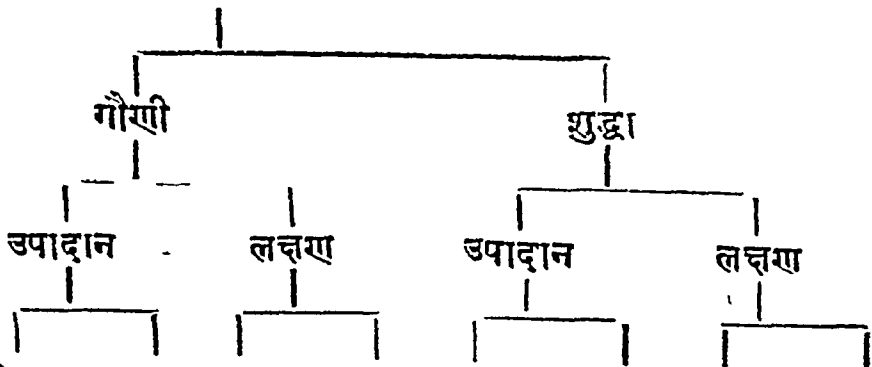
ये दोनों लक्षणाएँ जहाँ तक साथ जाती हैं वहाँ तक दी गई हैं यह विभाजन साहित्यदर्पण के अनुकूल है।

उदाहरण—

घी आयु है—प्रयोजनवती (पौष्टिकता और आयुवर्धकता दिखाना प्रयोजन है) शुद्धा (यहाँ पर सादृश्य सम्बन्ध नहीं है) लक्षण लक्षणा (यहाँ आयु ने अपना स्वार्थ छोड़ दिया है) सारोपा।

पतझड़ था, झाड खड़े थे
सूखी सी फुलवाड़ी में,
किसलय नव कुसुम बिछाकर
तम आये इस क्यारी में।

प्रयोजनवती जीवन की शुष्कता और नीरसता दिखाने के लिए, लक्षण-लक्षणा, गौणी (सादृश्य है) साध्यवसाना (यहाँ पर केवल उपमान ही है।

अनबूढ़े, बूढ़े, तिरे जे
बूढ़े सब अङ्ग।

इसमें 'बूढ़े' के दो भिन्न लाक्षणिक अर्थ है। रूढ़ा, गौणी, लक्षण, साध्यवसाना।

भाले आते हैं—प्रयोजनवती (उनके धारण करने वालों की तीक्ष्ण स्वभाव दिखाने का प्रयोजन) शुद्धा, (यहाँ सम्बन्ध धार्यधारक का है, सादृश्य का नहीं है) इसमे 'ये' वा 'वे' शब्द नहीं हैं, इसलिए साध्यवसाना है। जिस वस्तु पर भाले का आरोप है वह नहीं है, यह उपादान लक्षणा है, इसमे भाले का अर्थ भी रहा है, पूर्ति के लिए दूसरा शामिल किया गया है, भाले को धारण करने वाले। इसको रूढ़ि भी कह सकते हैं, बहुत दिन की प्रयोजनवती रूढ़ि हो जाता है।

निर्दयता की मारों से
उन हिंसक हुँकारों से
नत मस्तक आज
कलिंग हुआ।
—प्रसाद

पहली पक्ति में निर्दयता का अर्थ है निर्दयतापूर्ण मनुष्यों की मारो से, यहाँ पर निर्दयता शब्द अपना अर्थ बनाये रखकर अपनी पूर्ति के लिए एक और अर्थ स्वीकार करता है, उपादान लक्षणा है। यहाँ लक्षणा मे गुण और गुणी-सम्बन्ध है, इसलिए शुद्धा है। निर्दयता की अतिशयता दिखाने के लिए निर्दय को ही साकार बना दिया है, इसलिए प्रयोजनवती है। इसी प्रकार 'हिंसक हुँकार' में भी

लक्षणा लगाई जायगी।

'नतमस्तक आज कलिङ्ग हुआ' कलिङ्ग देश का नाम है। रूढ़ा लक्षणा से इसका अर्थ हुआ—कलिङ्ग देशवासी। इसमे कलिङ्ग अपना अर्थ बनाये रखकर पूर्ति के लिए दूसरे अर्थ को स्वीकार करता है, इसलिए इसमे उपादान लक्षणा हुई। इसमे देश और देशवासियों का आधार-आधेय-सम्बन्ध है, इसलिए शुद्धा हुई। यहाँ पर आरोप का विषय पृथक नहीं है, इसलिए साध्यवसाना 'नतमस्तक भी लाक्षणिक शब्द है।

छल मे विलीन बल—यहाँ पर 'छल' से अर्थ है, छली लोगों का, 'विलीन' का अर्थ है परास्त हुए। यहाँ पर प्रयोजनवती लक्षणा है (छल और बल का आधिक्य दिखाने के लिए उसे मूर्त्तिमान किया), उपादान (छल और बल ने अपनी पूर्ति की है अर्थ त्यागा नहीं है), शुद्धा और साध्यवसाना है।

विशेष—भाषा पर लक्षणा का साम्राज्य बहुत दिनों से चला आ रहा है। हमारे मुहावरे, रूपक आदि लक्षणा पर ही आश्रित हैं। कल्पना के लिए मूर्तमत्ता आवश्यक रहती है। चारपाई, सुराही की गरदन, पंखा (पंख), पत्र (पत्ते) पहाड़ की चोटी, चोटी के विद्वान, कविता के चरण, गगनचुम्बी, धरातल, चरण-कमल, ध्यान-मग्न होना, पार पाना, प्रकाशित करना, खो जाना (भूल जाने के अर्थ में), बात काटना, पोता फेरना, आग लगाना, बात उगलना, (कबूल लेने के अर्थ में), अंकुरित होना, सूत्रपात करना इत्यादि। इसीलिए भाषा में मुहावरों का महत्व है। उनसे शैली में सजीवता, मूर्तिमत्ता और परम्परा के साथ चलने की प्रसन्नता आती है। लाक्षणिक प्रयोगों को अभिधार्थ मे लेने से कभी-कभी सुन्दर हास्य की सामग्री भी उपस्थित हो जाती है, जैसे, किसी ने कहा 'भूख लागी है' तो उत्तर में कहा 'धो डालो', यदि कोई किसी काने अफसर को कहे 'वे तो सबको एक ऑख से देखते हैं' तो अभिधा का लक्ष्यार्थ लगाया जायगा। यदि किसी के पास कुछ पैसे हों तो उससे कहा जाय कि अब तो आप पैसे वाले हो गये, यहाँ पैसे वाले का लाक्षणिक अर्थ लिया गया है;

व्यञ्जना किसे कहते हैं?—अभिधा और लक्षणा के विराम लेने पर जो एक विशेष अर्थ निकलता है उसे व्यङ्ग्यार्थ कहते हैं और जिस वृत्ति या शक्ति के द्वारा यह अर्थ प्राप्त होता है उसे व्यञ्जना कहते हैं। 'संध्या होगई,' यह घटना विशेष है। अभिधा इसकी सूचना देकर काम कर चुकी, इससे जो विशेष अर्थ निकला या संकेत हुआ वह यह है 'दीपक जला दिया जाय' अथवा 'पाठ समाप्त करो'। भिन्न-भिन्न परिस्थितिओं और भिन्न-भिन्न पुरुषों के लिए इसका विशेष अर्थ होगा। इसी प्रकार 'गंगायां घोषः' (गंगा में गाँव) का अर्थ गंगा तट पर गाँव है। लक्षणा समाप्त हो गई, इसके अतिरिक्त भी कुछ बाकी रह जाता है, वह यह है कि गाँव बड़ा शीतल और पवित्र है। और एक व्यञ्जना हो सकती है कि वहाँ जाकर बसना चाहिए, वहाँ गंगास्नान की सुविधा होगी। अभिधा और लक्षणा मे तो व्यञ्जना लगती ही है, किन्तु व्यञ्जना पर भी व्यञ्जना लगती है, जैसे यदि कोई कहे—'अभी मुंह तक नहीं धोया है' इसका व्यङ्ग्यार्थ यह होगा कि मैं यहाँ अब ठहर नहीं सकूँगा। इसका व्यङ्ग्यार्थ है कि जो काम आप मुझको बतलाते है मैं न कर सकूँगा, दूसरे को दे दीजिए। इसी प्रकार पहले समय निश्चित कराकर रात को किसी के घर जाँय और कहें कि बत्तियाँ सब गुल हो चुकी हैं, इसकी व्यञ्जना होगी कि सब लोग सो चुके हैं। इसके ऊपर भी व्यञ्जना यह होगी कि भले आदमियों ने हमारा इन्तजार नहीं किया और हमारे आने की उनको परवाह नहीं है।

व्यञ्जना के भेद—व्यञ्जना के अनेकों भेद हैं। इनकी भूल-भुलैयों में न पड़कर उसके मुख्य भेद बतला देना पर्याप्त होगा। व्यञ्जना के पहले तो शाब्दी और आर्थी दो भेद किये जाते हैं। शाब्दी व्यञ्जना में शब्दों की मुख्यता रहती है अर्थात् व्यञ्जना के लिए वे ही शब्द विशेष रहें तभी व्यञ्जना हो सकेगी। आर्थी में यह प्रतिबन्ध नहीं है। शाब्दी व्यञ्जना का दूसरी भाषा मे अनुवाद कठिन होता है। आर्थी के अनुवाद मे विशेष कठिनाई नहीं पड़ती।

अभिधामूलक शाब्दी व्यञ्जना द्वारा भिन्नार्थक शब्दों का अर्थ निश्चित किया जाता है। केवल अभिधा तो विभिन्न अर्थ देकर विराम लेगी उनमें से कौन अर्थ लागू होगा यह व्यञ्जना द्वारा निश्चित होगा।

लक्षणामूला मे व्यञ्जना के वे रूप आते है जो लक्षणा मे व्यञ्जित होते हैं। जितनी प्रकार की लक्षणा होती है उतने ही उसके रूप हो जाते हैं।

भिन्नार्थक शब्दों मे कौन अर्थ लगेगा? आचार्यों ने इसके नियम दिये हैं और वे अर्थ-ग्रहण और व्याख्या मे बहुत सहायक होते हैं। उनमे से कुछ के यहाँ उदाहरण दिये जाते हैं।

सयोग—हरि शब्द बन्दर, शेर, विष्णु आदि कई अर्थों का वाचक है किन्तु जब उसका शङ्खचक्र से योग होता है तब उसका अर्थ विष्णु ही होगा:—

शङ्खचक्रयुत हरि कहे होत विष्णु को ज्ञान।

वियोग—नग के दो अर्थ होते हैं—पहाड़ और नगीना। अगूठी से उसका वियोग बतलाकर उसका अर्थ नगीने मे निश्चित हो जाता है। 'नग सूनो बिन सुंदरी'। इसी प्रकार जब हम कहेगे 'हिम के बिन नग की शोभा नहीं' तब उसका अर्थ पहाड़ होगा। इसी प्रकार 'धनञ्जय धूम बिन पावक जानो जाय'। धनञ्जय, अर्जुन को भी कहते है और पावक को भी।

विरोध—प्रसिद्ध वैर के कारण भी अर्थ लगाने मे सहायता होती है:—

चन्दैं जानि वैर कहे, राहु ग्रस्यो द्विजराज।

द्विजराज का अर्थ यहाँ पर ब्राह्मण न होगा, चन्द्र ही होगा।

प्रकरण—भोजनशाला मे सैन्धव का अर्थ नमक होगा, घोड़ा नहीं।

सामर्थ्य—'व्याल वृक्ष तोरथो कहै कुञ्जर जानो जात।' व्याल हाथी और सर्प दोनों को कहते हैं किन्तु सर्प पेड़ नहीं तोड़ सकता है।

देश—जीवन के अर्थ जल और जिन्दगी दोनों ही होते हैं किन्तु 'मरु मे जीवन दूर है,' कहने से जीवन का अर्थ पानी ही होगा।

काल—चित्रभानु के अर्थ सूर्य और अग्नि दोनों ही होते है किन्तु जब यह कहा जाय कि रात में चित्रभानु शोभा देता है तब

इसका अग्नि ही होगा। इसी प्रकार लिङ्ग स्वरादि से भी अर्थ निश्चित किया जाता है।

लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना के उतने ही रूप होगे जितने कि लक्षणा के।

आर्थी व्यञ्जना—शब्द का अर्थ लगाना विशेष कर व्यङ्ग्यार्थ कई बातों पर निर्भर रहता है। उनही बातो को जैसे वक्ता, श्रोता, प्रसङ्ग, देश, काल आदि को व्यञ्जना के विभाजन का आधार बनाया गया है। यदि कोई कायदे-कानून की पाबन्दी वाला प्रोफेसर लड़के से पूछे कि तुम्हारा कोट कहाँ है तो उसकी यही व्यञ्जना होगी कि वह उसके कोट न पहनने पर आपत्ति करता है। यदि धोबी पूछता है तो उसकी यह व्यञ्जना होगी कि क्या मैं उसे धोने के लिए लेजा सकता हूँ? इस तरह की व्यञ्जना को पारिभाषिक भाषा में **वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न वाच्यसम्भवा** कहेंगे। ऐसे ही लक्षणा और व्यञ्जना के ऊपर वक्ता की विशिष्टता के कारण व्यञ्जना चलती है उन्हें क्रमशः **वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न लक्ष्यसम्भवा** और **वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न व्यङ्ग्यसम्भवा** कहेंगे। जहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ सुनने वाले की विशेषता पर निर्भर हो वहां पर **बोधव्य वैशिष्ट्य वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्यसम्भवा** होती है। इस एक-एक के तीन-तीन के चक्कर मे न पड़कर मूल दस प्रकार गिना देना उचित होगा :—

> वक्तृबोधव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
> प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम्।
> योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥

अर्थात्—(१) वक्तृवैशिष्ट्य से अर्थात् वक्ता (कहने वाले) की विशेषता के कारण। (२) बोधव्य अर्थात् जिससे बात कही जाय उसकी विशेषता के कारण। (३) काकु अर्थात् कण्ठ ध्वनि की विशेषता के कारण। (४) वाक्यवैशिष्ट्य अर्थात् जिस वाक्य में जो बात कही गई हो उसकी विशेषता से (५) वाच्यार्थ की विशेषता से (६) दूसरे व्यक्ति के सान्निध्य की विशेषता से अर्थात् बात कही तो किसी से जाय लेकिन उसका व्यङ्ग्यार्थ किसी तीसरे के लिए हो (७) प्रसङ्ग की विशेषता से (८) देश की विशेषता से (९) काल

की विशेषता से। (भिखारीदासजी ने चेष्टा की विशेषता एक दूसरा प्रकार भी गिनाया है) जो दूसरा अर्थ प्रतिभावान् लोगों के मन में स्फुरित होता है उसे व्यङ्ग्यार्थ कहते हैं और जिस व्यापार द्वारा यह अर्थ स्फुरित होता है उसे व्यञ्जना-शक्ति कहते हैं। इसमें यह स्पष्ट है कि यह अर्थ प्रतिभावान् लोगों को ही व्यक्त होता है। व्यञ्जनों में कल्पना और बुद्धितत्व दोनों का ही काम पड़ता है।

उदाहरण—इनमें सब भेदों को न बतलाकर कुछ के उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं। वक्तृवैशिष्ट्य से—'सागर कूल मीन तरफत है, हुलसि होत जल पीन'—यह वाक्य गोपियों द्वारा कहा गया है, इसलिए यह व्यञ्जना है कि कृष्ण के बहुत दूर न होते हुए भी वे उनके प्रेम से वञ्चित हैं। यही बात या कुछ ऐसी ही बात कबीर ने कही है। 'नदिया में मीन प्यासी'। कबीर थे रहस्यवादी, आध्यात्मिक साधना के कवि होने के कारण इसकी व्यञ्जना यह होती है कि परमात्मा तत्व व्यापक है, जीव उसी का अङ्ग है किन्तु माया के कारण यह आध्यात्मिक आनन्द से वञ्चित है।

बोधव्यवैशिष्ट्य से—'नन्द ब्रज लीजै ठोक बजाय। देहु बिदा मिलिजाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राय।'

नन्दजी को गोकुल मे रहने का अधिक मोह था। ठोक-बजाय की व्यञ्जना की सार्थकता इसी में है कि वह बात नन्दजी से कही गई थी। ठोक-बजाय में ब्रज के प्रति अनुचित मोह और यशोदा की झुंझलाहट व्यङ्ग्य है।

काकुवैशिष्ट्य—इसका उदाहरण भिखारीदासजी ने इस प्रकार दिया है:—

दृग लखिहैं मधु चन्द्रिका, सुनि है कल धुनि कान।
रहिहैं मेरे प्रान तन, प्रीतम करो पयान॥

इसमें नायिका जाने की तो कहती है किन्तु जिस कण्ठध्वनि से कहती है उससे निषेध व्यञ्जित होता है।

देशवैशिष्ट्य—

घाम धरीक निवारियै, कलित ललित अलि-पुञ्ज।
जमुना-तीर तमाल-तरु मिलत मालती कुञ्ज॥ —बिहारी

यहाँ स्थान की शीतलता (जमुना तीर), एकान्त और अन्धकार (अलिपुञ्ज) आदि की जो व्यञ्जनाएँ हैं स्थान-विशेष के ही कारण हैं।

तात्पर्यवृत्ति—कुछ आचार्यों ने अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना के अतिरिक्त तात्पर्य नाम की एक चौथी वृत्ति भी मानी है। इन लोगों का कथन है कि इस वृत्ति द्वारा पृथक-पृथक शब्दों के अर्थ के अतिरिक्त आकांक्षा, योग्यता और सान्निधि के (एक दूसरे के निकट होना) भावों से बंधे हुए अर्थात् अन्वित शब्दों से बने हुए पूरे वाक्य का अर्थ जाना जाता है उसे तात्पर्यवृत्ति कहते हैं। आकांक्षा, योग्यता और सन्निधिपूर्ण शब्दों से वाक्य बनता है। अकेला शब्द पूरा अर्थ नहीं देता है। पहाड़ या पुस्तक-मात्र कहने से कोई अर्थबोध नहीं होता, इन शब्दों को दूसरे शब्द की चाह रहती है। पहाड़ बर्फ से ढका हुआ है या पुस्तक मेज पर रक्खी हुई है, ऐसा कहने से ही पूर्ति होती है। शब्दों में एक दूसरे के अनुकूल होने की योग्यता भी रहती है। हम यह नहीं कह सकते 'वन्हिना सिञ्चति' अर्थात् आग से सींचता है। इसी योग्यता के अभाव से मुख्यार्थ में बाधा पड़ती है जिसके लिए लक्षणा का काम पड़ता है। इसके अतिरिक्त शब्दों के एक दूसरे के यथास्थान निकट होना चाहिए। यह नहीं कह सकते हैं कि शिवदत्त जल है और तरल खाता है। इसका कोई अर्थ न होगा। शिवदत्त के साथ खाता है जायगा और जल के साथ तरल है का अन्वय होगा। इसीलिए दूरान्वय दोष माना गया है। आज देवदत्त कह कर अगर दूसरे दिन कोई कहे 'खाता है' तब भी कोई अर्थ न होगा। वाक्य के शब्द इन तीनों से बँधे रहकर अन्वित होते हैं और तभी पदों के पृथक अर्थ से भिन्न तात्पर्यार्थ का बोध कराते हैं।

अभिहितान्वयवादी—कुमारिल भट्ट के अनुयायी अभिहितान्वयवादी तथा नैयायिक तात्पर्य वृत्ति को विशेष रूप से मानते हैं और यह उनके दार्शनिक मत के अनुकूल पड़ती है। वे यह मानते हैं कि पद स्वतन्त्र रूप से तो अर्थ देते हैं किन्तु अभिहित (कोषादि से जिनका अर्थ जाना गया है) पद आकाँक्षा, योग्यता आदि द्वारा अन्वित होने पर उन पृथक पृथक पदों से स्वतन्त्र वाक्य का पूर्ण अर्थ देते हैं।

अन्विताभिधानवादी—प्रभाकर मत के अनुयायी अन्विताभिधानवादी शब्दों के स्वतन्त्र अर्थ में विश्वास नहीं करते, उनका कथन है कि श्रोता 'गाय लाओ' 'गाय ले जाओ' और 'गाय बांधो' शब्दों के आदेशों को सुनकर दूसरे के व्यवहार से गाय का अर्थ जान लेता है, इसी प्रकार 'गाय लाओ' आदेश के अनुसार अनुसरण करने के लिए पहले के सुने हुए वृद्ध प्रयोगों का स्मरण करता है, 'घोड़ा लाओ' 'पुस्तक लाओ' आदि में प्रयुक्त लाओ का सामान्य अर्थ उसके मस्तिष्क में उपस्थित हो जाता है। इस सामान्य से विशिष्ट लाना क्रिया का व्यक्तिगत अर्थ वह सम्पादित करता है, गाय लाओ आदि शब्दों का स्वतन्त्ररूप से कोई अर्थ नहीं है, वाक्य में अन्वित रहने पर ही उनका अभिधान (प्रतिपाद्य अर्थ) हो सकता है। इस प्रकार दोनों ही किसो न किसी रूप में, पृथक पदों के अर्थ से स्वतन्त्र एक सम्मिलित या पूर्ण वाक्यार्थ को मानते हैं किन्तु एक (अभिहितान्वयवादी) शब्दों में स्वतन्त्र रूप से शक्ति मानते हुए तात्पर्य वृत्ति द्वारा और दूसरे (अन्विताभिधानवादी) वाक्य में अन्वित पदों में ही अर्थ-बोध की शक्ति मानते हुए स्वतन्त्र रूप से अर्थात् वाच्यार्थ द्वारा ही, (वाच्य एव वाक्यार्थः)। दूसरों के अनुकूल वाक्य से अलग होकर पद कोई अर्थ नहीं रखते हैं। ये लोग वाक्य को ही विचार की इकाई (Unit of thought) मानते हैं। यह बात पाश्चात्य विचारकों की ही देन नहीं है।

ध्वनि और उसके मुख्य भेद

ध्वनि का अर्थ—रस यदि काव्य की आत्मा है तो ध्वनि काव्य-शरीर को बल देने वाली प्राण-शक्ति अवश्य है। ध्वनि शब्द का अर्थ अनुरणन् या घन्टे-की-सी 'टन्' के बाद देर तक होने वाली झङ्कार है। एवं घन्टास्थानीयः अनुरणनात्मोपलक्षितः व्यङ्ग्योऽप्यर्थः ध्वनिरिति उदाहृतः—लोचन। यह एक प्रकार से अर्थ का भी अर्थ है, तभी तो इसको शरीर-मात्र से कुछ अधिक प्रधानता मिली है। रीति आदि द्वारा वाक्यों के सुसंगठित हो जाने पर भी काव्य मे कुछ एक विशेष वस्तु होती है। वह मोती की आब की (छाया पारिभाषिक अर्थ में) भाँति सौन्दर्य की झलक उत्पन्न करती है। कविवर बिहारी ने कहा है 'वह चितवन औरे कछू जिहि बस होत सुजान' यह 'औरे कछू' ही प्रतीयमान अर्थ है। जिस प्रकार अङ्गनाओं का सौन्दर्य अवयव-सौष्ठव से ऊपर की वस्तु है उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ भी वाक्यों के सङ्गठन और व्याकरण तथा औचित्य की अदोषता से ऊपर की वस्तु है :—

> प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
> यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥
>
> —ध्वन्यालोक

यह लावण्य व्यञ्जना द्वारा प्राप्त होता है। जहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान होता है वहीं वह ध्वनि का रूप धारण कर लेता है। साधारण व्यङ्ग्यार्थ और ध्वनि में यही विशेषता है। सब व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान नहीं होते। इसमें वाच्यार्थ गौण होकर पीछे रहजाता है। अर्थ या शब्द अपने निजी अर्थ को छोड़कर जिस विशेष अर्थ को (व्यङ्ग्यार्थ को) प्रकट करता है उसे विद्वान लोग ध्वनि कहते हैं:—

> यत्रार्थःशब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
> व्यङ्क्तः काव्यविशेषः ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

स्फोट से सादृश्य—ध्वनि का सिद्धान्त वैयाकरणों के स्फोट-के सादृश्य में उपस्थित हुआ है। शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में यह प्रश्न होता है कि शब्द के सुनने पर किस प्रकार से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है? इस अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में यह कठिनाई उपस्थित की जाती है कि क, म, ल कहने में क, की ध्वनि नष्ट होने पर म, आता, है और म के नष्ट होने पर ल आता है तब कमल से अमल का ही अर्थ क्यों नहीं निकलता है क्योंकि दोनों के ही अन्त में म और ल है। क, म, ल को एक साथ भी नहीं कहा जा सकता। एक क्षण मे तीनों ध्वनि नहीं रह सकती हैं।

इस आपत्ति के सम्बन्ध में नैयायिकों का कहना है कि 'क' नष्ट तो हो जाता है किन्तु मन पर अपना संस्कार छोड़ जाता है, इसी प्रकार म भी अपना संस्कार छोड़ देता है अन्त में ल इन पूर्व के दोनों संस्कारों से मिलकर कमल का अर्थ देता है। वैयाकरण इसमें यह आपत्ति करते हैं कि स्मृति में उलटा क्रम चलता है पीछे की वस्तु का जल्दी स्मरण होता है, इसलिए पलक का कलप और फलक का कलफ हो जाना अधिक सम्भव है। इस आपत्ति के निराकरण के लिए वैयाकरणों का यह कथन है कि कमल या पलक ये शब्द वैखरी वाणी के हैं। वैखरी वाणी वह है जो हमको सुनाई पड़ती है किन्तु इसके पूर्व मध्यमा पश्यन्ती और परा वाणी है, वे नित्य और अखण्ड हैं। क, म, ल कहने पर क, म, ल प्रत्येक वर्ण से कमल के अखण्ड रूप की जाग्रति होती है किन्तु क और म से वह पूर्ण रूप से नहीं होती है वरन् ल के उच्चारित होने पर वह जाग्रति पूर्ण और स्पष्ट हो जाती है और एक साथ वह अखण्ड शब्द 'कमल' प्रस्फुटित हो जाता है जिसका कि अर्थ से नित्य सम्बन्ध है।

वैयाकरण व्यक्त शब्द जो हमको सुनाई पड़ता है और अर्थ के बीच में एक स्फोट की ओर कल्पना करते हैं जिसका अर्थ के साथ सम्बन्ध रहता है. यह एक साथ प्रस्फुटित होता है, इसीलिए स्फोट कहलाता है। वैयारणों के मत से क, म, के संस्कार ल के मिलने मात्र से अर्थ-व्यक्ति नहीं होती वरन् वे संस्कार उत्तरोत्तर उस अखण्ड स्फोट को प्रकाशित करने में सहायक होते हैं। अर्थ-व्यक्ति स्फोट से होती है। 'पूर्व पूर्ववर्णानुभवाहित संस्कारसचिवेन अन्य वर्णानुभवेन

अभिव्यज्यते स्फोटः, यह शब्द का भी होता है और वाक्य का भी। वाक्य-स्फोट को विशेषता दी गई है। आजकल के लोग (जिनमें मैं भी शामिल हूँ) न्याय के मत को अधिक तर्कसम्मत समझेंगे। क, म, ल वर्णों का ही संस्कार नहीं बनता वरन् उनके क्रम का भी संस्कार बन जाता है। शब्द के नित्य मानने वाले मीमांसकों ने भी स्फोट को नहीं माना है।

जिस प्रकार वर्णों से शब्द का अर्थ प्रस्फुटित होता है उसी प्रकार एक अर्थ से दूसरा अर्थ प्रस्फुटित हो जाता है। जिस प्रकार बार-बार चोट लगने से डंडे के ढोल से सयोग और वियोग से शब्द उत्पन्न होता है और क्रमागत तरङ्गों द्वारा वह हमारे कान तक पहुँचता है उसी प्रकार अन्तिम ध्वनि से शब्द के अर्थ को व्यक्त करने वाला स्फोट होता है और काव्य मे अर्थ के अर्थ को व्यक्त करने वाली ध्वनि होती है। देखिए:—

य. संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते ।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ॥

ध्वनि के भेद—ध्वनि के ५१ भेद माने गये हैं, लक्षणा के ६१ थे। हमारे यहाँ के भेदो को देखकर दूसरे साहित्य वाले ब्राह्मणो की पंक्ति में बैठे हुए छद्मवेशधारी मुसलमान की भाँति चिल्ला उठते हैं 'या अल्लाह गौड़ो में भी' और मैं उन भेदो को गौड़ों तक यानी मोटे-मोटे भेदों तक ही सीमित रक्खूंगा। जिस प्रकार व्यञ्जना अभिधा-मूलक और लक्षणामूलक होती है उसी प्रकार ध्वनि भी अभिधा-मूलक और लक्षणामूलक होती है। अभिधामूलक को विवक्षितान्य पर वाच्य (अर्थात् उसके वाच्यार्थ का अस्तित्व रहकर दूसरा अर्थ रहता है) कहते है और लक्षणामूलक को अविवक्षितवाच्य (अर्थात् उसमे वाच्यार्थ की विवक्षा, कहने की इच्छा, नहीं रहती) क्योंकि उसमे तो वाच्यार्थ का बोध हो जाता है। लक्षणामूलक ध्वनि के उपादान और लक्षण लक्षणा के आधार पर दो भेद हो जाते हैं। उपादान लक्षणा पर आश्रित भेद को अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य अर्थात दूसरे (उससे मिलते हुए अर्थ में) वाच्यार्थ संक्रमित हो जाता है और लक्षण लक्षणा पर आश्रित भेद को अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि कहते हैं उसमें वाच्यार्थ का अत्यन्त तिरस्कार हो जाता है।

अभिधामूलक ध्वनि के दो भेद होते हैं संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि में वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ तक जाने का क्रम संलक्षित रहता है और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि में क्रम रहता तो है किन्तु वह व्यङ्ग्यार्थ इतना शीघ्र प्रस्फुटित होता है कि उसमें क्रम दिखाई नहीं देता है। इसमें रस और भाव ही ध्वनित होते हैं और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यर्थ ध्वनि में वस्तु और अलङ्कार ध्वनित होते हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि ये भेद प्रयोजनवती लक्षणा के हैं; निरूढ़ा लक्षणा में व्यङ्ग्य नहीं होता है।
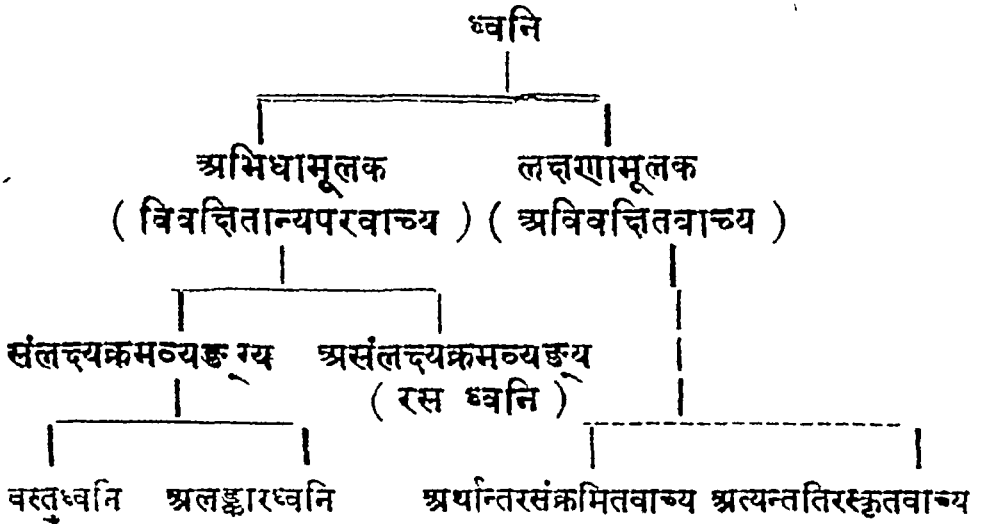
विशेष—संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य में व्यञ्जना की भाँति ध्वनि, शब्द-शक्ति पर निर्भर होती है (अर्थात् जहाँ विशेष शब्दों के कारण व्यञ्जना होती है) और अर्थ-शक्ति पर भी (अर्थात् जहाँ शब्दों के बदल देने पर भी व्यञ्जना रहती है) निर्भर होती है। एक तीसरे प्रकार में दोनों पर निर्भर होती है,

उदाहरण:—

वस्तु-ध्वनि—अर्थ-शक्ति के आधार पर वस्तु से वस्तु की ध्वनि निकलती है; वस्तु में विचार भी शामिल है:—

सुनि सुनि प्रीतम आलसी, धूर्त सूम धनवन्त।
नवल बालहिय में हरख, बाढ़त जात अनन्त॥

नववधू अपने पति की तारीफ में सुनती है कि वह आलसी है। आलसी शब्द से यह व्यञ्जना होती है कि वह किसी के बहकाने में न

आवेगा और न अन्यत्र जायगा। सूम और धनवन्त से यह व्यञ्जना होती है कि रुपया तो उसके खर्च को रहेगा किन्तु वह और किसी के कहने में न आवेगा, इसीलिए वह प्रसन्न होती है।

हनूमानजी से रावण ने पूछा कि वे क्यों बाँधे गये? उसके उत्तर में वे कहते हैं कि पराई स्त्री के देखने के कारण। इसमें यह व्यञ्जना हुई कि मैंने तो पराई स्त्री को देखा ही है तू तो अपने घर ले आया है, तेरी इससे भी बुरी गति होगी। यह वस्तु ध्वनि का ही उदाहरण है—'कैसे बँधायौ? जु सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो'

अलङ्कार-ध्वनि—इसका एक उदाहरण सूर के भ्रमरगीत से दिया जाता है:—

> तब ते इन सबहिन सचु पायो।
> जब ते हरि सन्देस तिहारो सुनत ताँवरो आयो॥
> फूले व्याल दुरे ते प्रगटे, पवन पेट भरि खायो।
> ऊँचे बैठि विहँग-सभा बिच कोकिल मंगल गायो॥

इस पद में यह दिखलाया गया है कि पहले तो राधा के सौन्दर्य के कारण उनके अङ्ग के सब उपमान—सर्प बालों के कारण, कोकिल उनकी वाणी के माधुर्य के कारण, सिंह कटि के सौन्दर्य के कारण और गजराज गति के कारण—लज्जित होकर छिप गये थे, वे अब जबसे राधाजी योग का विषम संदेश पाने के कारण बेहोश होगईं, ये सब उपमान प्रसन्न हैं क्योंकि अब उनको लज्जित होने की कोई बात नहीं रही। प्रतीप अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ उपमान की हीनता या निरर्थकता दिखाई जाय या उससे लज्जित दिखाया जाय। उनके प्रकट होने और मङ्गल गाने से अभी तक की दीन-दशा जो दूर हो गई है, व्यञ्जित होती है। इस पद में इस अलङ्कार द्वारा राधा का पूर्व सौन्दर्य फिर विरह दशा और कृष्ण की निष्ठुरता और सहानुभूति तथा प्रेम के प्रतिदान की प्रार्थना आदि की ओर भी व्यञ्जनाएँ हैं। कुल मिलाकर इसमें वियोग श्रृङ्गार की ध्वनि है।

एक उदाहरण आधुनिक कवियों से लीजिए। इस सुन्दर उदाहरण की ओर मेरा ध्यान पण्डित रामदहिन मिश्र के काव्यालोक के द्वितीय उद्योत द्वारा आकर्षित हुआ है। शब्द-शक्ति के लिए वह बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है।

दूसरा उदाहरण:—

> प्रिय तुम भूले मैं क्या गाऊँ
> जुही-सुरभि की एक लहर से निशा बह गई डूबे तारे।
> अश्रु-बिन्दु में डूब-डूब कर दृग तारे ये कभी न हारे॥
>
> रामकुमार वर्मा

इसमें व्यतिरेक अलङ्कार की ध्वनि है। आकाश के तारे तो डूब कर हार जाते है, फिर दिखाई नहीं पड़ते हैं और सुबह को ही डूबते हैं, नेत्र के तारे हर वक्त डूबे रहते हैं और फिर भी नहीं हारते। इसमें एक सौन्दर्य यह भी है कि तारों के सम्बन्ध में डूबना लक्ष्यार्थ में आया है और आँखों के तारों के सम्बन्ध मे अभिधार्थ में आया है। अलङ्कार ध्वनि के साथ इसमें करुणा की ध्वनि निकलती है, रस-ध्वनि भी है। व्यतिरेक अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ उपमेय में कुछ ऐसी विशेषता दिखाई जाय जो उपमान में न हो। तारे मे जो यमक का शब्दालङ्कार है वह स्पष्ट है, व्यतिरेक ध्वनित है।

असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि—रस और भाव के सभी उदाहरण इसके भीतर आते हैं। अलङ्कार ध्वनि का भ्रमरगीत वाला उदाहरण रस-ध्वनि का भी उदाहरण है। ध्वनि-सम्प्रदाय वालो ने रस का वर्णन असंलक्ष्मक्रमव्यङ्ग्य 'ध्वनि के ही अन्तर्गत किया है। काव्य-प्रकाश और पोद्दारजी की रसमञ्जरी में ऐसा ही है।

लक्षणामूलक ध्वनि—इस ध्वनि के अन्तर्गत अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य ध्वनि को जो उपादान लक्षणा पर आश्रित है, गिना जाता है। नीचे के उदाहरण में पुनरुक्ति के कारण वाच्यार्थ मे बाधा पड़ी और उसका लक्षणा द्वारा शमन किया गया है।

'पर कोयल कोयल वसन्त में, कौआ कौआ रहा अन्त में' यहाँ पहले आया हुआ 'कोयल' शब्द तो जाति का वाचक है और दूसरी बार आये हुये 'कोयल' शब्द द्वारा उसके गुण व्यञ्जित है। 'कौआ कौआ' मे भी यही बात है। यहाँ पर एक की श्रेष्ठता और दूसरे की हीनता व्यञ्जित होती है। इस प्रकार की ध्वनि का बोल-चाल में बहुत प्रयोग होता है।

अत्यन्ततिरस्कृतअविवक्षितवाच्य ध्वनि—

मातहिं पितहिं उऋण भये नीके। गुरु ऋण रहा सोच बड़ जी के॥

सब लोग जानते हैं कि परशुरामजी ने अपनी माता को मार डाला था। यहाँ मुख्यार्थ का बध होता है। यहाँ लक्षणा से उलटा अर्थ लगेगा और व्यञ्जना यह है कि माता के प्रति जब तुम्हारी यह कृतज्ञता रही तो गुरु के प्रति कर्तव्य-पालन की डींग मारना वृथा है।

गुणीभूत व्यङ्ग्य—जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधानता होती है वहाँ तो ध्वनिकाव्य होता है। जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता नहीं होती है वहाँ काव्य गुणीभूत व्यङ्ग्य का उदाहरण बन जाता है। यह कई प्रकार का होता है। व्यङ्ग्यार्थ जहाँ बहुत ही स्पष्ट हो जाता है वहाँ उसमें चमत्कार नहीं रहता है। इसको अगूढ़ व्यङ्ग्य कहते हैं। इसका उदाहरण भिखारीदासजी ने इस प्रकार दिया है:—

गुनवन्तन में जासु सुत, पहिले गनौ न जाइ।
पुत्रवती वह मातु तव, बन्ध्या को ठहराइ॥

माता पुत्रवती तो होती ही है क्योंकि जिसके सुत होता है वह माता पुत्रवती कही जायगी किन्तु पुत्र के अगुणी होने के कारण यह पद (पुत्रवती होने का) सार्थक नहीं होता है। किन्तु इसमें जो व्यङ्ग्य है वह बहुत ही स्पष्ट है और बन्ध्या किसको कहते हैं इससे और भी स्पष्ट हो जाता है।

दूसरा मुख्य भेद अपराङ्ग गुणीभूत व्यङ्ग्य का है। जब रस या भाव अपने अधिकार से अङ्गी होकर नहीं आता है और दूसरे रस का अङ्ग बनकर आता है तब उसमें इतना चमत्कार नहीं रहता है और वह गुणीभूत व्यङ्ग्य का उदाहरण बनता है और ऐसी अवस्था में वह अलङ्कार्य न रहकर अलङ्कार हो जाता है।

गुणीभूत रस से रसवत अलङ्कार होता है। गुणीभूत भाव-प्रेयस अलङ्कार होता है। गुणीभूत रसाभास तथा भावाभास उर्जस्वी अलङ्कार होते हैं।

———

अभिव्यञ्जनावाद एवं कलावाद

शैली को महत्व देने वाले यूरोप में दो वाद हैं। एक अभिव्यञ्जनावाद (Expressionism) और दूसरा कलावाद (Art for Arts Sake) अभिव्यञ्जनावाद वस्तु की अपेक्षा अभिव्यक्ति को अधिक महत्व देता है (किन्तु वस्तु को उपेक्षा नहीं करता), कलावाद कला को नीति और उपयोगिता से स्वतन्त्र मानता है। यह दोनों वाद एक दूसरे से मिले हुए भी एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं।

यद्यपि क्रोचे की पुस्तक (Aesthetics) मेरे पास सन् १६१५ से थी तथापि अभिव्यञ्जनावाद का पहला परिचय सन् १६३५ से शुक्लजी के 'काव्य में रहस्यवाद' ग्रंथ से ही हुआ। इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

आचार्य शुक्लजी द्वारा दिया हुआ अभिव्यञ्जनावाद का परिचय

आचार्य रामचन्द्रजी शुक्ल ने 'अभिव्यञ्जनावाद' का इस प्रकार परिचय दिया है :—

"कला या काव्य में अभिव्यञ्जना (Expression) ही सब कुछ है; जिसकी अभिव्यञ्जना की जाती है वह कुछ नहीं। इस मत के प्रधान प्रवर्तक इटली के क्रोस (Benedetto Croce) महोदय हैं।"

"अभिव्यञ्जनावादियों के अनुसार जिस रूप में अभिव्यञ्जना होती है उससे भिन्न अर्थ आदि का विचार कला में अनावश्यक है ··· अभिव्यञ्जनावाद अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़ केवल वाग्वैचित्र्य को पकड़ कर चला है, पर वाग्वैचित्र्य का हृदय की गम्भीर वृत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं। वह केवल कौतूहल उत्पन्न करता है।"

—काव्य में रहस्यवाद

इस वाद का विस्तृत और बहुत-कुछ शुद्ध रूप हमको आचार्य शुक्लजी के इन्दौर वाले भाषण में जो सम्मेलन की साहित्य-परिषद

के सभापति के आसन से दिया गया था, मिलता है। क्रोचे ने कला सम्बन्धी ज्ञान को स्वयं-प्रकाश ज्ञान (Intuition) कहा है, स्वयं-प्रकाश ज्ञान की उत्पत्ति कल्पना में होती है। कल्पना के कार्य के सम्बन्ध में शुक्लजी क्रोचे का मत इस प्रकार देते हैं, देखिए :—

"आत्मा की अपनी स्वतंत्र क्रिया है कल्पना, जो रूप का सूक्ष्म साँचा खड़ा करती है और उस साँचे में स्थूल, द्रव्य को ढालकर अपनी कृति को गोचर या व्यक्त करती है। यह 'साँचा' आत्मा की कृति या आध्यात्मिक वस्तु होने के कारण परमार्थत: एकरस और स्थिर होता है। उसकी अभिव्यञ्जना में जो नानात्व दिखाई पड़ता है वह स्थूल द्रव्य के कारण है जो परिवर्तनशील होता है। कला के क्षेत्र में यही साँचा (Form) सब-कुछ है, द्रव्य या सामग्री ध्यान देने की वस्तु नहीं, An aesthetic fact is form and nothing else—(इस सम्बन्ध में आगे चलकर हम विशेष रूप से विचार करेंगे)।

आचार्य शुक्लजी स्वयं-प्रकाश-ज्ञान और अभिव्यञ्जना के सम्बन्ध में क्रोचे का मत इस प्रकार बतलाते हैं:—

"स्वयंप्रकाश ज्ञान (Intuition) का 'साँचे' में ढलकर व्यक्त होना ही कल्पना है और कल्पना ही मूल अभिव्यञ्जना (Expression) है जो भीतर होती है और शब्द, रङ्ग आदि द्वारा बाहर प्रकाशित की जाती है। यदि सचमुच स्वयं-प्रकाश-ज्ञान हुआ है, भीतर अभिव्यञ्जना हुई है, तो वह बाहर भी प्रकाशित हो सकती है। लोगों का यह कहना कि कवि के हृदय में बहुत-सी भावनाएँ उठती हैं जिन्हें वह व्यक्त नहीं कर सकता, क्रोचे नहीं मानता। वह कहता है जो भावना या कल्पना बाहर व्यक्त नहीं हो सकती उसे अच्छी तरह उठी हुई ही न समझना चाहिए।"

—इन्दौर के भाषण से

क्रोचे और सौन्दर्य-बोध—सौन्दर्य के सम्बन्ध मे आचार्य शुक्लजी क्रोचे का मत निम्नोल्लिखित शब्दों में देते हैं:—

"सौन्दर्य से जिसका तात्पर्य केवल अभिव्यञ्जना के सौन्दर्य से है, उक्ति के सौन्दर्य से है, किसी वास्तविक या प्रस्तुत वस्तु में सौन्दर्य कहाँ? क्रोचे तो कल्पना की सहायता के बिना प्रकृति में कहीं कोई

सौन्दर्य नहीं मानते। जो कुछ सौन्दर्य होता है वह केवल अभिव्यञ्जना में, उक्ति-स्वरूप में। यदि सुन्दर कही जा सकती है तो उक्ति ही, असुन्दर कही जा सकती है तो उक्ति ही। इस मौके पर अपने पुराने कवि केशवदासजी याद आ गये, जो कह गये हैं कि "देखे मुख भावै, अनदेखेई कमल चन्द, ताते मुख मुखै सखी, कमलौ न चन्द री" केशवदासजी को भी कमल इत्यादि देखने में कुछ भी अच्छे या सुन्दर नहीं लगते थे। हां जब वे उपमा, उत्प्रेक्षापूर्ण किसो काव्योक्ति में समन्वित होकर आते थे तब वे सुन्दर दिखाई पड़ने लगते थे।"

आचार्य शुक्लजी के प्रति मेरा पूर्णातिपूर्ण श्रद्धाभाव है क्योंकि मैं मुक्त-कण्ठ से कह सकता हूँ कि हिन्दी लेखकों में जितना शुक्लजी से मैंने सीखा है और किसी से नहीं किन्तु मैं नम्रतापूर्वक निवेदन करूँगा कि अलङ्कारवादी आचार्य केशवदासजी से क्रोचे की तुलना में उसके साथ अन्याय किया गया है। क्रोचे मुख और कमल-चन्द सब की ही सौन्दर्यानुभूति कल्पना द्वारा मानेंगे। अनुभूति का आत्म-प्रकाश सौन्दर्य ही है। क्रोचे अनुभूति का तिरस्कार नहीं करते। सौन्दर्य को हम चाहे विषयगत (objective) मानें, चाहे विषयीगत (subjective) पर सौन्दर्य-बोध में हम कल्पना के कार्य से इन्कार नहीं कर सकते। रविबाबू ने ठीक ही कहा है—'O woman thou art half dream and half reality'—इस सम्बन्ध में बिहारी का नीचे का दोहा क्रोचे के भाव की पुष्टि करता है:—

> "समै-समै सुन्दर सबै, रूप कुरूपु न कोइ।
> मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ॥"

विषयगत या वस्तुगत सौन्दर्य की क्रोचे ने नितान्त उपेक्षा नहीं की। प्राकृतिक सौन्दर्य को उसने कला या सौन्दर्यात्मक पुनर्निर्माण का उत्तेजक माना है। वस्तु में कुछ गुण अवश्य होगा जो सौन्दर्यानुभूति या सौन्दर्य के स्वयं-प्रकाश-ज्ञान की उत्तेजना देगा, देखिए:—

"Natural beauty is simply a stimulus to aesthetic reproduction which presupposes previous production. Without previous aesthetic intuitions of the imagination nature can not arouse any at all."

मैं आचार्य शुक्लजी के साथ यह मानने को अवश्य तैयार हूँ कि क्रोचे ने वस्तु को गौण रखकर कल्पना को अधिक महत्व दिया है किन्तु कल्पना नितान्त निराधार नहीं होती। कल्पना और स्मृति के सहारे ही प्रत्यक्ष में निश्चयता आती है। क्रोचे ने कल्पना का आधार माना है। वे निरे हवाई किले नहीं बनाते।

क्रोचे और अलङ्कारवाद—क्रोचे अलङ्कारवादी नहीं हैं और न वक्रोक्तिवादी हैं। अलङ्कार के सम्बन्ध मे शुक्लजी ने जो क्रोचे के मत का उल्लेख किया है वह इस बात की पुष्टि करेगा। देखिए कितना स्पष्ट है :—

'अलङ्कार के सम्बन्ध मे क्रोचे कहता है कि अलङ्कार तो शोभा के लिए ऊपर जोड़ी या पहनाई हुई वस्तु को कहते हैं। अभिव्यञ्जना या उक्ति में अलङ्कार जुड़ कैसे सकता है? यदि कहिए बाहर से, तो उसे उक्ति से सदा अलग रहना चाहिए। यदि कहिए भीतर से, तो वह या तो उक्ति के लिए 'दाल भात में मूसरचन्द' होगा अथवा उसका एक अङ्ग ही होगा"। इस अवस्था मे अलङ्कार की स्वतन्त्र सत्ता कुछ नहीं। और यदि स्वतन्त्र सत्ता है तो वह निरर्थक है। क्रोचे का कथन है कि यदि रूपक से कोई बात साधारण शब्दावली की अपेक्षा अधिक उत्तम रीति से व्यञ्जित होती है तो वही उसकी अभिव्यञ्जना है। क्रोचे तो यथार्थ अभिव्यक्ति चाहता है, चमत्कार नहीं। क्रोचे अलङ्कार और अलङ्कार्य में भेद नहीं मानता है।

आचार्य शुक्लजी तथा 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' के रचयिता श्री सुधांशुजी इस मत से सहमत नहीं हैं ('अलङ्कार अलङ्कार्य्य का भेद मिट नहीं सकता'), यह दूसरी बात है किन्तु क्रोचे का उपर्युक्त उद्धरण उसे अलङ्कारवादी होने के अभियोग से पूर्णतया मुक्त कर देता है। 'प्रस्तुत के मार्मिक रूप-विधान का त्याग और केवल प्रचुर अप्रस्तुत-रूप-विधान मे ही प्रतिभा या कल्पना का प्रयोग' यह प्रवृत्ति हिन्दी में चाहे कहीं से आई हो (सम्भव है अपने यहाँ के ही अलङ्कारवादियों की देन हो) किन्तु क्रोचे से नहीं आई।

क्रोचे के कला-सम्बन्धी सिद्धान्त का सार—यहाँ पर शुक्ल जी द्वारा निर्धारित क्रोचे के कला-सम्बन्धी विचारों का एक सार

अपनी भाषा में स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। विज्ञ पाठकगण इस पिष्टपेषण को क्षमा करें—क्रोचे ने आत्मा की दो प्रकार की क्रियाएँ मानी हैं—एक विचारात्मक (Theoretic) दूसरी व्यवहारात्मक (Practical)। विचारात्मक में दो प्रकार की क्रियाएँ हैं—एक स्वयं प्रकाशज्ञान (Intuition) की जिसका सम्बन्ध व्यक्तियों या विशेष पदार्थों से है। यह कल्पना द्वारा कला की उत्पादिका है। दूसरी तर्क (Logic) की क्रिया जो जातिवाचक बोधों (concepts) से सम्बन्ध रखती है। इनमे दर्शन, विज्ञान आदि का उदय होता है जो सिद्धान्त बनाते है। व्यवहारात्मक में दो प्रकार की क्रियाएँ होती हैं—एक आर्थिक(Economic) और दूसरी नैतिक (Ethical)।

आत्मा का स्वयं-प्रकाश-ज्ञान बौद्धिक ज्ञान से स्वतन्त्र है वह एक प्रकार की आलौकिक शक्ति है जो एक क्षण मे प्राकृतिक दृश्यों को अपनाकर उनको साकार और सुन्दर रूप दे देती है। यही आकार देने की क्रिया अभिव्यक्ति है किन्तु है यह आन्तरिक। स्वयं-प्रकाश-ज्ञान का अभिव्यक्ति से सहज सम्बन्ध है—The spirit does not obtain intuitions otherwise than by making, forming, expressing-कलाकार तभी कलाकार है जब वह स्वतन्त्र स्वयं-प्रकाश-ज्ञानमयी स्फूर्ति से प्रेरित होता है, जब वह एक अनिर्वचनीय रूप मे अपने विषय से अपने को पूर्ण पाता है; जब इस अभिव्यक्ति का सफल उद्घाटन होता है, तभी सौन्दर्यात्मक कला की सृष्टि होती है।

क्रोचे ने कला (Art) और कला-कृतियों (Works of art) में अन्तर किया है। क्रोचे के मत से असली कला आन्तरिक ही है। कला-कृतियाँ (काव्य, चित्र, मूर्ति आदि) उस आन्तरिक स्वयं-प्रकाश-ज्ञान-जन्य अभिव्यक्ति को वाह्य रूप और स्थायित्व देकर पुनः जाग्रत करने की साधनस्वरूपा हैं। देखिए क्रोचे स्वयं क्या कहते हैं:—

"And what are those combinations of words which are called poetry, prose, poems, novels, romances, tragedies or comedies, but physical stimulants of reproduction."

सफल अभिव्यक्ति ही कला है। क्रोचे के लिए सफल विशेषण

भी अनावश्यक है क्योंकि अभिव्यक्ति जब तक सफल नहीं होती तब तक अभिव्यक्ति नहीं कहलाती। अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है। "We may define beauty as successful expression or better as expression because expression when it is not successful, is not expression" सौन्दर्य की श्रेणियाँ नहीं होतीं, वह पूर्ण है। कुरूपता मे दर्जे होते हैं। (क्रोचे का यह मत कुछ विचारणीय है क्योंकि यह सौन्दर्य को निरपेक्ष बना देता है और संसार में निरपेक्ष वस्तुएँ थोड़ी ही होती हैं।) कुण्ठित और असफल अभिव्यक्ति (Embarressed activity the product of which is failure) ही कुरूपता है। क्रोचे के मत से कलाओं का वर्गीकरण व्यर्थ है। देवताओं मे कोई बड़ा-छोटा नहीं होता। "All the books dealing with classifications and systems of art could be burnt without any loss whatever." कला के विभाजन से सम्बन्ध रखने वाली सारी पुस्तकें यदि जला दी जाँय तो कोई नुकसान न होगा।

क्रोचे और साधारणीकरण—कला-कृतियों के सम्बन्ध मे यह प्रश्न उठता है कि कला-कृतियाँ कलाकार के मन मे तो स्वयं-प्रकाश ज्ञान जन्य अभिव्यक्तियों को जाग्रत कर देंगी किन्तु दर्शक, पाठक या समीक्षक के मन में वे उसी प्रकार की अभिव्यक्ति किस तरह से उत्पन्न करेंगी ? इसके लिए पाठक का भी कलाकार के मानसिक-धरातल तक उठना पड़ेगा, तभी प्रतिभा (Genius) और रुचि (Taste) का मिलान् होकर कला के साथ न्याय हो सकेगा। यदि पाठक या समीक्षक कलाकार के धरातल तक नहीं पहुँचता तो वह उस कृति में सौन्दर्यानुभूति न कर सकेगा। कलाकार की मानसिक परिस्थिति में पहुँचकर रुचि-भेद न रहेगा, ऐसा होना कठिन अवश्य है किन्तु असम्भव नहीं।

इस कठिनाई को हल करने के लिए क्रोचे ने कवि के दो प्रकार के आत्म-भाव (personalities) माने हैं—एक लौकिक और संकल्पात्मक (Empirical and Volitional) और दूसरी अलौकिक अर्थात् स्वच्छन्द और आदर्श (Spontaneous or ideal personality constituting the work of art) कवि और पाठक का

आदर्श आत्म-भाव में तादात्म्य हो सकता है। साधारणतया पाठक और दान्ते (Dante) के लौकिक आत्म-भाव पृथक् हैं किन्तु उसके काव्यरसास्वाद में दोनों के अलौकिक आत्मभाव मिल जाते हैं। "In order to Judge Dante, we must raise ourselves to his level. Let it be understood that empirically neither we are Dante nor Dante we, but in the moment of Judgment and Contemplation our s irit is one with that of the poet and in that moment we and he are one single thing" इस उद्धरण को देखते हुए क्रोचे तथा उसके अनुयायी पाश्चात्य समीक्षकों को व्यक्तिवादी कहना (जैसा आचार्य शुक्लजी ने साधारणीकरण वाले लेख में कहा है) उनके साथ अन्याय होगा।

क्या 'अभिव्यञ्जनावाद' 'वक्रोक्तिवाद' का दूसरा अर्थ है—अब हम देख सकते है कि क्रोचे का 'उक्ति-वैचित्र्य' से कहाँ तक सम्बन्ध है ? क्रोचे ने उक्ति को प्रधानता दी है, उक्ति-वैचित्र्य को नहीं, उसके मत से सफल अभिव्यक्ति या केवल अभिव्यक्ति कला है। इसीलिए अभिव्यञ्जनावाद और वक्रोक्तिवाद की समानता नहीं है जैसा कि शुक्लजी ने माना है—"(क्रोचे का 'अभिव्यञ्जनावाद' सच पूछिए तो एक प्रकार का 'वक्रोक्तिवाद' है। संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में भी कुन्तक नाम के आचार्य 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' कहकर उठे थे।)" इस सम्बन्ध में अभिव्यञ्जनावाद और वक्रोक्तिवाद का अन्तर सुधांशुजी ने बड़े स्पष्ट शब्दों में बतलाते हुए दो बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया है:—

(१) "वक्रोक्तिवाद की प्रकृति अलङ्कार की ओर विशेष तत्पर दिखाई देती है, लेकिन अभिव्यञ्जनावाद का, बाह्य रूप से अलङ्कार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अलङ्कार अनुगामी होकर अभिव्यञ्जना के पीछे चल सकता है, वक्रोक्तिवाद की भाँति सहगामी होकर नहीं।"

(२) "अभिव्यञ्जनावाद में वक्रतापूर्ण उक्तियों का तो मान है ही, साथ ही स्वभावोक्तियों के लिए भी उसमें यथेष्ट स्थान है। जिस उक्ति से किसी दृश्य का मनोरम बिम्बग्रहण हो वह वक्रताहीन रहने पर भी अभिव्यञ्जनावाद की चीज है।"

वक्रोक्तिकार नित्य की बोलचाल की रीति से सन्तुष्ट नहीं होते। "वक्रत्वं प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिवैचित्र्यम्"। मैं तो यह कहूँगा कि 'अभिव्यञ्जनावाद' मे स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का भेद ही नहीं है। उक्ति केवल एक ही प्रकार की हो सकती है। यदि पूर्ण अभिव्यक्ति वक्रोक्ति द्वारा होती है तो वही स्वभावोक्ति या उक्ति है, वही कला है। वाग्वैचित्र्य का मान वैचित्र्य के कारण नहीं है वरन् यदि है तो पूर्ण अभिव्यक्ति के कारण। अभिव्यञ्जनावाद मे एक ही उक्ति के लिए स्थान है, न उसमे प्रस्तुत-अप्रस्तुत का, न स्वभावोक्ति-वक्रोक्ति का भेद है। प्रेम-गली की भाँति अभिव्यञ्जनावाद की गली भी अति सांकरी है—'बा में दो न समायँ'—इसीलिए क्रोचे अनुवादो के पक्ष मे नहीं है। अनुवाद या तो ठीक नहीं होगा और होगा तो वह एक नयी रचना ही होगा। अनुवाद यदि वफ़ादार (Faithful) होगे तो सुन्दर न होगे और अगर सुन्दर होगे तो वफादार न होंगे। (Ugly faithful ones or faithless beauties) सौन्दर्य और वफादारी का योग कठिनाई से होता है। 'क्वचित रूपवती सती' (मै इस बात को अक्षरश. सत्य नहीं मानता)।

सुधांशुजी ने ठीक ही कहा है कि अभिव्यञ्जनावाद में वाग्वैचित्र्य को जितना स्थान मिला है उससे अधिक कलाकारो ने (और मै जोड़ूगा साहित्य-समीक्षको ने) उसके नाम पर वाग्विस्तार किया है। इसके अतिरिक्त वक्रोक्तिवाद के आचार्य कुन्तक भी केवल वक्रोक्ति को ही मुख्यता नहीं देते हैं। वे भी शब्द और अर्थ का सामञ्जस्य चाहते थे। उन्होने भी रस को माना है किन्तु वक्रता के ही रूप मे। कुन्तक की वक्रता बड़ी व्यापक है।

अभिव्यञ्जनावाद मे आकार और वस्तु—अभिव्यञ्जनावाद मे आकार (Form) की प्रधानता तो है ही किन्तु उसमे वस्तु या सामग्री (Matter) का नितान्त तिरस्कार नहीं है। यह तो ऊपर बतलाया ही गया है कि हमारे स्वयं प्रकाश-ज्ञान मे विविधता वस्तु के कारण ही आती है। स्वयं शुक्लजी ने इसका उल्लेख किया है 'उसकी अभिव्यञ्जना मे जो नानात्व दिखाई पड़ता है वह स्थूल द्रव्य (वस्तु) के कारण जो परिवर्तनशील होता है।" और देखिए:—

"Without matter, however our spirial acti-

vitiy would not leave its abstraction to become concrete and real this or that spiritual content, this or that definite intuition."

द्रव्य या वस्तु के बिना हमारी आध्यात्मिक क्रिया खोखली रह जायगी। उसके बिना वह वास्तविक और मूर्त्त रूप न धारण कर सकेगी। वस्तु से ही हमारे मन पर छापें (Impressions) पड़ती है और इन्हीं के आधार पर स्वयं प्रकाश—(Intuitions) बनते है। मेरी समझ में वास्तव बात यह है कि वस्तु और आकार का पार्थक्य नहीं हो सकता। वस्तु का महत्व भी आकार पाकर ही निखरता है, बिना वस्तु के कोरे आकार का कोई मूल्य नहीं। स्वयं क्रोचे ने खोखले चमत्कारपूर्ण वाक्यों को निरर्थक कहा है:—

"He who has nothing to express may try to hide his internal emptiness with a flood of words...although at bottom they convey nothing" इससे बढ़कर कोरी अभिव्यञ्जना का और क्या जोरदार खण्डन हो सकता है ? क्रोचे कोरी अभिव्यञ्जना के प्रचारक नहीं कहे जा सकते। वस्तु चाहिए अवश्य, उसके गुण गौण हैं, किन्तु अभिव्यक्ति की जाग्रति मे उनका महत्व है।

आक्षेपों का आधार—क्रोचे यह मानता है कि कलाकार स्वयं प्रकाश-ज्ञान प्राप्त करने मे विवश है। इस प्रकार कला या काव्य के विषय के प्रति स्तुति या निन्दा का भाव रखना असङ्गत है। अगर कलाकार के मन मे बुरी छाप पड़ती है और यदि उसकी अभिव्यञ्जना ठीक होती है तो कलाकार का दोष नहीं है वरन् समाज का दोष है। इस अवस्था मे आलोचक को चाहिए कि वह कलाकार को दोष न देकर समाज का सुधार करे कि जिससे कलाकार के मन पर वैसी छाप न पड़े। "The critics should think how they can effect changes in nature and society, in order that those impressions may not exist." ब्रेडले महोदय का निम्नोल्लिखित कथन भी कलावाद की पुष्टि करता है। 'कला का रसास्वादन करने के लिए जीवन से कुछ भी अपने साथ लाने की आवश्यकता नहीं है, उसके लिए न तो उसके विचारों या व्यापारों का ज्ञान और न उसके

भावों से उसका परिचय ही अपेक्षित है।' ऐसे ही वाक्य शुक्लजी के आक्षेपों के वास्तविक आधार हैं। तो क्या कला और नीति या उपयोगिता का कोई सम्बन्ध नहीं ? क्रोचे ने आन्तरिक अनुभूति को अभिव्यक्ति से अभिन्न माना है और उसका वाह्य अभिव्यक्ति से भेद किया है। आन्तरिक अभिव्यक्ति में कवि मजबूर हो जाता है; वाह्य अभिव्यक्ति में वह स्वतन्त्र रहता है—They can not will or not will our aesthetic vision. They can how ever will or not will to externalise it.—कभी-कभी तो कवि वाह्य रूप देने में भी स्वतन्त्र नहीं रहता। इसी को तो कहते हैं सृजन की अदम्य आवश्यकता। आन्तरिक और वाह्य कला में संकल्प का व्यवधान मानकर वाह्य कला का मूल्य किसी अंश में कम हो जाता है।

२—कलावाद

अभिव्यञ्जनावाद में कला और नीति—वास्तव में क्रोचे का सौन्दर्य-विधान नीति और उपयोगिता के शासन से मुक्त है। यदि कला आन्तरिक ही है, मानसिक अभिव्यक्ति-मात्र है तो वह नीति के शासन से बाहर है क्योंकि नीतिकार की वहाँ तक पहुँच ही नहीं। कला-कृतियाँ अवश्य नीति का विषय बन सकती हैं। कला-कृतियों का सम्बन्ध स्वयं-प्रकाश-ज्ञान से नहीं है वरन् वे व्यावहारिक क्रिया का फल है। व्यावहारिक क्रिया (Practical activity) का नीति से सम्बन्ध है। कलाकार स्वयं-प्रकाश-ज्ञान की मानसिक अभिव्यक्ति करने में विवश है, इसलिए वह दोषी नहीं ठहराया जा सकता किन्तु कलाकार अपनी मानसिक अभिव्यक्ति को शब्दों या रेखाओं की अभिव्यक्ति देने में स्वतन्त्र है। यह व्यवहारिक क्रिया है और यदि उसकी अभिव्यक्ति समाज के आदर्शों के विरुद्ध पड़ती है तो वह अपनी मानसिक अभिव्यक्ति का वाह्य प्रकाश न दे। कलाकार की स्वतन्त्रता मानसिक अभिव्यक्ति तक ही सीमित है। यह उस अभिव्यक्ति के वाह्य प्रत्यक्षीकरण पर लागू नहीं होती। वाह्य प्रत्यक्षीकरण नीति और उपयोगिता के शासन में आ जाता है :—

"If art be understood as the externalization

of art than utility and morality have a perfect right with it."

क्रोचे तो कला के साथ उपयोगिता का भी समन्वय मानता है। उपयोगिता ही सौन्दर्य का रूप धारण कर लेती है। जो पोशाक मनुष्य की परिस्थिति और आवश्यकताओं के अनुकूल होगी वही सुन्दर कही जायगी—

"A garment is only beautiful because it is quite suitable to a given person in given conditions"

कलावाद का मूल आधार—'कला कला के लिए है'—इस सिद्धान्त का जन्म फ्रांस में हुआ है। इसके कई रूप है, कुछ अच्छे और कुछ बुरे; किन्तु कला की निरपेक्षता का मूल सूत्र व्यापक रूप से दिखाई देता है। कलावादी प्राय: नीति की उपेक्षा करते है और वे काव्य का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं स्वीकार करते और कला को विधि-निषेध के प्रपञ्च से परे मानते है। उनके विचार का सार यह है। प्रत्येक वस्तु का क्षेत्र अलग है और अपने क्षेत्र में उसे पूर्ण स्वराज्य (Autonomy) प्राप्त है। विज्ञान मे हम सत्य की खोज करते हैं और उस सत्य को खोज मे कभी-कभी जैसे मुर्दे चीरते समय, बड़ी वीभत्सता का भी सामना करना पड़ता है। उस समय सुन्दरता के लिए हम सत्य का बलिदान नहीं करते। दर्शन-शास्त्र या गणित-शास्त्र के लोहे के चने चबाते समय हम उनमे 'कविता' का रस न पाकर उन शास्त्रो को हेय नहीं समझते। धर्म मे घोर तप और संयम का विधान देखकर हम उसे सौन्दर्य के मापदण्ड से नहीं नापते, फिर विचारी कला को सत्य और नीति के शासन में क्यों जकड़ा जाय ?

आस्कर वाइल्ड और स्पिनगार्न—ऐसी ही विचारधारा मे पड़कर 'आस्कर वाइल्ड' (Oscar Wilde) जिन्होने स्वयं अपनी कृतियों मे सदाचार की अवहेलना की है कहा है—'समालोचना मे सबसे पहली बात यह है कि समालोचक की यह परख हो कि कला और आचार के क्षेत्र पृथक-पृथक हैं'। जे० ई० स्पिनार्न (J. E. Spingarn) ने इसी बात को जरा हास्यगर्भित भाषा मे कहा है—

'शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार-दुराचार ढूँढ़ना ऐसा ही है जैसा कि रेखागणित के समबाहुत्रिभुज को सदाचारपूर्ण और विषमबाहुत्रिभुज को दुराचारपूर्ण कहना।'

To say that poetry as poetry is moral or immoral is as meaningless to say that an equilateral triangle is moral and an icosceles triangle immoral.

जोशीजी और रवि ठाकुर—हमारे हिन्दी लेखकों में श्री इलाचन्द जोशी भी इसी मत के अनुयायी हैं, देखिए:—"विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति, तत्त्व अथवा शिक्षा का स्थान नहीं। उसके अलौकिक मायाचक्र से हमारे हृदय की तन्त्री आनन्द की झङ्कार से बज उठती है, यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अङ्ग की कला के भीतर किसी तत्त्व की खोज करना सौन्दर्य-देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।" डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी इसी सम्प्रदाय के हैं किन्तु उनके विचार बड़े संयत हैं। वे कला को प्रयोजन से परे मानते हुए भी सौन्दर्य को मङ्गलमय देखना चाहते हैं। उनका कथन है—"सौन्दर्य-मूर्त्ति ही मङ्गल की पूर्ण मूर्त्ति है और मङ्गल-मूर्त्ति हो सौन्दर्य का पूर्ण स्वरूप है।"

ब्रेडले—ब्रेडले (A. C Bradley) ने भी काव्य के लिए काव्य (Poetry for Poetry's sake) वाले लेख में इस पक्ष का समर्थन किया है किन्तु उन्होने काव्य या कला को स्वतन्त्र और निरपेक्ष रखते हुए यह माना है कि शुद्ध कला के दृष्टिकोण से कला के मूल्य को कला के ही मापदण्ड से, जो सौन्दर्य का है नापना चाहिए लेकिन नागरिक के दृष्टिकोण से यह आवश्यक नहीं कि कलाकार की सभी कृतियाँ प्रकाश में आयें। यही क्रोचे का भी मत है। ब्रेडले ने बतलाया है कि रूसेटी (Rossetti) ने अपनी एक कविता को जिसे परम मर्यादावादी टेनीसन ने भी पसन्द किया था लोकमर्यादा के भङ्ग होने के भय से प्रकाश में नहीं आने दिया। इसके सम्बन्ध मे ब्रेडले साहब का कथन है कि उसका यह निर्णय नागरिक की हैसियत से था कलाकार की हैसियत से नहीं, लेकिन प्रश्न यह हो सकता है कि

क्या कलाकार नागरिक नहीं है ?

यूरोप मे रस्किन, टाल्स्टाय, आई० ए० रिचर्ड्स (I. A. Richards) काव्य का नीति से सम्बन्ध मानते हैं। ब्रेडले साहब यद्यपि कलावादी हैं तथापि उन्होंने काव्य मे कोरे आकार (Form) को महत्त्व नहीं दिया है। वे तो पूरे काव्य को महत्त्व देते हैं जिसमें सामग्री और आकार दोनो सम्मिलित है। दोनो का पार्थक्य नहीं हो सकता। वे शैली और अर्थ दोनों को महत्त्व देते हैं किन्तु दोनों को एक-दूसरे से अलग नहीं मानते, वे एक प्रकार से 'वागर्थाविव सम्प्रक्तौ' 'गिरा अर्थ जल बीचि सम देखियत भिन्न न भिन्न' के मानने वाले हैं। काव्य का अर्थ काव्य के बाहर नहीं रहता। काव्य को चाहे अभिव्यञ्जक अर्थ कहिए और चाहे अर्थपूर्ण शैली—'So that what you apprehend may be called indifferently an expressed meaning or a significant form.' ब्रेडले ने काव्य और जीवन को दो समानान्तर दिशाओं मे चलता हुआ बतलाया है। जीवन में वास्तविकता है, कल्पना नहीं; काव्य मे कल्पना है किन्तु वास्तविकता की कमी रहती है। मम्मट ने भी तो काव्य को ब्रह्मा की सृष्टि के नियमो से परे माना है 'नियतिकृत नियमरहिताम्' और उसे 'अनन्यपरतन्त्राम्' भी कहा है। आचार्य शुक्लजी ने ब्रैडले के विरुद्ध रिचर्ड्स को महानता दी है।

विश्वनाथ और मम्मट—हमारे यहाँ भी यह प्रश्न दूसरे रूप से उठा है। अश्लीलत्व दोष माना ही जाता है। कहा जाता है कि कालिदास को कुमारसम्भव मे पार्वती-परमेश्वर के (जिनकी वन्दना उन्होंने रघुवंश के आदि में की है) शृङ्गार-वर्णन के कारण कुष्ट हो गया था और शायद इसी कारण उनका ग्रन्थ भी अपूर्ण रहा। किन्हीं आचार्यों ने यह भी लिखा है कि अच्छे कवियो का संसर्ग पाकर अनौचित्य भी औचित्य हो जाता है, ऐसे आचार्य कलावादी ही कहे जायँगे। पण्डित उदयशङ्कर भट्ट ने कुमार सम्भव नाम के नाटक मे कला और आचार का संघर्ष दिखाकर आचार के ऊपर कला की विजय कराई है। स्वयं सरस्वती देवी ने कला का पक्ष लिया है। यह कलावाद का प्रभाव है। साहित्यदर्पणकार और मम्मट दोनो ही ने कालिदास को प्रकृति-विपर्यय का अर्थात् दिव्य प्रकृतियो के

शृङ्गार-वर्णन का दोषी ठहराया है। अनौचित्य के ही कारण रस का रसाभास हो जाता है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य को सर्वोपरि रक्खा है।

प्राचीन आचार्यों ने काव्य को नीति से अछूना नहीं माना है। नीतिकार केवल उपदेश देता है, काव्यकार उसे कान्ता के वचनों कासा मृदुल और मनोहर बना देता है। 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' को मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों में माना है, किन्तु उससे काव्य को बिलकुल बन्धन में नहीं डाला है।

गोस्वामी तुलसीदास—गोस्वामीजी ने अपने काव्य को 'स्वान्तःसुखाय' लिखा हुआ कहा है-'स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा, भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति'—स्वान्तःसुखाय कलावाद का शुद्धतम रूप है। तुलसी की कला, यश, धन और मान-प्रतिष्ठा के प्रलोभनों से परे थी किन्तु नीति और मर्यादा-पालन से विशिष्ट थी, उनके लिए श्रेय और प्रेय मे अन्तर न था। ऐसे लोगों के लिए जिनका अन्तःकरण विकृत है स्वान्तःसुखाय बड़ी भयानक वस्तु हो जाती है। वास्तव मे तुलसीदासजी के स्वान्तःसुखाय का उतना ही अर्थ है कि वे उसे अर्थ के प्रलोभन से परे रखना चाहते थे। तभी तो उनको बुध जनो के आदर की फिक्र थी और इसीलिए उन्होंने लिखा है—

जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरही। सो श्रम वादि बाल कवि करही ॥

यही कला की प्रेषणीयता है। तुलसी की कविता का आदर्श कोरा कलावाद न था। वे पूर्ण हितवादी थे:—

कीरति भणित भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥

उपसंहार—काव्य और नीति का प्रश्न बड़ा जटिल है। जो लोग काव्य को नीति से परे रखना चाहते है वे उसके क्षेत्र में सौन्दर्य का अबाधित राज्य देखना चाहते हैं किन्तु काव्य के राज्य को हम यदि व्यापक मानें और उसका अधिकार पूरे जीवन पर समझा जाय तो उसमे सत्य, शिवं और सुन्दरम् तीनो का समन्वय होना चाहिए। काव्य का क्षेत्र रेखागणित की भाँति संकुचित नहीं रेखागणित के उपमान पर काव्य को नीति-निरपेक्ष कहना उचित न होगा।

जितना ही राज्य व्यापक होगा, उतना ही बन्धन अधिक होगा और उतने ही अंश में दूसरों से अनुकूलता प्राप्त करना पड़ेगी। कलाकार समाज से बाहर नहीं रह सकता, उसका नागरिक रूप उसके कलाकार रूप से पृथक नहीं। यदि वह तीन लोक से न्यारी अपनी मथुरा बसाकर रहे तो केवल सौन्दर्य भी नीति विच्छिन्न हो अपूर्ण रहेगा। बाह्य सौन्दर्य नीति के आन्तरिक सौन्दर्य के बिना विष-रस भरे कनक घट की भाँति अग्राह्य रहेगा। अतः नीति का प्रश्न उपेक्षणीय नहीं है। काव्य में जिस प्रकार सौन्दर्य और नीति का विच्छेद नहीं हो सकता उसी प्रकार अन्य विषयों का भी नहीं। केवल आकार खोखला रहता है, कोरी सामग्री भी मिट्टी के ढेर की भाँति अनाकर्षक रहती है, वह सुन्दर शैली को ही पाकर निखरती है।

मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
वह तुम्हारे और तुम उसके लिये;
चाहिये पारस्परिकता ही प्रिये।

—गुप्त

— —

समालोचना के मान

व्युत्पत्ति—आलोचना शब्द 'लुच' धातु से, जिसका अर्थ देखना है, बना है। यह वही धातु है जो 'लोचन' शब्द में है। समीक्षा का भी वही अर्थ है। सम्यक् प्रकार से देखने में वस्तु या कृति का प्रभाव वा आस्वाद, उसकी व्याख्या और उसका शास्त्रीय तथा नैतिक मूल्याङ्कन सभी बातें आ जाती हैं। ये ही आलोचना के उद्देश्य और प्रकार हैं। अलोचनाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हुई भी उनका मूल उद्देश्य कवि की कृति का सभी दृष्टिकोणों से आस्वाद कर पाठकों को उस प्रकार के आस्वाद मे सहायता देना तथा उनकी रुचि को परिमार्जित करना एवं साहित्य की गति-विधि निर्धारित करने में योग देना है।

आत्मप्रधान आलोचना—आलोचना का कालक्रम चाहे जो जो कुछ रहा हो किन्तु मनोवैज्ञानिक क्रम से आत्मप्रधान या प्रभाववादी (Subjective or Impressionist) आलोचना का स्थान पहले आता है। श्रोता, पाठकों या दर्शकों का स्वाभाविक हर्षोल्लास इसका पूर्व रूप है। जब तक यह साधुवाद एक व्यक्ति में सीमित रहता है तब तक उसका विशेष मान नहीं होता है। यदि वह व्यक्ति विशेषज्ञ हो तो दूसरी बात है। जब यह साधुवाद सामूहिक रूप धारण कर लेता है तब इसका मूल्य बढ़ जाता है। प्रभावात्मक आलोचना का सामूहिक रूप हमको भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में बतलाई हुई नाटक की सिद्धियों (सफलताओं) में मिलता है। इन सिद्धियों का निर्णय दर्शकों के मुस्काराने, हँसने, साधुवाद या उसके विपरीत मानसिक कष्ट को व्यक्त करने वाले वाक्यों तथा हर्षसूचक जन-कोलाहल आदि पर निर्भर रहता था। इसी आधार पर निर्णायक गण पुरस्कारस्वरूप पताका-प्रदान की राजा से सिफारिश करते थे। भरत मुनि ने सिद्धियों का इस प्रकार उल्लेख किया है:—

स्मितार्द्ध हासातिहसा साध्वहोकष्टमेव वा।
प्रवृद्ध नादा च तथाज्ञेया सिद्धिस्तुवाङ्मयी॥

इस प्रकार की आलोचनाएँ जब सहृदयों द्वारा लिखी जाने लगी तभी वे समालोचना कहलाने लगीं। इस प्रकार की आलोचनाएँ प्रारम्भिक काल में ही नहीं होती थीं वरन् इस युग मे भी इसके पक्षपाती हैं। उनका कहना है कि आलोचना के लिए इससे बढ़कर क्या प्रमाण है कि कृति हमको अच्छी लगी या बुरी लगी [आलोचक का साहित्योद्यान मे भ्रमण कर अपने प्रभाव को अङ्कित कर देना, यही आलोचना का मुख्य ध्येय है—] To have sensations in the presence of a work of art and to express them, that is the function of criticism for an Impressionist critic. ऐसी आलोचना में भावना-तत्त्व का प्राधान्य रहता है और बुद्धितत्त्व का अपेक्षाकृत ह्रास रहता है। डा० अमरनाथ झा ने स्मरणीयता काव्य का मुख्य गुण माना है, यह भी प्रभाववाद का ही प्रभाव है। हमारे यहाँ जैनेन्द्रजी भी इस प्रकार की आलोचना के पक्ष में हैं। ऐसे आलोचक, एक प्रकार की साहित्यिक सदसद्विवेक-बुद्धि (Literary conscience) में विश्वास रख अपनी रुचि को ही अन्तिम प्रमाण मानते हैं। प्रभाववादी आलोचक भी दुष्यन्त की भाँति कहता है:—'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करण प्रवृत्तयः' अर्थात् सन्देहास्पद स्थलों मे सज्जनों के लिए, अन्तःकरण की वृत्ति ही प्रमाण है। यह रुचि जितनी लोक-रुचि के साथ सामञ्जस्य रखती है और जितनी सुसंस्कृत तथा परिमार्जित होती है उतनी ही इसमें 'भिन्नःरुचिर्हिलोक.' की अनिश्चयता नहीं रहती है। विषयी-प्रधान भिन्नरुचिता इस प्रकार के मानदण्ड का मुख्य दोष है।

[इसमें महफिली दाद और 'वाह! वाह!' की प्रवृत्ति रहती है। 'लेखक ने तो कलम तोड़ दी', 'गजब का लेखक है' पण्डित पद्मसिंह शर्मा में भी कहीं-कहीं यही प्रवृत्ति आ गई है—'बिहारी सतसई के दोहे तो शक्कर की रोटी हैं जिधर से तोड़ो उधर से ही मीठे हैं—ऐसे वाक्य इसी प्रवृत्ति के उदाहरण है। सूरदासजी की प्रशंसा मे निम्नलिखित दोहा भी इसका अच्छा उदाहरण है :—]

किधौं सूर को सर लग्यो किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो बेध्यो सकल सरीर॥

इसी प्रकार का एक श्लोक भी है जो यह बतलाता है कि वह

कविता क्या और वह वनिता क्या जिसके पद-विन्यास से (कविता के सम्बन्ध मे शब्दों का संयोजन और वनिता के सम्बन्ध मे गति-विलास) मन प्रभावित न हो, देखिए:—

तया कवितया किंवा, तया वनितया च किम् ।
पदविन्यासमात्रेण, यया न संहृयते मनः ॥

सैद्धान्तिक आलोचना—जब लोकरुचि सूत्रबद्ध हो जाती है और युगप्रवर्तक कवियों की अमर रचनाओं का विश्लेषण कर उनके नमूने के आधार पर सिद्धान्त और नियम निर्धारित किये जाते हैं तब सैद्धान्तिक आलोचना का जन्म होता है। लक्ष्य ग्रन्थों के पश्चात् ही लक्षण ग्रन्थों का निर्माण होता है। भाषा के बाद ही व्याकरण का उदय होता है। हमारे राजकीय नियम और कानून लोकरुचि और लोक-सुविधा के व्यवस्था प्राप्त सूत्र हैं। पाश्चात्य देशों में अरस्तू के काव्य सिद्धान्त से लगाकर कालरिज, एडीसन, वर्डस्वर्थ, वाल्टर पेटर, रिचर्डस, क्रोचे, स्पिन्गार्न, टी. एस. इलिएट, मिडिलटन मरे, जेम्स स्काट आदि के सैद्धान्तिक ग्रन्थ और इस देश मे भरत मुनि का 'नाट्य-शास्त्र', दण्डी का 'काव्यादर्श', मम्मट का 'काव्य-प्रकाश', विश्वनाथ का 'साहित्य-दर्पण' पण्डितराज जगन्नाथ का 'रस गङ्गाधर' आदि इसी प्रकार की आलोचना के ग्रन्थ हैं। हिन्दी में रीतिकाल के लक्षण-ग्रन्थ, डाक्टर श्यामसुन्दरदास का 'साहित्या-लोचन', सूर्यकान्त शास्त्री की 'साहित्य-मीमांसा', आचार्य शुक्लजी की 'चिन्तामणि', सुधांशुजी का 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद', पुरुषोत्तमजी का 'आदर्श और यथार्थ', सेठ कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्य कल्पद्रुम' रामदहिन मिश्र का 'काव्यालोक' आदि इसी प्रकार की आलोचना में परिगणित होते हैं। इस प्रकार की अलोचना अँग्रेजी में 'Speculative Criticism' कहते हैं।

निर्णयात्मक आलोचना—सैद्धान्तिक आलोचना का व्यावहारिक प्रयोग ही निर्णयात्मक आलोचना का रूप धारण कर लेता है। निर्णयात्मक आलोचना को अँग्रेजी मे 'Judicial Criticism' कहते हैं। पाश्चात्य देशो मे अरस्तू के काव्य-शास्त्र (पोइटिक्स) के नियम कुछ समय तक वेद के विधि-वाक्यो की भाँति आदरणीय और

अनुकरणीय समझे जाते थे। हमारे यहाँ भी बहुत दिनों तक मम्मट और विश्वनाथ के बतलाये हुए गुण-दोषों के आधार पर काव्य को उपादेय या हेय ठहराने की प्रथा बनी रही। निर्णयात्मक आलोचक परीक्षक की भाँति काव्य के गुण दोषों के आधार पर उसे श्रेणीबद्ध करता है। कवि-कुल-गुरु कालिदास के निम्नोल्लिखित श्लोक में निर्णयात्मक आलोचना के आदर्श का पूर्वरूप दिखाई पड़ता है :—

तं सन्त श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्ति हेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा॥

अर्थात् उस (रघुवंश काव्य को) संत लोग सुनने के अधिकारी हैं। अग्नि में ही स्वर्ण के खरे और खोटे होने का पता लगता है, कालिदास ने परीक्षा को ही महत्ता दी है। वे प्रचलित लोक-मत के पक्ष में न थे। उनका कहना है कि पुराने मात्र होने के कारण कोई काव्य अच्छा नहीं हो सकता और न नया होने के कारण उपेक्षणीय होता है। सन्त लोग परीक्षा के बाद अपना मत निश्चित करते हैं। मूढ़ लोग अपना मत दूसरों के पक्ष पर बना लेते हैं, देखिए:—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

हमारे यहाँ के सैद्धान्तिक आलोचना के ग्रन्थों में गुण-दोषों तथा रीतियाँ आदि के विवेचन में उदाहरण-स्वरूप दूसरे ग्रन्थों के श्लोकों की भी आलोचना हो जाती थी। यूरोप में 'पेरेडाइज लोस्ट' आदि महाकाव्यों की अरस्तू के बतलाये नियमों तथा यूनानी महाकाव्यों के आदर्श पर आलोचना हुई थी। हिन्दी में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा मिश्रबन्धुओं ने बहुत-कुछ शास्त्रीय पद्धति पर निर्णयात्मक ढङ्ग से ही आलोचना की है। निर्णयात्मक आलोचना को शास्त्रीय आलोचना भी कहते हैं। इस प्रकार की आलोचना में शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग होता है।

व्याख्यात्मक आलोचना—यद्यपि निर्णयात्मक आलोचना आत्म-प्रधान आलोचना की वैयक्तिक रुचि के कारण आई हुई अनिश्चयता को किसी मात्रा में दूर कर देती है तथापि प्राचीन नियमों की स्थिरता के कारण वह साहित्य की प्रगति में बाधक होती है और

उसके आधार पर की हुई आलोचना नई कृतियों के साथ पूरा न्याय नहीं करती। लक्ष्य ग्रन्थों के पश्चात् ही लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण होता है। अरस्तू ने अपने समय के नाटकों के आधार पर ही नियम बनाये थे। यदि उसके नियमों पर शेक्सपीयर के नाटकों की परीक्षा की जाय तो वे ठीक न उतरेंगे। यूनानी नाटकों का सङ्कलन-त्रय (Three unities) के नियम का निर्वाह शेक्सपीयर के 'टेम्पेस्ट' और शायद एक और नाटक में ही हो सका था। इस कारण वे हेय नहीं कहे जा सकते। आजकल सङ्कलनत्रय (काल-सङ्कलन, स्थल-सङ्कलन और कार्य-सङ्कलन) की ओर नाटककारों का फिर झुकाव हो चला है। डाक्टर रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटकों में इनका अच्छा निर्वाह है। भरत मुनि और धनञ्जय ने जो नियम बनाये थे उनका पालन भवभूति के उत्तररामचरित में ही नहीं हुआ; उसमें दो अङ्कों के बीच का समय बारह वर्ष का कर दिया है। (नियम एक वर्ष से अधिक के समय की आज्ञा नहीं देते) भवभूति के समय से तो अब गङ्गाजी में बहुत पानी बह गया है। अब न तो कुलीनता का वह मान रहा (प्राचीन आदर्शों के अनुकूल नायक का कुलीन होना आवश्यक था।) और न सुखान्त होने का आग्रह। अब सन्धियों और अवस्थाओं तथा प्रस्तावना आदि का भी बन्धन नहीं रहा। प्रगतिशील साहित्य को नियमों की लोह शृङ्खला में बाँधने की कठिनाई के कारण आलोचना के मान लचीले बनाये गये। आलोचना का आदर्श शास्त्रीय नियमों के आधार पर निर्णय देने का न रहकर कवि के आदर्शों को ही प्रधानता देना होगया। आलोचक के सामने अब यह प्रश्न है कि कवि का क्या उद्देश्य था, वह क्या कहना चाहता था, और उसने अपने उद्देश्य का किस प्रकार निर्वाह किया। जो कुछ वह कहना चाहता था, वह कहाँ तक कहने योग्य था, इसका भी उल्लेख हुआ किन्तु इस पर महत्त्व पीछे ही दिया गया। इस प्रकार की आलोचना को व्याख्यात्मक या वैज्ञानिक (Inductive) आलोचना कहते हैं।

व्याख्यात्मक आलोचना का विशेष विवेचन मोल्टन (Moulton) ने किया है। उन्होंने निर्णयात्मक आलोचना और व्याख्यात्मक आलोचना में तीन भेद बतलाये हैं। पहला भेद तो यह है कि निर्णयात्मक आलोचना उत्तम-मध्यम का श्रेणी-भेद (जैसा

ध्वनिकाव्य और गुणीभूत व्यङ्ग्य में है) स्वीकार नहीं करती है । व्याख्यात्मक आलोचना केवल प्रकार-भेद मानती है । वह वैज्ञानिक की भाँति वर्गभेद तो करती है किन्तु उनमें ऊँच-नीच का भेद नहीं बतलाती । वैज्ञानिक लोग मञ्जरी वाले नाज (जैसे गेहूँ, जौ आदि) फली वाले नाज (जैसे चने, मटर, उरद) की विशेषताएँ बतला देंगे किन्तु उनके आधार पर किसी को नीचा और किसी को ऊँचा नहीं ठहरायेंगे ।

निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचना का दूसरा भेद यह है कि निर्णयात्मक आलोचना नियमो को राजकीय नियमो को भाँति किसी अधिकार से दिया हुआ मानती है और उसका पालन अनिवार्य समझती है किन्तु व्याख्यात्मक आलोचना उन नियमों को अधिकार द्वारा आरोपित नहीं मानती, वरन् वे उसकी ही प्रकृति के नियम है। पृथ्वी अपनी ही गति और नियम से चलती है, किसी बाहरी अधिकारी के बनाये नियम पर वह चक्कर नही काटती । नियम बाहर से लगाये हुए नहीं हैं वरन् गति की एकाकारिता के सूत्र है, इसलिए सब कवियो को एक लाठी से नहीं हाँका जा सकता । हर एक कवि के उसकी प्रकृति और आत्म-भाव के अनुकूल पृथक-पृथक नियम होंगे । इस बात को हम यो कह सकते हैं कि व्याख्यात्मक आलोचना लेखक और कवि के आत्मभाव की विशेषताओं को स्वीकार करती है और निर्णयात्मक आलोचना उसे नियमों की निर्जीव पत्थर की कसोटी पर कसना चाहती है ।

तीसरा भेद दूसरे भेद का फलस्वरूप है, वह यह कि निर्णयात्मक आलोचना नियमों को अगतिशील मानती है और व्याख्यात्मक आलोचना नियमों को प्रगतिशील बतलाती है ।

व्याख्यात्मक आलोचना के सबसे बड़े प्रचारक शुक्लजी हैं किन्तु उनकी आलोचना मे व्याख्या के साथ मूल्य का भी प्रश्न लगा हुआ है । लोक-संग्रह के आधार पर ही उन्होंने तुलसी, सूर और जायसी को श्रेणीबद्ध किया है ।

वास्तव मे निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचना बहुत अंश में एक दूसरे पर निर्भर रहती है । बिना व्याख्या के निर्णय में यथार्थता नहीं आती है । व्याख्या मे भी थोड़ा-बहुत शास्त्रीय

उसके आधार पर की हुई आलोचना नई कृतियों के साथ पूरा न्याय नहीं करती। लक्ष्य ग्रन्थों के पश्चात् ही लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण होता है। अरस्तू ने अपने समय के नाटकों के आधार पर ही नियम बनाये थे। यदि उसके नियमों पर शेक्सपीयर के नाटकों की परीक्षा की जाय तो वे ठीक न उतरेंगे। यूनानी नाटकों का सङ्कलन-त्रय (Three unities) के नियम का निर्वाह शेक्सपीयर के 'टेम्पैस्ट' और शायद एक और नाटक में ही हो सका था। इस कारण वे हेय नहीं कहे जा सकते। आजकल सङ्कलनत्रय (काल-सङ्कलन, स्थल-सङ्कलन और कार्य-सङ्कलन) की ओर नाटककारों का फिर झुकाव हो चला है। डाक्टर रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटकों में इनका अच्छा निर्वाह है। भरत मुनि और धनञ्जय ने जो नियम बनाये थे उनका पालन भवभूति के उत्तररामचरित में ही नहीं हुआ; उसमें दो अङ्कों के बीच का समय बारह वर्ष का कर दिया है। (नियम एक वर्ष से अधिक के समय की आज्ञा नहीं देते) भवभूति के समय से तो अब गङ्गाजी में बहुत पानी बह गया है। अब न तो कुलीनता का वह मान रहा (प्राचीन आदर्शों के अनुकूल नायक का कुलीन होना आवश्यक था।) और न सुखान्त होने का आग्रह। अब सन्धियों और अवस्थाओं तथा प्रस्तावना आदि का भी बन्धन नहीं रहा। प्रगतिशील साहित्य को नियमों की लौह शृङ्खला में बाँधने की कठिनाई के कारण आलोचना के मान लचीले बनाये गये। आलोचना का आदर्श शास्त्रीय नियमों के आधार पर निर्णय देने का न रहकर कवि के आदर्शों को ही प्रधानता देना होगया। आलोचक के सामने अब यह प्रश्न है कि कवि का क्या उद्देश्य था, वह क्या कहना चाहता था, और उसने अपने उद्देश्य का किस प्रकार निर्वाह किया। जो कुछ वह कहना चाहता था, यह कहाँ तक कहने योग्य था, इसका भी उल्लेख हुआ किन्तु इस पर महत्व पीछे ही दिया गया। इस प्रकार की आलोचना को व्याख्यात्मक या वैज्ञानिक (Inductive) आलोचना कहते हैं।

व्याख्यात्मक आलोचना का विशेष विवेचन मौल्टन (Moulton) ने किया है। उन्होंने निर्णयात्मक आलोचना और व्याख्यात्मक आलोचना में तीन भेद बतलाये हैं। पहला भेद तो यह है कि निर्णयात्मक आलोचना उत्तम-मध्यम का श्रेणी-भेद (जैसा

ध्वनिकाव्य और गुणीभूत व्यङ्ग्य में है) स्वीकार नहीं करती है । व्याख्यात्मक आलोचना केवल प्रकार-भेद मानती है । वह वैज्ञानिक की भाँति वर्गभेद तो करती है किन्तु उनमें ऊँच-नीच का भेद नहीं बतलाती । वैज्ञानिक लोग मञ्जरी वाले नाज (जैसे गेहूँ, जौ आदि) फली वाले नाज (जैसे चने, मटर, उरद) की विशेषताएँ बतला देंगे किन्तु उनके आधार पर किसी को नीचा और किसी को ऊँचा नहीं ठहरायेंगे ।

निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचना का दूसरा भेद यह है कि निर्णयात्मक आलोचना नियमो को राजकीय नियमों की भाँति किसी अधिकार से दिया हुआ मानती है और उसका पालन अनिवार्य समझती है किन्तु व्याख्यात्मक आलोचना उन नियमो को अधिकार द्वारा आरोपित नहीं मानती, वरन् वे उसकी ही प्रकृति के नियम हैं । पृथ्वी अपनी ही गति और नियम से चलती है, किसी बाहरी अधिकारी के बनाये नियम पर वह चक्कर नही काटती । नियम बाहर से लगाये हुए नहीं हैं वरन् गति की एकाकारिता के सूत्र हैं, इसलिए सब कवियो को एक लाठी से नहीं हाँका जा सकता । हर एक कवि के उसकी प्रकृति और आत्म-भाव के अनुकूल पृथक-पृथक नियम होंगे । इस बात को हम यों कह सकते हैं कि व्याख्यात्मक आलोचना लेखक और कवि के आत्मभाव की विशेषताओं को स्वीकार करती है और निर्णयात्मक आलोचना उसे नियमों की निर्जीव पत्थर की कसौटी पर कसना चाहती है ।

तीसरा भेद दूसरे भेद का फलस्वरूप है, वह यह कि निर्णयात्मक आलोचना नियमो को अगतिशील मानती है और व्याख्यात्मक आलोचना नियमों को प्रगतिशील बतलाती है ।

व्याख्यात्मक आलोचना के सबसे बड़े प्रचारक शुक्लजी हैं किन्तु उनकी आलोचना मे व्याख्या के साथ मूल्य का भी प्रश्न लगा हुआ है । लोक-संग्रह के आधार पर ही उन्होंने तुलसी, सूर और जायसी को श्रेणीबद्ध किया है ।

वास्तव में निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचना बहुत अंश मे एक दूसरे पर निर्भर रहती है । बिना व्याख्या के निर्णय में यथार्थता नहीं आती है । व्याख्या मे भी थोड़ा-बहुत शास्त्रीय

नियमों का सहारा लेना पड़ता है और किसी अंश में श्रेणी-विभाजन भी हो जाता है। शुद्ध वैज्ञानिक भी जहाँ चने, गेहूँ, टमाटर या पालक में जाति-विभाग करता है वहाँ यह भी बतला देता है कि किसमें जीवन के पोषक तत्त्व अधिक हैं। यही मूल्य-सम्बन्धी आलोचना है। इसमें श्रेणी--विभाजन आ जाता है किन्तु परीक्षक-के-से नम्बर देना आलोचक का ध्येय न होना चाहिए।

प्रभाववादी आत्म-प्रधान आलोचना और निर्णयात्मक आलोचनाएँ भी एक दूसरे की पूरक हैं। स्पिन्गर्न ने इन्हें आलोचना के दो लिङ्ग बतलाया है।

अन्य प्रकार—मूल्य-सम्बन्धी आलोचना के विवेचन से पूर्व हम व्याख्यात्मक आलोचना की, सहायिका रूप से उपस्थित होनेवाली आलोचना-पद्धतियों का उल्लेख कर देना चाहते हैं। वे हैं ऐतिहासिक (Historical) आलोचना, मनोवैज्ञानिक (Psychological) आलोचना और तीसरी तुलनात्मक (Comparitive) ऐतिहासिक आलोचना का सूत्रपात फ्रांसीसी आलोचक टेन (Taire) से हुआ उसने बतलाया कि कवि या लेखक अपनी जातीय मनोवृत्ति (Race) मिल्यू (Milieu) परिस्थिति और वातावरण और समय का (Moment) अर्थात् जातीय मनोवृत्ति का वह रूप जो उस समय विकसित होकर व्याप्त हो जाता है, उसका फल होता है। लेखक या कवि अपने समय की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों से तो प्रभावित होता है और जातीय मनोवृत्तियों को भी पैतृक सम्पत्ति के रूप में ग्रहण करता है किन्तु वह स्वयं भी कुछ विशेषता रखता है। यह मनोवैज्ञानिक आलोचना का विषय बन जाता है। इस प्रकार ऐतिहासिक आलोचना जहाँ बाहरी परिस्थितियों का विवेचन करती है वहाँ मनोवैज्ञानिक आलोचना आन्तरिक प्रेरक शक्तियों का उद्घाटन करती है। आचार्य श्यामसुन्दरजी तथा आचार्य शुक्लजी के इतिहास इस सम्बन्ध मे विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कवि और लेखक पर बहुत कुछ समय और परिस्थिति की छाप रहती है, वह अपने समय की उपज होता है किन्तु वह समय की गति-विधि में भी योग देता है। कवि यदि केवल अपने समय की ही उपज हो तो विचार-धारा आगे ही न बढ़े।

हमें कवि के अध्ययन में उस पर के बाहरी प्रभावों के साथ यह भी देखना चाहिए कि उसने समाज से क्या लिया और स्वयं उसने समाज को क्या दिया। कोई-कोई कवि अपने समय से आगे भी होते हैं और ये लोग ही इतिहास बनाते हैं। साहित्य के इतिहास में देश के राजनीतिक इतिहास और जाति के मानसिक विकास की झलक रहती है। वीर-गाथा-काल का साहित्य उस समय की परिस्थितियों का ही फल था। कबीर, जायसी आदि में 'हिन्दू-मुसलिम-संघर्ष और उनके शमन के उद्गारों की झलक है। सूर, तुलसी में मुसलिम तथा नाथपंथ द्वारा आई हुई बौद्ध विचारधाराओं से पृथक हिन्दू विचारधारा का निजत्व बनाये रखने की प्रवृत्ति है। रीतिकालीन कवियों मे तत्कालीन विलास-भावना और भक्ति-काल के धार्मिक प्रभाव की झलक है। भूषण में महाराष्ट्र-जाग्रति की प्रतिध्वनि है।

इन आलोचनाओं के साथ कवि के जीवन के सम्बन्ध में ऐतिहासिक खोज भी आलोचना का अङ्ग है। वह वास्तव में ध्येय नहीं है, साधनरूप है। यह खोज मनोवैज्ञानिक आलोचना में सामग्री रूप में सहायक होती है। जब हम किसी कवि के पारिवारिक जीवन के बारे में कुछ बातें जान लेते हैं, तो उसकी मनोवृत्ति पर भी प्रकाश पड़ जाता है। कबीर मे जुलाहेपन की सगर्व चेतना थी। जायसी मे अपनी कुरूपता की हीनताग्रन्थि थी। तुलसीदासजी में भी रत्नावली की 'लाज न आवत आपको' वाली बात की प्रतिक्रिया देखी जा सकती है। कविवर सत्यनारायण के "भयो क्यों अनचाहत को संग" अथवा "अब नहिं जाति सही" आदि पद उनके व्यक्तिगत पारिवारिक जीवन की कठिनाइयों के आलोक मे अच्छी तरह समझे जा सकते हैं। आजकल आलोचना में भी मनोविश्लेषण-शास्त्र (Psycho-analysis) का पुट आने लगा है और कवि की कुण्ठाओं आदि का (जैसे नगेन्द्रजी की आलोचनाओं मे है) उल्लेख होता है।

तुलनात्मक आलोचना भी कई रूप से चल रही है। तुलनात्मक आलोचना के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि तुलना मे विषमता के साथ समानता भी आवश्यक है। वास्तव में तुलना समान वस्तुओं की ही हो सकती है। तुलना एक विषय के वा एककाल के कवियों की अथवा एक ही कवि की कृतियोंकी की जा सकती है।

नियमों का सहारा लेना पड़ता है और किसी अंश में श्रेणी-विभाजन भी हो जाता है। शुद्ध वैज्ञानिक भी जहाँ चने, गेहूँ, टमाटर या पालक मे जाति-विभाग करता है वहाँ यह भी बतला देता है कि किसमे जीवन के पोषक तत्व अधिक हैं। यही मूल्य-सम्बन्धी आलोचना है। इसमें श्रेणी-विभाजन आ जाता है किन्तु परीक्षक-के-से नम्बर देना आलोचक का ध्येय न होना चाहिए।

प्रभाववादी आत्म-प्रधान आलोचना और निर्णयात्मक आलोचनाएँ भी एक दूसरे की पूरक हैं। स्पिन्गर्न ने इन्हें आलोचना के दो लिङ्ग बतलाया है।

अन्य प्रकार—मूल्य-सम्बन्धी आलोचना के विवेचन से पूर्व हम व्यख्यात्मक आलोचना की सहायिका रूप से उपस्थित होनेवाली आलोचना-पद्धतियों का उल्लेख कर देना चाहते हैं। वे है ऐतिहासिक (Historical) आलोचना, मनोवैज्ञानिक (Psychological) आलोचना और तीसरी तुलनात्मक (Comparitive) ऐतिहासिक आलोचना का सूत्रपात फ्रांसीसी आलोचक टेन (Taine) से हुआ उसने बतलाया कि कवि या लेखक अपनी जातीय मनोवृत्ति (Race) मिल्यू (Milieu) परिस्थिति और वातावरण और समय का (Moment) अर्थात् जातीय मनोवृत्ति का वह रूप जो उस समय विकसित होकर व्याप्त हो जाता है, उसका फल होता है। लेखक या कवि अपने समय की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों से तो प्रभावित होता है और जातीय मनोवृत्तियों को भी पैतृक सम्पत्ति के रूप में ग्रहण करता है किन्तु वह स्वयं भी कुछ विशेषता रखता है। यह मनोवैज्ञानिक आलोचना का विषय बन जाता है। इस प्रकार ऐतिहासिक आलोचना जहाँ बाहरी परिस्थितियो का विवेचन करती है वहाँ मनोवैज्ञानिक आलोचना आन्तरिक प्रेरक शक्तियो का उद्घाटन करती है। आचार्य श्यामसुन्दरजी तथा आचार्य शुक्लजी के इतिहास इस सम्बन्ध मे विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कवि और लेखक पर बहुत कुछ समय और परिस्थिति की छाप रहती है, वह अपने समय की उपज होता है किन्तु वह समय की गति-विधि में भी योग देता है। कवि यदि केवल अपने समय की ही उपज हो तो विचार-धारा आगे ही न बढे।

हमें कवि के अध्ययन में उस पर के बाहरी प्रभावों के साथ यह भी देखना चाहिए कि उसने समाज से क्या लिया और स्वयं उसने समाज को क्या दिया। कोई-कोई कवि अपने समय से आगे भी होते हैं और ये लोग ही इतिहास बनाते हैं। साहित्य के इतिहास में देश के राजनीतिक इतिहास और जाति के मानसिक विकास की झलक रहती है। वीर-गाथा-काल का साहित्य उस समय की परिस्थितियो का ही फल था। कबीर, जायसी आदि में हिन्दू-मुसलिम-संघर्ष और उनके शमन के उद्गारों की झलक है। सूर, तुलसी में मुसलिम तथा नाथपंथ द्वारा आई हुई बौद्ध विचारधाराओं से पृथक हिन्दू विचारधारा का निजत्व बनाये रखने की प्रवृत्ति है। रीतिकालीन कवियों मे तत्कालीन विलास-भावना और भक्ति-काल के धार्मिक प्रभाव की झलक है। भूषण में महाराष्ट्र-जाग्रति की प्रतिध्वनि है।

इन आलोचनाओं के साथ कवि के जीवन के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक खोज भी आलोचना का अङ्ग है। वह वास्तव में ध्येय नहीं है, साधनरूप है। यह खोज मनोवैज्ञानिक आलोचना में सामग्री रूप में सहायक होती है। जब हम किसी कवि के पारिवारिक जीवन के बारे में कुछ बातें जान लेते हैं, तो उसकी मनोवृत्ति पर भी प्रकाश पड़ जाता है। कबीर में जुलाहेपन की सगर्व चेतना थी। जायसी मे अपनी कुरूपता को हीनताग्रन्थि थी। तुलसीदासजी में भी रत्नावली की 'लाज न आवत आपको' वाली बात की प्रतिक्रिया देखी जा सकती है। कविवर सत्यनारायण के "भयो क्यों अनचाहत को संग" अथवा "अब नहिं जाति सही" आदि पद उनके व्यक्तिगत पारिवारिक जीवन की कठिनाइयों के आलोक मे अच्छी तरह समझे जा सकते हैं। आजकल आलोचना मे भी मनोविश्लेषण-शास्त्र (Psycho-analysis) का पुट आने लगा है और कवि की कुण्ठाओं आदि का (जैसे नगेन्द्रजी की आलोचनाओं मे है) उल्लेख होता है।

तुलनात्मक आलोचना भी कई रूप से चल रही है। तुलनात्मक आलोचना के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि तुलना में विषमता के साथ समानता भी आवश्यक है। वास्तव में तुलना समान वस्तुओं की ही हो सकती है। तुलना एक विषय के वा एककाल के कवियों की अथवा एक ही कवि की कृतियोंकी की जा सकती है।

हिन्दी साहित्य क्षेत्र में देव और बिहारी की तुलना की कुछ दिनों बड़ी धूम-धाम रही। इस सम्बन्ध में पण्डित पद्मसिंह शर्मा, पण्डित कृष्ण-बिहारी मिश्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

एक प्रकार की गणनात्मक वैज्ञानिक आलोचना और भी चल रही है। उसमें कवि के शब्दों की सारिणी बनाकर कवि की मनोवृत्ति की परीक्षा तथा उसकी हस्तलिपि आदि को लिपि विशेषज्ञों के नियमों के आधार पर जाँच पड़ताल होती है। शब्दों की सारिणी बनाना भी कवि की मनोवैज्ञानिक आलोचना में सहायक होता है। डाक्टर सूर्यकान्त शास्त्री ने गोस्वामी तुलसीदासजी तथा जायसी की सारिणी बनाकर बहुत उपयोगी कार्य किया है। अभी उन सारिणियों के आधार पर विवेचना की आवश्यकता है। सारिणी बनाने की प्रथा नई नहीं है। हमने बहुत से कथावाचकों के मुख से सुना है कि चकोर शब्द तथा और भी बहुत से शब्द रामचरितमानस मे किन-किन चौपाइयों में आये हैं।

आजकल शब्दों की जाँच नहीं वरन् इस बात की भी जाँच होने लगी है कि अमुक कवि मे गति-चित्र अधिक आये है अथवा चाक्षुष चित्र वा गन्ध चित्र अधिक आये हैं।* अँग्रेजी लेखकों

---

* यहाँ पर पाठकों की जानकारी के लिए ऐसे चित्रों के दो-एक नमूने दे देना अनुपयुक्त न होगा। चाक्षुष चित्र तो कविता मे बहुतायत से मिलते हैं। फिर भी एक उदाहरण पर्याप्त होगा.—

माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोच लागु जनु सोचन॥

गति और स्थिरता मिला हुआ चित्र साकेत से दिया जा सकता है:—

'पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी।'

गति और ध्वनि के मिले हुए चित्र रामचन्द्रिका मे अच्छे मिलते हैं.—

नूपुर कंकन किंकिनि करतल मंजुल मुरली।
ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली॥
तैसिय मृदु पद पटकनि चटकनि करतारन की।
लटकनि पटकनि झलकनि कल कुण्डल हारन की॥

पन्तजी की कविता मे गन्ध के चित्र भी मिलते हैं। सरसों की गन्ध का चित्र देखिए:—

'उड़ती भीनी तैलाभ गन्ध, फूली सरसों पीली पीली।'

एक स्पर्श का चित्र लीजिए—'मखमली टमाटर हुए लाल यहाँ।'

के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि पोप में ध्वन्यात्मक व्यञ्जनाएँ अधिक है, शैली मे घ्राण-सम्बन्धी चित्रि अधिक हैं तो कीट्स में स्पर्श-सम्बधी चित्रो का प्राधान्य है। निरालाजी का काली वस्तुओं की ओर झुकाव है और पन्तजी का श्वेत वस्तुओं की ओर (शायद वैयक्तिक वर्ण का प्रभाव हो) यह बात निरालाजी ने मुझे स्वयं बताने की कृपा की थी।

लेकिन इन सब प्रकारो की आलोचना की बहुत-कुछ हँसी उड़ाई जा चुकी है। टी० एस० इलियट ने तो इस प्रकार की आलोचनाओ से पुरानी निर्णयात्मक आलोचनाओं को श्रेष्ठता दी है। उसका कहना है कि पुराने आलोचक साहित्य का शुद्ध रूप बनाये रखने की चिन्ता रखते थे। आज-कल की आलोचना मे तो साहित्य-कहीं इतिहास का रूप धारण कर लेता है तो कहीं मनोविज्ञान का और कहीं-कहीं नृ-विज्ञान (Ethnology) और भूगोल-शास्त्र का। स्पिन्गर्न (J. E. Spingarn) ने भी इस प्रकार की आलोचनाओ का खूब खाका खींचा है। किन्तु साहित्य वास्तव मे सहित का ही भाव है। आजकल ज्ञान का विशेषीकरण होते हुए भी उसका अन्य शास्त्रो से विच्छेद नहीं किया जाता है। हमारे यहाँ कवि-शिक्षा मे तो कवि के लिए सभी शास्त्रो का ज्ञान आवश्यक बतलाया गया है (देखिए डा० गङ्गानाथ झा की 'काव्य मीमांसा') फिर आलोचना मे सब शास्त्रों का प्रयोग कोई आश्चर्य की बात नहीं। अन्तर केवल इतना ही है कि आलोचना और काव्य-रचना मे इन सब शास्त्रो का ज्ञान उन शास्त्रो के लिए नहीं होता वरन् उनके मानवी सम्बन्ध को विशेषता देकर होता है।

मूल्य-सम्बन्धी आलोचना—अब अन्त में मूल्य-सम्बन्धी आलोचना पर थोड़ा विवेचन कर लेना आवश्यक है। कवि क्या कहना चाहता था, उसने उसका कैसा निर्वाह किया ? इसके साथ यह प्रश्न भी आवश्यक हो जाया है कि जो कुछ उसने कहा वह समाज के लिए कहाँ तक मूल्यवान है। इस सम्बन्ध मे कलावादी लोग जैसे, वाल्टर पेटर (Walter Pater), ऑस्कर वाइल्ड (Oscar Wilde), डाक्टर ब्रेडले (Dr. Bradley) मूल्यों की उपेक्षा करते हैं। इनके कहने का सार-भाग यह है कि काव्य द्वारा वह साम्यमयी

मनोवृत्ति उत्पन्न होती है जो आचार-शास्त्र के मूल्य मे है। A certain disposition of the mind is in some shape or other the principle of higher morality. In poetry, in art you touch this principle—Pater, एक और लेखक (William Griffith) ने कहा है कि साहित्य का उद्देश्य आत्माओ को बचाना नहीं वरन् बचाने योग्य बनाना है। हमारे यहाँ तुलसी का ध्यान बनाने की ओर अधिक रहा है। सूर का ध्यान जीवन की सजीवता दिखाकर उसे बचाने योग्य बताने की ओर अधिक रहा है।

यहाँ तक तो बात ठीक है, ब्रेडले आदि केवल मनोवृत्ति पर ही ध्यान रखते है, सो भी सक्रिय रूप से नहीं और न जीवन और क्रिया पर—'That the end of life is Contemplation being as distinct from doing'—विचारो की पूर्ण परिणति, क्रिया में ही है किन्तु विचार भी यदि ठीक हो सके तो क्रिया पर प्रभाव पड़ेगा। दिक्कत इस बात की है कि ये लोग 'मनः पूतं समाचरेत्' अर्थात् मन को भी पवित्र करने की अधिक फिक्र नहीं करते हैं। यदि इसकी भी फिक्र करे तो कलावाद और मूल्यवाद का विशेष अन्तर न रह जाय। कलावादी ब्रेडले आदि पर रिचर्ड्स की यही आपत्ति है कि इन लोगों ने काव्य के सौंदर्य-पक्ष को बिलकुल अलग माना है किन्तु वास्तविक जीवन मे सौन्दर्य और नीति के कक्ष कबूतरो के खाने की भाँति अलग नहीं रक्खे जा सकते है। काव्य भी जीवन की तरह संश्लिष्ट होकर ही रह सकता है।

आजकल के मूल्यवादियो मे आई० ए० रिचर्ड्स का स्थान प्रमुख है। हमारे यहाँ आचार्य शुक्लजी ने भी लोक-संग्रह का पक्ष लेकर मूल्य का समर्थन किया है। इन दोनों आचार्यों मे अन्तर यह है कि जहाँ आई० ए० रिचार्ड्स ने आन्तरिक वृत्तियों के सामञ्जस्य पर जोर दिया है वहाँ शुक्लजी ने आन्तरिक वृत्तियो के साथ समाज के वाह्य सामञ्जस्य को भी अपना ध्येय बनाया है। रिचर्ड्स ने वाह्य पक्ष की उपेक्षा नहीं की है, किन्तु शुक्लजी को बराबर उस पर बल नहीं दिया है। शुक्लजी ने व्यक्ति की अपेक्षा समाज पर अधिक ध्यान रक्खा है। रिचर्ड्स ने इन प्रवृत्तियो (Impulses) मे श्रेणी विभाग भी माना है और महत्व की कसौटी यह रक्खी है कि

किस प्रवृत्ति की रुकावट या कुण्ठा से और दूसरी प्रवृत्तियों की कुण्ठा किस मात्रा में होती है? यदि कम मात्रा मे होती है तो वह महत्वपूर्ण है और अधिक मात्रा में होती है तो न्यून महत्व की है। जो साहित्य उस महत्वपूर्ण प्रवृत्ति को पोषण करेगा वह व्यक्ति में अधिक सामञ्जस्य उपस्थित करेगा। रिचर्ड्स के शब्द इस प्रकार है—The importance of an impulse, it will be seen can be defined for our purposes the extent of the disturbance of other impulses in the individual's activities which the thwarting of the impulse involves. इसके सम्बन्ध में केवल यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि इसमें व्यक्ति को अधिक महत्व मिलता है। प्रवृत्ति की महत्ता भी व्यक्ति पर ही निर्भर रहती है। एक विषयी को वासना-सम्बन्धी प्रवृत्तियों के कुण्ठित होने मे उसके सारे मानसिक संस्थान में गड़बड़ी पड़ जाती है और एक प्रकार से उसके सारे अञ्जर-पञ्जर ढीले हो जाते है। हमको व्यक्ति की वृत्तियों के सामञ्जय के साथ समाज मे व्यक्तियो के पारस्परिक सामञ्जय की बात पर भी ध्यान रखना आवश्यक है।

मार्क्स ने व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्ता दी है और उनका मानदण्ड प्रत्यक्ष और विषयगत है। वे आर्थिक मूल्यों को ही प्रधानता देते है और उन्हीं को सांस्कृतिक विकास की प्रेरक शक्ति मानते हैं। जो साहित्य आर्थिक मूल्यों को सुलभ बनाने मे सहायक होता है वह मार्क्सवादी आलोचना-पद्धति मे श्रेष्ठ गिना जाता है। हमारे यहाँ के प्रगतिवाद ने उस मानदण्ड के अनुकूल साहित्य भी लिखा है और आलोचना-पद्धति का भी अनुसरण किया है। हिन्दी मे इस पद्धति के आलोचकों मे शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रामविलास शर्मा आदि प्रमुख हैं। इस पद्धति मे सबसे बड़ी खराबी यह है कि इसमें आर्थिक मूल्यों को इतनी महत्ता दी गई है कि अन्य मूल्य दब से जाते है। इसके अतिरिक्त वर्ग-सङ्घर्ष, जो एक आवश्यक बुराई के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है, उस पद्धति में ध्येय-सा बन गया है। प्रगतिवादी आलोचना की सबसे बड़ी देन यह है कि उसने आलोचना मे जीवन के साथ सम्पर्क के मूल्य की ओर ध्यान आकर्षित किया। सिद्धान्त रूप से आचार्य शुक्लजी ने भी यही किया था और

उन्होंने छायावाद-रहस्यवाद की पलायन-वृत्ति का प्रगतिवादियों-का-सा ही जोरदार विरोध किया था। इस प्रकार वे इस अंश मे प्रगतिवाद के अग्रदूत थे और उन्होने उसके लिए बहुत-कुछ मार्ग प्रशस्त कर दिया था किन्तु उन्होने वर्ग-भेद को भारतीय कार्य-विभाग-व्यवस्था के रूप मे आवश्यक माना है।

हमारे यहाँ के हिन्दू आदर्शों मे कवि की सृष्टि को 'नियतिकृत नियमरहितां' मान कर भी काव्य के उद्देश्य बतलाते हुए 'व्यवहार-विदे' और 'कान्तासम्मिततयापदेशयुजे' को भी स्वीकार किया है। साहित्य दर्पण मे काव्य को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारो पुरुषार्थों का साधक माना है। मोक्ष तो हमारे क्षेत्र से बाहर है। साहित्यिक लोग तो जीवन के सौन्दर्य के आगे मुक्ति को विशेष महत्व भी नहीं देते हैं।

हमारे प्राचीन साहित्य मे धर्म के आध्यात्मिक मूल्यों, अर्थ के भौतिक मूल्यों और काम के सौन्दर्य-सम्बन्धी मूल्यों (Aesthetic values) का समन्वय जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। भगवान रामचन्द्रजी ने चित्रकूट मे आये हुए भरतजी को यही उपदेश दिया था कि तीनोंका अविरोध रूप से सेवन किया जाय, भारतवर्ष का सामाजिक आदर्श भी हमे भेद से अभेद की ओर ले जाता है। विकास के सिद्धान्त के अनुकूल भी वही संस्थान सबसे अधिक विकसित समझा जाता है जिस मे सबसे अधिक कार्य-विभाजन के साथ सबसे अधिक पारस्परिक सहयोग भी हो। इसीलिए गांधीजी ने वर्ग-संघर्ष के विरुद्ध सर्वोदय समाज का आदर्श सामने रक्खा है। हमारे साहित्य की सार्थकता ऐसी ही समाज-व्यवस्था की स्थापना मे योग देने मे हैं। साहित्यिक का कार्य समन्वय और एकत्रीकरण हैं, विभाजन नहीं है। आर्यों का आदर्श भी यही है।

हमारे प्राचीन ऋषिगण इस सद्भावना की आवृत्ति किया करते थे कि सब सुखी हो, सब कष्ट और रोग से मुक्त हो, सब कल्याण के दर्शन करे और कोई दुख का भागी न हो।

> सर्वेभवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
> सर्वभद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

यद्यपि इस आदर्श का चरितार्थ होना असम्भवप्राय: है तथापि संघर्ष को न्यूनातिन्यून बनाना सत्साहित्य का लक्ष्य होना चाहिए किन्तु संघर्ष-शून्यता का अर्थ निष्क्रियता नहीं है। संघर्ष-शून्यताके साथ जीवन की सम्पन्नता भी वाञ्छनीय है। यही रामराज्य का आदर्श था।

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥

× × × ×

सब नर करहि परस्पर प्रीती। चलहि स्वधर्म निरत श्रुति रीती॥

× × × ×

सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर और नारि चतुर सब गुनी॥

सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहि कपट सयानी॥

पहली दो चोपाइयों मे संघर्ष का अभाव द्योतित है और अन्तिम दो चौपाइयो मे जीवन की सम्पन्नता दिखाई गई है।

साहित्य सामाजिक और राजनीतिक, सुधार से विमुख नहीं हो सकता किन्तु उसकी पद्धति प्रेम-पूर्ण है। वह अपनी सामञ्जस्य-बुद्धि, शालीनता और दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की उदारता को नहीं त्यागता। वह शिव के साथ सौन्दर्य का भी उपासक है। वह शिव का प्रलयङ्कर रूप नहीं वरन् सौम्य रूप देखना चाहता है। वह सौन्दर्य की साधना उसके मङ्गलमय रूप मे करता है और वह माङ्गल्य-विधान श्री के सम्पन्नतामय सौन्दर्य के साथ करता है।

साहित्यिक समाज मे मङ्गलमय व्यवस्थाकी स्थापना चाहता है। वह कला-सम्बन्धी सौन्दर्य को भी इसलिए मान देता है कि सौन्दर्य के प्रवेश-द्वार से सत्य और सुन्दर की सहज मे स्थापना हो सकती है। सच्चा समालोचक काव्य के विषय और उसकी अभिव्यक्ति को समान महत्व देता है। सुन्दर अभिव्यक्ति के बिना विषय पङ्गु रह जाता है और विषय के सौन्दर्य के बिना कला का सौन्दर्य खोखला है।

लेखक की अन्य पुस्तकें

१—काव्य के रूप— (सिद्धान्त और अध्ययन भाग २)

यह सिद्धान्त और अध्ययन का पूरक ग्रन्थ है। जहाँ सिद्धान्त और अध्ययन मे काव्य के व्यापक सिद्धान्त हैं वहाँ इस ग्रन्थ में काव्य के विभिन्न रूपों, जैसे दृश्य काव्य, पद्य के अन्तर्गत महा-काव्य, खण्ड काव्य, प्रगीत काव्य एवं गद्य के अन्तर्गत उपन्यास, कहानी, निबन्ध, जीवनी, गद्य काव्य आदि के सैद्धान्तिक विवेचन के साथ हिन्दी मे उन अङ्गों का क्रम-विकास भी दिखाया है। ये दोनों पुस्तकें मिलकर विद्यार्थियों को साहित्यालोचन के सभी विषयों से परिचित करा देती हैं। मूल्य ४॥)

२—हिन्दी काव्य-विमर्श—

इस पुस्तक में हिन्दी के प्राचीन और नवीन, प्रमुख और प्रतिनिधि कवियों, जैसे चन्दवरदाई, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, हरिश्चन्द्र, मैथिली शरण गुप्त, उपाध्याय, रत्नाकर, प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी आदि की कृतियों का आलो-चनात्मक अध्ययन गागर मे सागर न्याय से उपस्थित किया गया है। इन्टर और बी०ए० के विद्यार्थियो के लिए यह पुस्तक विशेष रूप से उपयोगी है और एम०ए० के विद्यार्थी भी इस से समुचित लाभ उठा सकते हैं। मूल्य ३॥) मात्र

३—हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास—

हिन्दी साहित्य के क्रमबद्ध विकास तथा विभिन्न युगो की व्यापक प्रवृत्तियों के अध्ययन के लिए यह पुस्तक विशेष रूप से उपयोगी है। मूल्य ३)

सिद्धान्त और अध्ययन

कुछ सम्मतियाँ

"हिन्दी में यह पुस्तक अपने ढंग की पहली पुस्तक है। भारतवर्ष के साहित्य सिद्धान्तों का तो इसमें दिग्दर्शन कराया ही गया है, साथ ही पाश्चात्य विद्वानों के मतों का भी यथेष्ट निरूपण है···· यह पुस्तक लेखकों, कवियों और उच्च श्रेणी के विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।"

—डाक्टर अमरनाथ झा

"मेरे विचार में यह साहित्य का प्रवेशक है। जिसे साहित्य के विविध अङ्गों और सिद्धान्तों के अध्ययन की रुचि हो उसके लिए यह सर्वप्रथम पढ़ने योग्य है। पूर्वी और पश्चिमी सिद्धान्तों का समन्वय इसकी विशेषता है।"

—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र।

"Siddhant Aur Adhyayana is a real orientation of our literary values. The author has left no aspect of literature untouched, no field of activity has been ignored. Every chapter is almost a treatise and every sentence reads like a maxim. It is needless to say that Siddant Aur Addhyayna is a valuable contribution to our Hindi Literature"

—*Amrit Bazar Patrika.*

काव्य के रूप

"काव्य के रूप—श्री गुलाबराय, एम०ए०, कृत 'सिद्धान्त और अध्ययन' का द्वितीय भाग है····· इस दूसरे भाग मे सिद्धान्त और अध्ययन दोनो हैं। इसमें सैद्धान्तिक समीक्षा भी है और व्यावहारिक समीक्षा भी। साहित्य के सम्पूर्ण अंगों के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक समीक्षा उपस्थित कर तब तत्तत अंगो की मीमांसा रखी गई है। इस प्रकार काव्य के रूप मे 'सिद्धान्त और अध्ययन' की सार्थकता सिद्ध हुई।

—'समाज' काशी।

Kavya Ke Rup—In this the author has dealt with the various literary forms such as epic, lyric, song in poetry and novel, short story, essay, biography and auto-biography in prose The book should prove useful for giving a good general idea about the various branches of litera it deals with.

—Leader